मध्यकालीन इतिहास की संस्थाएं

(प्रशासनिक, आर्थिक व सामाजिक)

संघी प्रकाशन

जयपुर उदयपुर

मूल्य : पचास रुपये

प्रकाशक : विजेन्द्रकुमार संघी
संघी प्रकाशन
लालजी सांड का रास्ता,
एस.एम.एस. हाइवे
जयपुर-302003

शाखा : 53, बापू बाजार
उदयपुर-313001

संस्करण : प्रथम, 1981

मुद्रक : जयशक्ति प्रिन्टर्स
जयपुर-302003

अपने पुत्र संजय व पत्नी सरोज
की
स्मृति में सादर समर्पित

दो शब्द

मध्यकालीन इतिहास का अध्ययन स्वयं में ही रुचिकर है। यह अध्ययन उस समय और भी अधिक रुचिकर बन जाता है जब दो विभिन्न सभ्यतायें एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आते हुये स्वाभाविक रूप से एक दूसरे को प्रभावित करने की चेष्टा करती हैं। फिर यदि ये अध्ययन देश-काल के बहुआयामी परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से किया जावे तो समकालीन समाज की प्रशासनिक, धार्मिक व सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करने में भी सहयोग देती है।

किन्तु इस ओर विद्वानों ने समुचित रूप से ध्यान नहीं दिया है। कारण कि एक ओर तो प्रशासनिक, धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं को राजनैतिक इतिहास की तुलना में गौण स्थान दिया जाता रहा है और दूसरी ओर इन संस्थाओं के अध्ययन की उपयोगिता अनुभव नहीं की गयी। पिछले कुछ समय से इन संस्थाओं के अध्ययन में विद्वानों की रुचि बढ़ती जा रही है। प्रसिद्ध इतिहासकारों द्वारा अग्रणी कार्य पहले ही किया जा चुका है। तो भी ऐसा अनुभव होता है कि इन संस्थाओं को वैज्ञानिक आधार देने के लिये बहुत कुछ करना बाकी है। विशेषकर हिन्दी माध्यम के अन्तर्गत जब इस समस्या का समाधान ढूंढ निकालने का प्रयत्न किया जाता है तो अनुभव होता है कि हिन्दी में इस प्रयोजन के लिये अपेक्षित उपयुक्त पुस्तकों की कमी है। इन्हीं कठिनाइयों को अनुभव करते हुये हिन्दी में मध्यकालीन संस्थाओं को लिपिबद्ध करने का यह विनम्र प्रयास किया गया है।

ये संस्थाएँ मोटे रूप से मध्य एशियाई, तुर्की तथा ईरानी परम्पराओं और परिपाटियों पर आधारित थीं परन्तु भारतीय वातावरण में रहते हुये यह सम्भव नहीं था कि ये यहाँ की परम्पराओं से अछूती रह जावें। इस कारण सल्तनतकाल में जो समन्वय की प्रक्रिया आरम्भ हुई वह उस युग की अस्थिरता से आगे न बढ़ सकी। मुगलकाल में शासकों की उदार नीति ने इसे गति प्रदान की और इसीलिये सल्तनत-काल में जो विकास का ऐतिहासिक क्रम आरम्भ हुआ था वह मुगलों के समय में पूर्ण यौवनावस्था प्राप्त कर सका। अकबर के शासन के अन्त तक जो विकसित रूप सामने आया वह भारतीय और इस्लामी मान्यताओं के बीच एक समझौता था। उसके उत्तराधिकारियों के समय में यद्यपि इसमें आवश्यक सुधार किये गये परन्तु मूल ढांचा अकबरकालीन ही बना रहा। इसी आधार पर राजसत्ता का स्वरूप; मनसबदारी प्रथा;

सैनिक व्यवस्था, अमीर वर्ग, केन्द्रीय व प्रान्तीय शासन, भू राजस्व, व्यापार, उद्योग, कर सिद्धान्त तथा बैंकिंग व मुद्रा, स्त्रियों की स्थिति, मुस्लिम व हिन्दू वर्ग तथा समाज के विभिन्न वर्गों की दशा का चित्रण किया गया है।

प्रस्तुत रचना मध्यकालीन इतिहास के विशेषज्ञों हेतु न होकर उन लोगों के लिये है जिनकी इतिहास में सामान्य रुचि है और जो मध्यकालीन संस्थाओं को समझने के इच्छुक हैं। यही कारण है कि पाद-टिप्पणी सन्दर्भ का पूरा उपयोग न कर केवल महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ ही दी गई हैं। इस कमी को पूरा करने के लिये अन्त में ग्रन्थ-सूची दी गई है जो मध्यकालीन इतिहास के किसी पक्ष विशेष का अध्ययन करने में उत्सुक व्यक्ति के लिये सहायक हो सके। इस आधार पर यह शोध तथा एम.ए (इतिहास) के विद्यार्थियों के लिये उपयोगी पुस्तक सिद्ध होगी।

लेखक किसी मौलिक खोज का दावा नहीं करता अपितु उसने समकालीन इतिहासकारों की कृतियों और विद्वान लेखकों की पुस्तकों का भरपूर उपयोग किया है और उनके विचारों तथा मान्यताओं को यथास्थान देने की कोशिश की है। लेखक इन सभी विद्वानों और लेखकों के प्रति आभारी है।

पुस्तक की रचना में मुझे मेरी स्वर्गीय पत्नी, सरोज सक्सेना से अत्यधिक प्रेरणा मिली जो दुर्भाग्यवश इस कृति के प्रकाशन को न देख सकीं।

लेखक सघी प्रकाशन, जयपुर के प्रबन्धक श्री वी के सघी के प्रति आभार प्रकट करता है जिन्होंने इस कठिन समय में पुस्तक को अत्यधिक तत्परता से प्रकाशित किया। विषय से सम्बद्ध सामग्री का अध्ययन करने के बाद भी इसमें कमियां रहना स्वाभाविक है, आशा है विद्वान पाठक इसके प्रति मुझे सचेत करेंगे। इस पुस्तक से यदि मध्यकालीन इतिहास की संस्थाओं को हिन्दी भाषा में समझने में कुछ सहायता मिल सके तो लेखक अपने को कृतार्थ समझेगा।

अनुक्रम

1
मध्यकाल में राजसत्ता का स्वरूप

इस्लाम सामाजिक और राजनैतिक समानता की नींव पर आधारित है और इसीलिए राजसत्ता पर किसी वर्ग-विशेष अथवा परिवार का एकाधिकार स्वीकार नहीं करता। स्वयं हजरत मुहम्मद ने केवल योग्य को ही मुस्लिम वर्ग पर शासन के लिये चुने जाने की ओर संकेत किया था, परन्तु निर्वाचन के लिये समस्त मुस्लिम वर्ग का एकत्रीकरण करना कोई सहज कार्य नहीं था और न ही ऐसे साधन उपलब्ध थे जिनके द्वारा इस आदेश का पालन किया जा सकता। सुनिश्चित व्यवस्था के अभाव में तथा राज्य के बढ़ते हुये उत्तरदायित्व को निभाने के लिये निर्वाचकों की संख्या क्रमशः कम होती चली गई, यहाँ तक कि यह केन्द्र के अग्रणी मुस्लिम सदस्यों तक सीमित हो गई। निर्वाचकों की संख्या यहाँ तक कम होती गई कि धीरे-धीरे शासक अपने उत्तराधिकारी का नाम घोषित करने लगा। निर्वाचन पद्धति की अन्तेष्टि के लिये यह अंतिम क्रिया थी। तत्पश्चात् राजसत्ता का वंशानुगत आधार पर निश्चित हो जाना स्वाभाविक था और प्रत्येक शासक-वंश-परम्परा में भी अपने पुत्र को ही अधिक वरीयता देना रुचिकर समझता था। परन्तु इससे यह अभिप्राय निकालना कि निर्वाचन-प्रणाली को पूरी तरह से त्याग दिया गया था, उचित न होगा, क्योंकि इसके बाद सैद्धान्तिक आधार पर राजसत्ता सम्पूर्ण मुस्लिम वर्ग में निहित थी जिससे कि वे समय पड़ने पर अयोग्य व अवांछनीय उत्तराधिकारी से स्वयं को मुक्त कर सकें। डा. आर पी त्रिपाठी[1] की मान्यता है कि व्यवहार में यह निर्वाचन अथवा वंशानुगत प्रणाली के लाभों से वंचित थी अपितु सम्भवतः इसमें दोनों प्रणालियों की हानियाँ मौजूद थीं।

सल्तनत काल के अध्ययन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि एक ऐसा शासक जिसको उलमा और सामन्त वर्ग, प्रमुखतः मुस्लिम सामन्त वर्ग का सहयोग

---

1 डा० आर० पी० त्रिपाठी—सम आस्पेक्टस ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन—पृष्ठ 3

प्राप्त न हो उसके लिये राजसत्ता को बनाये रखना अथवा राज्य कार्य को चलाना अत्यधिक दूभर था।

मुस्लिम राजसत्ता खलीफा को इस्लामी समाज और कानून को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिये अवश्यम्भावी अंग मानती है और इसी आधार पर मुस्लिम समाज का धार्मिक नेता ही उनका राजनैतिक नेता भी माना गया है। एक धर्मपरायण राज्य की स्थापना इस्लाम के प्रचार और प्रसार के लिये यह आवश्यक भी थी। इसीलिये इस्लाम अपने राजनैतिक जीवन में प्रारम्भिक काल में धर्म के इर्द गिर्द मंडराता रहा और खलीफा इस्लामी समाज और राजनीति का शताब्दियों तक नेतृत्व करता रहा। वास्तविकता यह है कि एक शक्तिशाली कार्यपालिका की समस्त शक्ति खलीफा में निहित थी। परन्तु जैसे-जैसे इस्लाम की सीमायें अरब के रेगिस्तानी प्रदेश से निकल कर चारों ओर फैलने लगी वैसे ही खलीफा का पद केवल शोभनीय रह गया, क्योंकि न तो यह सम्भव था कि खलिफा इस्लाम की बढ़ती हुई राजनैतिक मांगों का एक स्थान में संचार कर सके और न ही कभी इस्लाम ने इसकी कल्पना भी की थी कि उसकी राजनैतिक आकांक्षाएँ एक ऐसे प्रदेश में फैलेंगी जहां के निवासी इस्लाम से अलग ही अपना जीवन व्यतीत कर रहे हों। खलीफा को इन प्रदेशों में अब केवल अपने प्रतिनिधियों को नियुक्त कर ही सन्तुष्ट होना पड़ा और राज्य के दिन प्रतिदिन के शासन के लिए अधिकाधिक स्वतन्त्रता देने के लिए बाध्य होना पड़ा। खलीफा अब ऐसे मुस्लिम शासकों को मान्यता देकर ही सन्तुष्ट रहने लगा। ऐसी स्थिति में स्थानीय शासक केवल नाम मात्र के लिये ही खलीफा के अधीन थे। वे यद्यपि स्वयं को खलीफा का प्रतिनिधि मानते थे परन्तु वास्तविक रूप में न तो शासन चलाने में वे खलीफा के आदेश ही प्राप्त करते थे और यदि प्राप्त हो भी जावें तो भी उन्हें लागू करने की परवाह न करते थे। भारत में तुर्कों के राज्य की स्थापना के बाद यही स्थिति थी।

सल्तनत युग में शासक स्वयं को शक्तिशाली बनाने के लिये जिससे कि मुस्लिम वर्ग उनको अपना निर्विरोध शासक मान ले खलीफा से स्वीकृति प्राप्त कर लेते थे। यह एक साधारण सा रिवाज बन गया था क्योंकि इसमें उन्हें लाभ की अपेक्षा हानि नाम मात्र की नहीं थी। इसकी प्राप्ति के बाद भी शासक पूरी तरह से स्वतन्त्र था और अपने तथा राज्य के हितों को ध्यान में रखकर ही नीति निर्धारित करता था। यदि ऐसा न होता तो 1258 में हलाकू द्वारा खलीफा का अन्त कर देने के बाद भी उसके प्रतिनिधियों को भारत में यथोचित सम्मान न मिलता। इससे यह स्पष्ट है कि तुर्क शासक खलीफा के स्वीकृति पत्र को केवल एक दिखावा ही मानते थे और वस्तुतः अपनी स्थिति को ध्यान में रखते हुये वे खलीफा के विरोधियों को भी अपने पक्ष में करने में किंचित मात्र भी न हिचकते थे।

मुहम्मद बिन कासिम जो भारत की भूमि पर आक्रमण करने वाला प्रथम व्यक्ति था, किसी आधार पर भी भारत का सम्राट नहीं गिना जा सकता। कारण कि उसने भारत के बहुत ही छोटे भाग सिन्ध और मुल्तान पर ही अधिकार किया था। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा राजसत्ता के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करना अथवा राजसत्ता को स्थापित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। सर वूल्जे हेग के अनुसार "भारत के इतिहास में यह एक साधारण घटना थी और उसने इस विशाल प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्र के एक छोटे प्रदेश मात्र को प्रभावित किया।" इसी प्रकार से लेनपूल ने भी लिखा है कि "यह इस्लाम के इतिहास की गौण तथा महत्वहीन घटना थी।"[1] महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी के समय राजसत्ता का स्वरूप निश्चित करना सम्भव नहीं था, क्योंकि महमूद गजनवी राज्य-स्थापना की अपेक्षा धन प्राप्ति को अधिक प्रमुख उद्देश्य मानता था और मुहम्मद गौरी यद्यपि राज्य स्थापना की कल्पना अवश्य करता था परन्तु वह मध्य एशिया की राजनीति का शिकार होकर रह गया और उसकी अचानक मृत्यु ने उसके कार्य को अधूरा ही छोड़ दिया।

मुहम्मद गौरी ने कुतुबद्दीन ऐबक को भारत में अपने प्रतिनिधि के रूप में छोड़ा था। डा आर पी त्रिपाठी के अनुसार कुतुबुद्दीन को इस्लामी भारत का प्रभुसत्ता सम्पन्न शासक मान लेना ठीक नहीं है।[2] मुस्लिम शासकों की परम्परा के अनुसार न तो उसके खुतबे के कोई प्रमाण मिल पाये हैं और न ही उस द्वारा राज्याभिषेक पर जारी किये गये सिक्कों का ही विवरण मिल पाया है। इब्न बतूता भी उसे दिल्ली का प्रथम शासक नहीं मानता था। इसके अतिरिक्त फीरोजशाह तुगलक के द्वारा जो सूची अपने कुतबे के लिये तैयार करवाई थी उस में भी कुतुबुद्दीन का नाम नहीं था।[3] इसके बाद भी यह प्रमाणित करना कि भारत में स्थित समस्त मुस्लिम अधिकारियों ने, जो मुहम्मद गौरी के द्वारा छोड़ गये थे, उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया हो नितान्त सन्देहास्पद है क्योंकि बयाना का शासक बहाउद्दीन ही उसको अपना स्वामी स्वीकार करने को तत्पर न था। परन्तु इसके बाद भी उसकी समस्त प्राप्तियों को महत्वहीन मान लेना भूल होगी क्योंकि उसने गजनी की सर्वोच्चता जो लगभग दो शताब्दियों से चली आ रही थी उसे समाप्त कर भारत में स्वतन्त्र रूप से मुस्लिम शक्ति के विकास की आधारशिला रखी और इस प्रकार से भारत में एक स्वतन्त्र सल्तनत की स्थापना में योगदान दिया।

---

1 लेनपूल—मडीवल इन्डिया, पृष्ठ 24
2 डा आर पी त्रिपाठी—वही, पृष्ठ 23
3 आकीफ, पृष्ठ 106-107

डा आर पी त्रिपाठी के शब्दो मे "भारत मे मुस्लिम सप्रभुता का इतिहास इल्तुतमिश से प्रारम्भ होता है।" एबक ने जिस काम को अधूरा छोड दिया था, इल्तुतमिश ने उसे पूरा किया।[1] डा क ए निजामी ने लिखा है कि "ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की रूपरेखा के बारे में सिर्फ दिमागी आकृति तैयार की थी, इल्तुतमिश ने उसे एक व्यक्तित्व, एक पद, एक प्रेरणा-शक्ति, एक दिशा, एक शासन व्यवस्था और एक शासक वर्ग प्रदान किया।" उसे न तो ऐबक की भाँति गौरी का समर्थन ही प्राप्त था और न ही उसकी भाँति उसे तुर्की सरदारो का समर्थन ही प्राप्त था अपितु उसे इसमे अपने प्रतिद्वन्द्वी आरामशाह से युद्ध कर अपनी श्रेष्ठता को साबित करना पडा। दिल्ली के अभिजात् वग व अधिकारियों ने उसे गद्दी के लिए आमन्त्रित किया और उस समय की परिस्थितियो मे जबकि दिल्ली का राज्य स्वय एक नवजात शिशु के रूप मे था एक ऐसा ही व्यक्ति जो कुशल सेनानी, विजेता तथा राज्य को सुगठित करने का सामर्थ्य रखता हो, की आवश्यकता थी। इल्तुतमिश को अपने कार्यों से इस विश्वास की पूर्ति करनी थी।

इल्तुतमिश राजसत्ता को किसी दूसरे के साथ बाटने को तैयार नही था। इसीलिए बगाल के शासक गियासुद्दीन खिलजी की बगदाद के खलीफा से स्वीकृति पत्र प्राप्त कर लिया था और 'शाहआलमीशाह" की उपाधि से स्वय को विभूषित कर रखा था इल्तुतमिश के लिए एक बडा रोडा था। इल्तुतमिश जो कि राजसत्ता के बटवारे मे विश्वास न रखता था उसे गियासुद्दीन के विरुद्ध अभियान करना पडा और उसे पराजित कर बाध्य किया कि वो उसे 'सुल्तान ए आजम" स्वीकार करे। यल्दुज के प्रति भी उसकी नीति इसी बात का प्रमाण है।

यल्दुज के प्रति इल्तुतमिश ने कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया। जब वह सिंहासन पर बैठा तो यल्दुज ने उसे अपने अधीन मानते हुए छत्र, दण्ड आदि राज चिन्ह भेजे जिनको इल्तुतमिश ने शान्ति म स्वीकार कर लिया। परन्तु जब यल्दुज ने प्राकृतिक सीमाओ का दावा प्रस्तुत किया तो उसके पास केवल युद्ध करने के अतिरिक्त कोई चारा नही था। तराइन के युद्ध मे उसे पराजित कर इल्तुतमिश ने राजसत्ता के एक प्रमुख दावेदार को समाप्त कर दिया और साथ ही दिल्ली का गजनी से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया।

इल्तुतमिश ने अपनी राजसत्ता को दृढ़ता प्रदान करने के लिए, मुस्लिम वर्ग की सहानुभूति प्राप्त करने, तथा शरा की औपचारिकता को पूरा करने के लिए बगदाद के खलीफा के स्वीकृति-पत्र प्राप्त किया। डा त्रिपाठी के अनुसार उसने इसके लिए स्वय प्रार्थना की थी अथवा खलीफा मगोलों के बढ़ते हुये जोखिम के विरुद्ध

1 डा आर पी त्रिपाठी—वही, पृष्ठ 24

एक शक्तिशाली मुस्लिम शासक की सहायता का इच्छुक था स्पष्ट नहीं है।[1] खलीफा द्वारा इल्तुतमिश को सुल्तान स्वीकार किये जाने से उसका पद कानूनी बन गया और दिल्ली सल्तनत भी कानूनी रूप से एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। इसी स्वीकृति के साथ इल्तुतमिश को यह लाभ भी हुआ कि अब वह सुल्तान के पद को वंशानुगत बना सकता था।

इल्तुतमिश ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया और वास्तव में वह भारत में प्रथम मुस्लिम शासक था। उसकी राजशक्ति तीन बातों पर आधारित थी—वह अधिकारी वर्ग द्वारा निर्वाचित किया गया था, वह विजय करने का अधिकारी था तथा आज्ञाकारिता को लागू करने का सामर्थ्य रखता था, बगदाद के खलीफा के द्वारा भी उसे स्वीकृति प्राप्त हो गयी थी। डा० त्रिपाठी ने इस मत की पुष्टि प्रो० हबीबुल्ला ने करते हुये लिखा है कि "इल्तुतमिश ने ऐबक की खोखली नींव पर आधारित राजसत्ता के अपूर्ण काम को अपने हाथों में लेकर पूर्ण रूप दे यह प्रमाणित कर दिया कि उसमें रचनात्मक कूटनीतिज्ञता के गुण थे।"

इल्तुतमिश ने अपने जीवन-काल में अपने उत्तराधिकारी के रूप में अपनी लड़की रजिया का नाम घोषित कर दिया था। यद्यपि इस कार्य में उसे महमूद गजनवी से प्रेरणा अवश्य मिली थी, परन्तु वह महमूद से एक कदम आगे निकल गया जबकि उसने अपने समस्त पुत्रों की तुलना में अपनी पुत्री को चुना। राज्य के वरिष्ठ अधिकारियों को जो कि इस प्रकार के सर्वथा नये प्रयोग के विरोधी थे यह कहकर सन्तुष्ट कर दिया कि उसके पुत्र शासन प्राप्ति के लिए पूर्ण अयोग्य और निकम्मे हैं तथा उसकी पुत्री ही उसके वंशजों में इस पद के लिये योग्यतम है। शासन की योग्यता न केवल इल्तुतमिश अपितु तुर्क सरदारों के लिये भी निर्णयात्मक शर्त थी।

उसकी मृत्यु पर तुर्कों ने रजिया को राज्य पद से वंचित रखा क्योंकि वे अभी तक एक स्त्री के द्वारा शासित होने के विचार को पाच्य नहीं कर सके थे। इसके अतिरिक्त यह विचार मुस्लिम सिद्धान्त वेत्ताओं के विचारों के विरुद्ध था तथा गजनवी और गोरी वंश में इसका कोई उदाहरण न था। सामन्तों ने इल्तुतमिश की घोषणा की परवाह न की, परन्तु समय आने पर सैयदों तथा सैनिकों ने प्रधान-मन्त्री मुहम्मद जुनैदी और उसके नाजिक समर्थकों के विरोध में रजिया को राजसत्ता सौंप दी। मुस्लिम राजसत्ता के इतिहास में यह एक सर्वथा नया प्रयोग था।

यद्यपि रजिया का राज्यकाल अल्प था तथापि उसकी महत्ता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। यह कम से कम 13वीं शताब्दी के तुर्कों की दूरदर्शिता तथा उनके

1 डा० आर० पी० त्रिपाठी—वही, पृष्ठ 26।

स्वस्थ्य मस्तिष्क का सूचक है कि उन्होंने समय आने पर इस प्रकार के एक अनूठे प्रयोग को करने का साहस किया।

गुलाम वंश के इतिहास का महत्व इस बात में भी है कि इस काल के सामन्त वर्ग ने इल्तुतमिश के वंशजों को ही राजसत्ता की स्वीकृति प्रदान की। वंशानुगत राज्य का इस्लामी कानून में कोई अधिक महत्व नहीं है क्योंकि स्वयं तुर्क भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते थे, परन्तु भारत के मुस्लिम राजसत्ता के क्षेत्र में यह एक अनूठा उदाहरण था। इल्तुतमिश की मृत्यु के तीस वर्ष बाद भी व्यक्ति यह विश्वास करते रहे कि दिल्ली के सिंहासन पर केवल उसी के वंश का अधिकार है, इसीलिये जब सीदी मौला के समर्थकों ने जुलालुद्दीन खलजी को सिंहासन से हटाने का षडयन्त्र किया तो अमीरों का समर्थन प्राप्त करने के लिये उन्होंने सीदी मौला का विवाह इल्तुतमिश के वंश और मृतक सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद की एक पुत्री से करने का विचार किया। राजसत्ता के क्षेत्र में यह एक महत्वपूर्ण योगदान था।

1240 ई० में रजिया के वध के बाद बहरामशाह को गद्दी पर बैठाना तुर्की सरदारों की विजय का प्रतीक था। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद शक्ति के लिये जो संघर्ष सुल्तान व उसके तुर्की सरदारों के बीच हुआ उसमें तुर्की सरदारों की विजय हुई। तुर्की सरदारों ने रजिया के व्यवहार से यह निश्चित किया कि भविष्य में वे सुल्तान को शासन का कोई अधिकार न देंगे। समस्त अधिकार 'नाइब" अथवा "नाइब-ए-मामलिकात" के अधीन रहगे और इस पद के लिये एतगीन को चुना गया। सुल्तान ने अपनी राजसत्ता, प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में तुर्की सरदारों से समझौता करना अपने लिये अपमान-जनक समझा और परिणामस्वरूप तुर्की सरदारों और उसके बीच राजसत्ता के प्रश्न को लेकर जो संघर्ष चला उसमें अन्त में सुल्तान का वध कर दिया गया। तुर्की सरदार अपनी शक्ति के विस्तार में एक कदम और आगे बढ़ गये। अब यह स्पष्ट होने लगा कि राज्य की वास्तविक शक्ति तुर्की सरदारों के हाथों में निहित होगी और सुल्तान केवल नाम मात्र का शासक बन कर रहेगा। परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो गया कि तुर्की सरदारों में इस समय कोई भी इतना योग्य सरदार न था जिसको समस्त सरदार सुल्तान मानने को तैयार हो।

जब मलिक इज्जुद्दीन कशलू खाँ ने राजसत्ता अपने हाथों में लेने का प्रयत्न किया, उसी समय अमीरों ने अलाउद्दीन मसूदशाह को राजपद देने का निश्चय किया। उस भी इस शर्त पर शासन सौंपा गया था कि राज्य की शक्ति का प्रयोग वह अपने नाइब द्वारा करेगा। राजसत्ता अब पूर्ण तरह से अमीरों के हाथों में जा चुकी थी। इसीलिये अमीर इस समय के लिए प्रसन्न थे क्योंकि नये शासक नासिरुद्दीन महमूद ने पूर्ववत राजाओं के भाग्य को देख कर राजनीति में हस्तक्षेप करना पूरी तरह से छोड़ दिया था और सम्पूर्ण शक्ति बलबन के हाथों में थी।

नासिरुद्दीन की निस्सतान मृत्यु पर उसके ससुर बलबन ने सम्पूर्ण सत्ता पर अधिकार कर लिया। एक अनुभवी सैनिक व कुशल प्रशासनिक होने के नाते उसने प्रधानमन्त्री-काल में पायी शक्ति तथा प्रभाव को इस प्रकार से गठित किया था कि इस समय राजसत्ता को हथियाने म उसे कोई कठिनाई अनुभव न हुई। उसने यह अनुभव किया था कि बगैर सफल नेतृत्व के तुर्की अमीरो को सगठित रखना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त सरदारो की बढती शक्ति पर सफलता से अकुश लगाने के लिये आवश्यक था कि राजसत्ता का स्वामी एक ऐसा व्यक्ति हो जिसको सम्पूर्ण प्रशासन व वैधिक अधिकार प्राप्त हों।

बलबन के लिये यह कार्य सरल नही था क्योकि एक ओर तो सुल्तान की प्रतिष्ठा लुप्त प्राय थी और दूसरी ओर तुर्की अमीरो की शक्ति काफी बढ गयी थी। बलबन के लिये आवश्यक था कि वह अमीरो की बढी हुई शक्ति पर अकुश लगाये और उनमे राजसत्ता के प्रति सम्मान और भय की भावना जाग्रत करे अन्यथा यह सम्भव था कि अमीर दूसरे शासको की तरह उसे भी पगु कर केवल नाम मात्र के शासक रूप मे उससे व्यवहार करें। इसीलिये प्रो० हबीबुल्ला ने लिखा है कि "इल्तुतमिश ने सस्था (दिल्ली सल्तनत अर्थात् सुल्तान का पद)की रूपरेखा का केवल निर्माण ही किया था। उसको पुनर्जीवित करने और उसे उसकी स्थिति की पूर्णता तक पहुँचाने का कार्य बलबन के लिये छोड दिया गया था।"

बलबन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने सुल्तान के पद और अधिकार के बारे मे और अप्रत्यक्ष रूप से राजसत्ता के बारे मे विचार प्रकट किये। प्रो के ए निजामी के शब्दो मे "यह सुल्तान के सम्मान म वृद्धि करने तथा अन्य अमीरो से बचने के लिये आवश्यक था परन्तु इसका एक कारण उसकी हीनता की भावना भी थी जिसके कारण वह अपने विचारो को निरन्तर व्यक्त करके अपने अमीरो को यह विश्वास दिलाना चाहता था कि वह किसी हत्यारे के छुरे अथवा जहर के प्याले के कारण सुल्तान नही बना है अपितु ईश्वर की इच्छा के कारण ही यह पद प्राप्त कर पाया है।"

बलबन के राजसत्ता के सिद्धान्त की दो प्रमुख विशेषतायें थीं। प्रथम वह सुल्तान के पद को ईश्वर द्वारा प्रदान किया हुआ मानता था तथा दूसरे सुल्तान का निरकुश होना वह आवश्यक समझता था। उसके अनुसार "सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है और पैगम्बर के बाद वही उसका प्रतिनिधित्व करता है। सुल्तान को कार्य करने की प्रेरणा ईश्वर-दत्त है इसलिये जन-साधारण को उसके कार्यों की आलोचना का कोई अधिकार नहीं है।" एक बार अपने पुत्र बुगरा खा को सम्बोधित करते हुए उसने कहा था कि "सुल्तान का पद निरकुशता का जीवित प्रतीक है।"

राजसत्ता सम्बन्धी अपने इन विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिये उसने अनेक सक्रिय कदम उठाये। उसने स्वयं को अफ्रीसियाब का वंशज बताया। अपने इस मिथ्या अथवा सत्य की पुष्टि उसने केवल उन लोगों को जो सम्मानित वंशों से सबंधित थे अपना संरक्षण प्रदान कर पूर्ति की। राज्य के समस्त महत्वपूर्ण पद केवल उन लोगों को दिये जो सम्मानित वंशों से सम्बन्धित थे। उसने एक बार राज्य के तीस अधिकारियों को केवल इसलिये पदच्युत कर दिया कि वे साधारण अथवा दीन-हीन वर्ग में जन्मे थे। उसने साधारण व्यक्ति तो क्या छोटे अमीरों और सरदारों से मिलना बन्द कर दिया। दिल्ली के धनाढ्य व्यापारी फखर बावनी ने सुल्तान से एक बार मिलने के लिये अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति देने का वचन दिया परन्तु फिर भी बलवन ने उसे मिलने की अनुमति न दी। बलवन यह मानता था कि प्रत्येक आदमी से मिलने से उसका सम्मान समाप्त हो सकता है।

सुल्तान की प्रतिष्ठा के अनुरूप उसने अपने व्यवहार को भी गम्भीर और एकाकी बना लिया। वह अधिकतर एकान्त में रहने लगा तथा शराब पीना बन्द कर दिया। उसने न कभी के सामने अस्वाभाविक हर्ष ही प्रकट किया और न ही कभी अपने दुःख की छाया मुंह पर छा जाने दी। यहां तक कि जब उसके उत्तराधिकारी और प्रिय पुत्र महमूद की मृत्यु का समाचार उसे दरबार में मिला तो भी वह बगैर तनिक विचलित हुये राज्य-कार्य में उसी प्रकार व्यस्त रहा जैसे कोई घटना ही न घटी हो, यद्यपि उसकी सम्पूर्ण आशायें शहजादे महमूद पर ही निर्भर थी। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह इस शहजादे के लिये फूट फूट कर रोया परन्तु अपने राजनैतिक जीवन को उससे बिल्कुल अछूता रक्खा। दरबार में हंसना और मुस्कराना एक अक्षम्य भूल समझी जाने लगी और केवल प्रधानमन्त्री निजामुल-मुल्क के अतिरिक्त दूसरे अमीर का साहस न था कि वो सुल्तान को सम्बोधित कर सके।

दरबार के लिये उसने ईरानी परम्पराओं को लागू किया और अमीरों के लिये "सिजदा" और "पैबोस" की अभिवादन की रीति को आरम्भ किया जिसमें कि अमीर लोग भी उसके आगे सिर को नीचा रखकर खड़े रहें। बड़े-बड़े सरदारों को छोड़कर सबको दरबार में खड़े रहने के आदेश दिये और ईरानी त्योहार नौरोज को सज-धज के साथ मनाने की आज्ञा निकाली। ऊँचे और भयानक व्यक्तियों को अपना अंगरक्षक नियुक्त किया जो उसके सिंहासन के दोनों ओर चमचमाती नंगी तलवार लिये खड़े रहते थे। बाहर जाते समय यही अंगरक्षक नंगी तलवार लिये हुये उसके साथ चलते थे। अपने व्यक्तिगत व्यवहार और दरबार की शान-शौकत तथा सत्ता के प्रदर्शन से बलवन ने निश्चित ही सुल्तान की प्रतिष्ठा में बढ़ोतरी की और जन-साधारण उसकी चमक-दमक से स्तम्भित रह गया। बरनी ने लिखा है कि "दरबार की सज-धज को देखने के लिये लोग चार-चार सौ मील की यात्रा करके आते थे।[1]"

1. बरनी—तारीख-ए-फीरोजशाही पृष्ठ 46,

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि बलबन की राजसत्ता ताज की प्रतिष्ठा, शक्ति और न्याय पर आधारित थी। उसका उद्देश्य समस्त सैनिक व प्रशासनिक अधिकारियों पर छा जाना था। वह इल्तुतमिश की तरह केवल अमीरों का नेता बन कर सन्तुष्ट नहीं था अपितु वह ताज को एक शानदार संस्था बनाकर उसे एक सुस्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान करना चाहता था जो अमीरों से शक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा अपने प्रबल अन्तर्निष्ठ स्त्रोत से शक्ति प्राप्त करे।[1] परन्तु इसके बाद भी वह बुद्धिहीन कार्य करने के लिए तत्पर न था और अपने सलाहकारों का न केवल समुचित आदर करता था, अपितु उनकी सलाह के अनुरूप कार्य भी करता था।

बलबन की समस्त आशायें उसके पुत्र मुहम्मद पर आधारित थी और यदि वह युद्ध में न मारा जाता तो सम्भवत बलबन द्वारा राजसत्ता को प्रतिष्ठित और सम्मानित बनाने का कार्य और तेजी से पूर्ण हो जाता। उसकी मृत्यु बलबन के लिये एक आघात थी। वह यद्यपि अपने दूसरे पुत्र बुगरा खां के प्रति अधिक हीन विचार रखता था परन्तु फिर भी उसने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्ति करने का विचार किया। पर तु बुगरा खा ने बलबन की मृत्यु से पहले ही पुन बगाल की और प्रस्थान कर दिया इसलिये बलबन ने मुहम्मद के पुत्र कैखुसरो को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर अमीरों से उसकी स्वीकृति प्राप्त कर ली।

बलबन की मृत्यु पर अमीरों ने उसके स्थान पर बुगरा खा के पुत्र कैकुबाद को सुल्तान घोषित किया। यहा पर राजसत्ता के क्षेत्र में नये सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया जबकि अमीरों ने एक ओर तो सुल्तान द्वारा घोषित उत्तराधिकारी को ठुकराया परन्तु फिर भी यह वर्ग सुल्तान के वश के प्रति आभारी रहा। दूसरे पिता के जीते जी पुत्र को राजसत्ता देना एक सर्वथा नया प्रयोग था। बुगरा खा इसको सहर्ष स्वीकार करने के लिये तत्पर न था और उसने अपने आपको बगाल का स्वतन्त्र शासक घोषित कर युद्ध करनेके लिये प्रस्थान किया। युद्ध तो टल गया और यद्यपि उसने दिल्ली के सुल्तान की आधीनता को भी स्वीकार कर लिया परन्तु उसने साथ ही यह भविष्यवाणी भी की कि बलबन का वश शीघ्र हो समाप्त हो जावेगा।

इस प्रकार से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इल्बारी तुर्कों ने वशानुगत उत्तराधिकारी के साथ-साथ निर्वाचन प्रणाली को भी बनाये रखने का प्रयत्न किया परन्तु राजनैतिक अस्थिरता तथा सीमित राजनीतिक अनुभव के कारण वे निश्चित नियमों को स्थापित करने में असमर्थ रहे।[2] उत्तराधिकारी चुनने के नियमों की अनुपस्थिति में यह कार्य और भी अधिक दुष्कर बनकर रह गया।

---

1 डा० आर० पी० त्रिपाठी—वही पृष्ठ 37.

2 डा० आर० पी० त्रिपाठी—वही पृष्ठ 38-40.

इल्बारी तुर्क प्राय यह मानते थे कि राजसत्ता के केवल मात्र वे ही अधिकारी हैं इसलिये स्वाभाविक रूप में वे लोग जो तुर्क नस्ल से सम्बन्धित नहीं थे व इसका विरोध करने को तत्पर हो गये। अतः खलजी विद्रोह ने इस वंश का अंत करके एक नये वंश की नींव डाली और राजसत्ता के क्षेत्र में इस विचारधारा का सदैव के लिये अंत कर दिया।

जलालुद्दीन ने सिंहासन पर अधिकार न तो वंशानुगत आधार पर, न ही चुनाव द्वारा और न ही षडयन्त्र द्वारा किया अपितु सैनिक शक्ति के आधार पर किया था। खलजी अपनी सैनिक प्राप्तियों के आधार पर इसके इच्छुक भी थे और स्वाभाविक रूप से इल्बारी कुलीनतंत्र जो कि उनके मार्ग में बाधक थी उसके प्रति ईर्ष्यालु भी थे। कैकुबाद की बीमारी ने उन्हें अपनी इच्छा पूर्ति के लिये एक अवसर दिया और इसका लाभ उठाकर उन्होंने उसके तीन वर्षीय पुत्र कैकाऊस को जलालुद्दीन खलजी के संरक्षण में सुल्तान घोषित कर दिया। डा० आर० पी० त्रिपाठी का मत है कि यद्यपि इस व्यवस्था के पक्ष में कुछ लाभ अवश्य थे परन्तु पूरी तरह से न तो इस व्यवस्था को सम्भव अथवा दूरदर्शितापूर्ण कहा जा सकता है।[1]

यद्यपि इस व्यवस्था के आधार पर बलबन के वंश के प्रति सम्मान अवश्य प्रदर्शित किया गया था परन्तु एक तीन वर्ष के बालक को गद्दी पर बैठाकर तुर्कों ने कोई विवेकपूर्ण कार्य नहीं किया था। तुर्कों के लिये यह एक पूर्ण तया नई स्थिति थी जिसका उन्हें सामना करना था। तुर्कों के सम्पूर्ण इतिहास में पहली बार उन्हें इस अनिश्चित व आकस्मिक परिस्थिति का सामना करना पड़ा था। राजकीय वंश के शासनाधिकार को कठोरतम परीक्षण की कसौटी पर आंका जाना था और तुर्क एक बालक के नाम पर भी इल्बारी वंश के शासन के अधिकार को बनाये रखना चाहते थे परन्तु खलजियों से उनकी कमजोरी व घबराहट किसी प्रकार से छिपी नहीं थी। ऐसी परिस्थिति में जलालुद्दीन का संकोच और बलबन के वंश के प्रति सम्मान ने संकट को तीन महीने के लिये टाल दिया। इस काल में जलालुद्दीन ने कैकाऊस के नाम पर राजसत्ता अपने पास रक्खी और कैकाऊस की हत्या के बाद वह पूर्णरूपेण शासक बन बैठा। 13 जून 1290 ई० को कैकुबाद द्वारा बनवाये गये अपूर्ण किलोखरी (कीलगढ़ी) के महल में उसने अपना राज्याभिषेक किया।

खलजी विद्रोह ने पहली बार यह स्पष्ट किया कि दिल्ली के मुस्लिम वर्ग में जनमत भी अपना स्थान रखता है क्योंकि यद्यपि जलालुद्दीन एक सफल सेनानायक

---

1 डा० आर० पी० त्रिपाठी—वही पृष्ठ 43

था और उसे शक्तिशाली सेना की सहायता व सहानुभूति भी प्राप्त थी परन्तु फिर भी वह बारह महीने तक राजधानी में प्रवेश करने का साहस न कर सका और उसने किलोखरी में ही दरबार लगाना प्रारम्भ कर दिया।

जलालुद्दीन ने न तो सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा के अनुकूल व्यवहार ही किया और न ही उसके अनुकूल उसकी महत्वाकांक्षायें ही रही। वृद्धावस्था के कारण वह अब युद्ध-प्रिय न था तथा अधिक उदार और सहिष्णु हो गया था। कुछ समय पश्चात् जब वह बलबन के लाल किले में गया तो बाहर ही फाटक पर घोड़े से उतर गया और सिंहासन पर बैठने से मना कर दिया। बरनी के अनुसार "वह उस सिंहासन पर कैसे बैठ सकता है जिसके सामने वह भय और सम्मान से घण्टों खड़ा रहा करता था।" डा. आर पी त्रिपाठी के मत में उसका चरित्र तथा जन-साधारण का प्रतिकूल व्यवहार इसके लिये उत्तरदायी था और किसी आधार पर इसको पूर्णतया नाटकीय कहना उचित न होगा। तुर्की सरदार खलजियों को गैर-तुर्क मानते थे और इसलिये वे इनसे घृणा करते थे। उन्हें शासक स्वीकार करने में वे स्वयं को असम्मानित अनुभव करते थे। ऐसी परिस्थिति में जलालुद्दीन की उदारता और सहिष्णुता को गलत समझा गया।

जलालुद्दीन ने यद्यपि इल्बारी वंश का अन्त कर दिया था परन्तु वह तुर्की अमीरों की शक्ति समझता था इसलिये उसने उनको बड़े-बड़े पद देकर सतुष्ट करने की नीति अपनाई। जलालुद्दीन की इस नीति को उसके साथी उसकी शक्तिहीनता मानने लगे और इसलिये उन्होंने अली" (अलाउद्दीन) को समर्थन देने का निश्चय किया जो अपने चाचा का वध कर स्वयं राज्याधिकारी बन बैठा।

डा त्रिपाठी के अनुसार जलालुद्दीन के वध के साथ ही सैनिकवाद व हिनैयी-शासक के सिद्धान्तों के बीच जो संघर्ष चला आ रहा था वह समाप्त हो गया।[2] अलाउद्दीन ने इल्तुतमिश व बलबन के राजसत्ता के सिद्धान्त को पुनः लागू किया और सैनिक शक्ति के आधार पर राजसत्ता को स्थापित करने का प्रयास किया। यद्यपि उसके और बलबन के राजसत्ता-सिद्धान्त में कोई मौलिक विभिन्नता नहीं थी परन्तु न तो वो बलबन के दैवी सिद्धान्त में विश्वास करता था और न ही राजनीति को धर्म के अधीन ही स्वीकार करता था। वास्तव में वह पहला शासक था जिसने यह घोषणा की कि राज्य, धर्म से नेतृत्व प्राप्त न कर स्वयं अपने स्वार्थों की रक्षा करें। अलाउद्दीन ने शासन में न तो इस्लाम के सिद्धान्तों की दुहाई दी, न ही उलेमाओं से सलाह ली और न ही खलीफा के नाम का सहारा लिया। केवल नाम मात्र

1 डा० आर० पी० त्रिपाठी—वही पृष्ठ 46.

2 वही पृष्ठ 48

को ही अंततोगत्वा यह सल्तनत की सत्ता को देता रहा। इसलिए डा. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "इस तरह अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने धर्म पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया और ऐसे तत्वों को जन्म दिया जिनसे कम से कम सिद्धान्त में तो राज्य धर्मनिरपेक्षिक आधार पर खड़ा हो सकता था।"

अलाउद्दीनने अपनी राजसत्ता को सुरक्षित रखने हेतु अमीरों की शक्ति समाप्त कर उनको कठोर अनुशासन में बांध दिया और केवल वही जो उसकी राजसत्ता के प्रति स्वामिभक्त थे उनको ही उच्च पद प्रदान किये। अलाउद्दीन के इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह रही कि यह केवल राजा के व्यक्तित्व पर आधारित था और कमजोर शासक के समय में राज्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता था।

अलाउद्दीन की मृत्यु पर उसके विश्वसनीय दास मलिक काफूर ने राजसत्ता पर अपना अधिकार जमा लिया। केवल 36 दिन में ही मलिक काफूर का वध कर दिया गया और अमीरों ने मुबारक शाह को राजा बनाया। सुल्तान द्वारा उत्तराधिकारी घोषित करने के नियम का उल्लंघन किया गया। परन्तु इसके बाद भी मुबारक शाह का चार साल का शासनकाल राजसत्ता के विकास में एक महत्वपूर्ण काल था।

मुबारक शाह पहला सुल्तान था जिसने पूरी तरह से खलीफा के अधिकार ग्रहण किए और इस प्रकार किसी भी बाहरी शक्ति की अधीनता को मानने से इन्कार कर दिया। उसने स्वयं को ईमाम भी घोषित किया और अब दिल्ली सल्तनत पूर्णसत्ता की अधिकारिणी हो गई।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि खलजियों की राजसत्ता धर्म की अपेक्षा अथवा कुरान पर आधारित न होकर सैनिक शक्ति पर आधारित थी। उनका धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण इस्लामी दुनिया से भिन्न था और इसी आधार पर राजसत्ता के विकास में एक महत्वपूर्ण कदम था।

खलजियों ने राजसत्ता के विकास में दो महत्वपूर्ण योगदान दिए — प्रथम कि राजसत्ता किसी विशिष्ट-वर्ग का एकाधिकार न होकर उसका शक्ति के अधिकार में है यदि वह शक्ति और योग्यता से उसे प्राप्त करे। द्वितीय राजसत्ता ऊपर किसी धार्मिक अनुशासन के भी अधीन नहीं रह सकती है तथा सुल्तान का दृष्टिकोण अपने पूर्वजों के दृष्टिकोण से भिन्न किया है।

खुसरव शाह की मृत्यु के बाद गाजी मलिक (गियासुद्दीन) तुगलक राजसत्ता का अधिकारी बना। अपनी सत्ता की प्रतिष्ठापना के बाद भी अर्थव्यवस्था की ओर

भी यह मान्यता थी कि राज्य का अधिकार केवल वंशानुगत है और इसलिए खलजी वंश का कोई जीवित उत्तराधिकारी तुगलक वंश की अपेक्षा अधिक मान्य था। गाजी मलिक का इस जनमत से अप्रभावित रहना सम्भव नही था इसलिए उसने यह कोशिश की कि खलजी वंश का कोई व्यक्ति राजसत्ता का स्वामी हो परन्तु खुसरो खां ने मुबारक शाह के सभी पुत्रों को मरवा दिया था अत स्वाभाविक रूप से प्रभुसत्ता गाजी मलिक के हाथों सौंपी गई।

गाजी मलिक ने राजसत्ता धर्म के नाम पर ली थी और इसलिए उसके लिए सम्भव नहीं था कि वो मुस्लिम राजतन्त्र के धार्मिक पक्ष को त्याग दे। गियासुद्दीन ने अपने दरबार को अत्यधिक संयमी बनाने का प्रयास किया, अमीरों और राज्य के अधिकारियों के साथ सामाजिक समन्वय स्थापित किया और सल्तनत की मर्यादा को बनाये रखने का प्रयत्न किया और अलाउद्दीन खलजी के समान सैनिक शासन को स्थापित करने का प्रयास किया। यदि गियासुद्दीन के बाद फिरोज तुगलक गद्दी का अधिकारी बन गया होता तो सम्भवत. खलजियों के द्वारा धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना का जो प्रयोग किया गया था वह मूलत नष्ट हो जाता। डा त्रिपाठी के इस मत म अधिक सत्यता दिखाई देती है।

मुहम्मद तुगलक बलबन की तरह विश्वास करता था कि सुल्तान ईश्वर की छाया है। कुतुबुद्दीन मुबारक खिलजी के आधार पर ही उसने सिक्कों पर यह अंकित करवाया कि "अल सुल्तान जिल्ली अल्लाह" अर्थात सुल्तान ईश्वर की छाया है। उसके अनुसार राजसत्ता सभी का अधिकार नहीं होती अपितु विशेष निर्वाचित व्यक्ति को ही प्राप्त होती है और इसलिए सुल्तान की आज्ञा का पालन करना ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है। उसने राजसत्ता के इस सिद्धान्त को पुनर्जीवित कर इसको बनाये रखने के लिए अनेकों प्रयत्न किये परन्तु वह असफल रहा। डा त्रिपाठी के अनुसार इस असफलता के लिए तीन कारण उत्तरदायी थे।[1] प्रथमत अमीर इस बात के लिए तैयार नहीं थे कि सुल्तान निरकुंश शक्ति का उपयोग करे। वे उसकी तानाशाही प्रवृत्ती के विरुद्ध थे और ये नहीं चाहते थे कि वो उनकी सामान्य बातों में हस्तक्षेप करे। दूसरे उसे दिल्ली के धार्मिक वर्ग का नैतिक सहयोग भी प्राप्त न था अपितु उन पर उसके विरोधी होने की आशंका थी। तीसरे सबसे बड़ी कठिनाई उसका स्वयं का चरित्र था जो किसी भी प्रकार के विरोध को सहन नहीं कर सकता था तथा समझौता करने के लिए तत्पर न था। उसने ‸रना स कहा था "मैं आज्ञा की लेशमात्र भी अवज्ञा होने पर मृत्यु दण्ड देता हूँ और मैं तब तर्क

---

1 डा० आर० पी० त्रिपाठी—वही पृष्ठ 60

इसी प्रकार कठोर दण्ड देता रहूंगा जब तक या तो मैं स्वयं नष्ट नहीं हो जाता अथवा प्रजा ठीक नहीं हो जाती तथा विद्रोह और आज्ञा की अवहेलना करना नहीं छोड़ देती।"

मुहम्मद तुगलक ने अपनी सत्ता को स्थापित करने हेतु अनेक प्रयत्न किये। उसने बुद्धि व तर्क को ही अपनी नीति का आधार बनाया यद्यपि वह इस्लाम धर्म के कानूनों की उपेक्षा करने का इच्छुक नहीं था। समय-समय पर उसने विद्वानों से सलाह भी ली परन्तु कार्य वह अपनी इच्छानुसार ही करता था। राज्य के कानूनों से कोई भी मुक्त न था चाहे वह उलेमा अथवा साधारण वर्ग से सम्बन्धित हो। इसी कारण मुसलमान धार्मिक वर्ग उसका विरोधी हो गया।

अमीर वर्ग के महत्व को समाप्त करने के लिए उसने साधारण वर्गों में से योग्यता के आधार पर लोगों को पद देना आरम्भ किये और भारतीय मुसलमानों और हिन्दुओं को भी सम्मानित पद प्रदान किये। दिल्ली के सुल्तानों में वह पहला सुल्तान था जिसने इस नीति को अपनाया और इसीलिए तत्कालीन इतिहासकार बरनी ने उसकी निन्दा की है। परन्तु मुहम्मद तुगलक सहिष्णु होते हुए भी अपनी प्रजा की सहानुभूति प्राप्त न कर सका और सम्भवतः इसके लिये उसकी कठोर नीति अधिक उत्तरदायी थी। इसी कारण परेशान होकर और यह मानकर कि सम्भवतः उसकी कठिनाइयों का कारण खलीफा द्वारा उसके पद की अस्वीकृति है उसने 1340 ई० में खलीफा से अपने पद की स्वीकृति प्राप्त कर ली। परन्तु इसके बाद भी उसकी कठिनाइयों का कोई अन्त न था।

सिन्ध में अचानक उसकी मृत्यु हो जाने के कारण राजसत्ता के बारे में पुनः समस्यायें खड़ी हो गयीं। अमीर वर्ग ने फीरोज तुगलक को राजसत्ता देने का निश्चय किया। दूसरी ओर ख्वाजा-ए-जहान ने मुहम्मद तुगलक के अल्पायु पुत्र को गद्दी पर बैठाना चाहा। तीसरी ओर मृत सुल्तान की बहन ने अपने पुत्र को राजसत्ता दिलाने की कोशिश की। अतः अमीर वर्ग ने सुल्तान की बहन की इच्छाओं को सिन्ध में ही समाप्त कर दिया। जब फीरोज दिल्ली की ओर आ रहा था तो ख्वाजा-ए-जहान ने उससे अपनी गल्ती की क्षमा मांगी और इस प्रकार फीरोज राजसत्ता का अधिकारी बना।

फीरोज का शासक बनना महत्वपूर्ण होने के साथ ही साथ रुचिकर भी है। उसके पक्ष में किया गया निर्णय इस बात का सबूत था कि शासक के निर्वाचन का नियम जो प्रायः लुप्त होता जा रहा था वह पुनः जीवित हो उठा है और साथ ही वंशज-उत्तराधिकारी के नियम को भी नहीं ठुकराया गया है। इसने यह भी पुन

स्थापित कर दिया कि राजसत्ता केवल शक्तिवान का ही देनी चाहिये। मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद दिल्ली सल्तनत पर पुनः काले बादल छा जाने की जो सम्भावना पैदा हो गयी थी, उसमें फीरोज ही केवल ऐसा व्यक्ति था जो दिल्ली सल्तनत को इस कठिनाई से बचा सकने में समर्थ था।

जिन परिस्थितियों में फीरोज का निर्वाचन किया गया तथा धार्मिक वर्ग से सहयोग प्राप्त किया गया था उसमें वह अपने आप को सल्तनत का न्यासी मानता था। उसने इसी आधार पर अपनी राजसत्ता के लिए खलीफा की स्वीकृति प्राप्त करना उचित समझा। उसने खुतबे में अपने नाम के साथ ही अपने से पूर्व सभी सुल्तानों के नाम पढवाए।[1] इस आधार पर न केवल उसे मुस्लिम वर्ग में अधिक सम्मानित दृष्टि से देखा जाने लगा अपितु साथ ही साथ उसे अपनी कमजोरियों को छिपाने का एक बहाना भी मिल गया।

फीरोज के राजसत्ता प्राप्त करने से यह स्पष्ट हो गया कि सुलतान के लिये एक महान सेनानी होना आवश्यक नहीं है। कैकुबाद के बाद दिल्ली सल्तनत प्रायः महान सैनिकों के हाथ में ही रही थी। फीरोज किसी आधार पर भी एक अच्छा सैनिक नहीं था परन्तु इसके बाद भी वह सरल-स्वभाव का तथा परोपकारी शासक था और इसीलिए दीर्घकाल तक शान्तिमय ढंग से राज्य करता रहा। सम्भवतः मुस्लिम जनमत का सहयोग सुन्नी वर्ग के प्रति उसकी सहिष्णुता की नीति और साधारण वर्ग की सम्पन्नता ने इसमें योगदान दिया। दुर्भाग्यवश यही गुण जो उसकी राजसत्ता को स्थापित करने और उसको बनाये रखने के लिए उत्तरदायी थे वही सल्तनत काल के पतन लिए भी उत्तरदायी भी सिद्ध हुए।

फिरोज ने 1359 ई में फतह खां को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया परन्तु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी। फीरोज ने फिर अपने पुत्र जफर खाँ का नाम घोषित किया परन्तु वह भी शीघ्र ही मर गया। तत्पश्चात् स्वाभाविक रूप से उसे अपने तीसरे लडके का उत्तराधिकारी नियुक्त करना चाहिये था परन्तु फीरोज ने फतह खां के पुत्र तुगलक शाह को उत्तराधिकारी नामांकित किया और इसीलिए फीरोज के पुत्र मुहम्मद खां ने षडयन्त्र रचा। परिणामस्वरूप वजीर का वध कर दिया गया और फीरोज ने राज्य पद छोड दिया। मुहम्मद खां ने यद्यपि राजसत्ता पर अपना एकाधिकार कर लिया था परन्तु फिर भी वह असीमित शक्ति वाले मन्त्री से अधिक न था। सिक्कों पर फीरोज का नाम अब भी अंकित किया जाता था और खुतबे में भी उसी का नाम पढा जाता था।

---

1 दुर्भाग्यवश उसमें कुतुबुद्दीन ऐबक का नाम नहीं था।

फीरोज के उत्तराधिकारी न केवल अयोग्य थे अपितु शक्तिहीन भी थे इसी लिए अधिक समय तक राजसत्ता को बनाये रखना सम्भव न था। उनकी इस कमजोरी मे हिन्दुओ के विद्रोह तथा कोष के रिक्त होने से तुगलक वश के पतन का अधिक निकट ला दिया।

सिकन्दरशाह की मृत्यु के बाद सामन्त वर्ग सुल्तान का निर्वाचन करने मे लगभग पन्द्रह दिन असफल रहा। अन्त में मुहम्मद शाह के पुत्र महमूद को गद्दी पर बैठाया गया। वह इस समय केवल दस वर्ष का था। दस वर्ष के बालक को गद्दी पर बैठाने के कार्य को पहली बार पूर्ण स्वीकृति मिली। सुल्तान महमूद की मृत्यु के बाद राजसत्ता तुगलक वश के हाथो से निकल गई।

तुगलक वश के बाद राजसत्ता सैयद वश के हाथो में आई किन्तु खिज्र खाँ ने कभी भी सुल्तान की पदवी धारण न की। डा आर. पी त्रिपाठी का मत है कि "वास्तव मे सैयदो को प्रभुसत्ता सम्पन्न शासक नही माना जा सकता।" वे तो मुगलो द्वारा शासक बनाये गये थे। अन्तिम शासक अलाउद्दीन आलम शाह प्रशासकीय बुद्धि से विहीन और कमजोर था इस कारण राजसत्ता बहलोल लोदी ने अपने अधिकार मे कर लोदी वश की स्थापना।

अफगानो का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त तुर्कों से बिलकुल भिन्न था। तुर्की सुल्तान निरकुश शासक थे और उनके उनके सरदार अधीन कर्मचारियो अथवा सलाहकार से अधिक नही थे। वो इस बात म विश्वास नहीं करते थे कि कोई उनकी बराबरी का दावा करे अथवा प्रभुसत्ता में साभेदार हो। उन्होने प्रभुसत्ता मे देवत्व के अश का दावा किया था परन्तु अफगान सरदार सुल्तान को अपने मे से ही एक बडा सरदार मानते थे और सुल्तान में देवत्व के अश को मानने के लिए तैयार नहीं थे। वे शासन में स्वय को भागीदार मानते थे और इसी आधार पर सुल्तान के साथ समानता का दावा करते थे। उनका यह अनुमान था कि यदि उन्होने अपने मे से किसी एक को सुल्तान स्वीकार कर लिया तो उनकी स्थिति साधारण सेवको जैसी रह जावेगी और उन्हे अपने ही परिवार के सदस्य के सम्मुख जमीपोश करने पर बाध्य होना पडेगा। इस आधार पर अफगानो का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त सरदारो की समानता पर आधारित था और ऐसी स्थिति मे उनकी शासन-व्यवस्था राजतन्त्रीय न होकर कुलीनतन्त्रीय थी।

अफगानो की इन जातीय विशेषताओ के आधार पर वे सुल्तान को अपनी शक्ति पर निर्भर रखना चाहते थे जिससे कि वे बडी-बडी जागीरो का उपभोग कर सकें और शासक को प्राप्त सुविधाओ के अनुसार ही स्वय भी उन सुविधाओ का उपभोग कर सकें।

बहलोल अफगानो का प्रथम शासक था और उसकी शक्ति अफगान सरदारो के सहयोग पर निर्भर थी, इसी कारण उसने अफगानो के स्वतन्त्रता और समानता

के सिद्धान्तों के साथ समझौता करना उचित समझा। वह अपने अमीरों को "मसनद-ए-आली" कहकर पुकारता था और उनके साथ एक ही कालीन पर बैठता था। मुश्ताकी ने लिखा है कि यदि कोई अमीर बीमार अथवा उससे नाराज हो जाता तो वह स्वयं उसके घर जाता, अपनी पगड़ी उतार कर उसके सामने रख देता तथा उससे क्षमा याचना करता था। उसका खाना प्रतिदिन किसी न किसी अमीर के घर से ही आता था, और घोड़े पर सवार होते समय उसे कोई न कोई अमीर अपना घोड़ा देता था। फरिश्ता ने लिखा है कि वह इससे ही सन्तुष्ट था कि उसका नाम राज्य के साथ जुड़ा हुआ है। बहलोल ने अमीरों के साथ सुल्तान जैसे व्यवहार की अपेक्षा समानता का व्यवहार किया तथा हर प्रकार से उन्हें सम्मानित किया। वह सुल्तान की उपाधि और अफगानों का नेता होने से ही सन्तुष्ट था। उसके समय का अफगान साम्राज्य शासक के नेतृत्व में विभिन्न जातियों का केवल एक संघ मात्र था।

बहलोल के सम्बन्ध में इन विचारों को प्रो. इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी ने स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार यह ठीक है कि बहलोल का अपने अमीरों के प्रति व्यवहार उदारता और शिष्टता से पूर्ण था परन्तु इसका कारण अफगानों का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त न होकर उस समय की परिस्थितियाँ थीं। बहलोल के लिए अपनी शक्ति की स्थापना में अफगानों का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था और उसने इस तथ्य को समझ कर अफगानों को अपनी ओर मिलाने के लिए ही इस प्रकार की नीति अपनाई अन्यथा वह स्वयं एक निरंकुश शासक था। बहलोल ने समस्त अफगानों को अपनी ओर मिलाने के लिए ही इस प्रकार का व्यवहार किया क्योंकि इन अफगानों को मिलाने के अतिरिक्त उसके पास कोई दूसरा मार्ग भी नहीं था। बहलोल के समय की घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब कभी उसे अवसर मिला उसने समस्त विरोधियों को कुचलने का प्रयत्न किया चाहे वे अफगान हों अथवा दूसरी जाति के जैसा कि सियालकोट, लाहौर और दीपालपुर के अमीरों के उदाहरण से स्पष्ट होता है। इसीलिए यदि उसने यह नीति अपनाई तो यह केवल उसकी कूटनीतिज्ञता और दूरदर्शिता थी जिससे उसने अफगानों को एक शक्ति के रूप में संगठित कर लोदी वंश की स्थापना के लिए उपयोग किया।

प्रो० सिद्दीकी का मत सर्वसम्मत प्रतीत होता है। उसने अफगानों की स्वतन्त्रता और समानता का आदर करने के बाद भी उनकी शक्ति पर अंकुश लगाये रक्खा। इसका यह प्रमाण है कि उसकी मृत्यु के बाद उसके अमीरों ने उसी के पुत्रों में से एक को सुल्तान चुनने का निश्चय किया और अपने में से किसी को भी सुल्तान बनाने का विचार तक नहीं किया।

सिकन्दर लोदी अफगानों की परम्पराओं में परिवर्तन करना चाहता था और अफगानों को अधिक नियन्त्रण में रख प्रभुसत्ता को पुनः सम्मानित स्थान दिलाने का

इच्छुक था। उसकी नीति सुल्तान के विशेषाधिकारों पर बल देने की थी और इसके लिए अनुशासन और कठोरता आवश्यक तत्व थे। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अकारण ही सरदारों व अमीरों को असम्मानित करना चाहता था। इस आधार पर उसने सिंहासन पर बैठना शुरू किया, सरदारों को सुल्तान के प्रति सम्मान दिखाने के लिये बाध्य किया, दरबार की नई साज सज्जा की तथा छोटे और बड़े के भेद भाव को समाप्त किया। अमीरों को सुल्तान की आज्ञा प्राप्त करने के लिए प्रान्तीय राजधानियों से छः मील दूर आकर उनको प्राप्त करने का आदेश दिया व सभी का अपने आदेशों को पालन करवाने के लिए नियम बनाये तथा व अमीर जो उसकी आज्ञाओं की अवहेलना करते उन्हें कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की। मुश्ताकी ने लिखा है "जिस किसी ने भी उसकी आज्ञाओं का विरोध किया उसने उसका सिर कटवा दिया अथवा साम्राज्य से बाहर निकाल दिया।" जिन 22 सरदारों ने उसके स्थान पर उसके छोटे भाई फतह खां को गद्दी पर बैठाने का षडयन्त्र रचा था उसने उन सब को मरवा डाला। परन्तु इस प्रकार के कठोर दण्ड देते समय न तो वह अन्यायी था और न ही अन्धाधुन्ध काम करता था। उसने उस समय तक किसी को दण्डित नहीं किया जब तक कि अपराधी का अपराध सिद्ध न हो गया हो। उसने बड़े अफगान अमीरों का सम्मान किया और केवल ऐसी स्थिति में ही जब कि वे उसके विरोधी हो गये हों उन्हें हटाकर उनकी जगह अपने प्रति वफादार अफगानों को नियुक्त किया। इस प्रकार उसने अफगान अमीरों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति पर अंकुश लगाकर सुल्तान की प्रतिष्ठा को बढ़ाया। प्रो० सिद्दीकी ने लिखा है कि "सिकन्दर लोदी पहला अफगान सुल्तान था जिसने एक सम्पूर्ण प्रभु व सम्पन्न बादशाह की भांति व्यवहार किया और अपने सरदारों से पूर्ण आज्ञापालन और अविचलित वफादारी की मांग की।"

परन्तु इब्राहीम लोदी के सुल्तान बनते ही सुल्तान तथा अफगान अमीरों के बीच संघर्ष शुरू हो गया। इब्राहीम लोदी अफगान अमीरों पर और अधिक अंकुश लगाने में विश्वास करता था। अफगान अमीर यद्यपि पहले की तुलना में अधिक अनुशासित हो गये थे परन्तु उनमें स्वतन्त्रता और समानता की भावनायें पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाई थी। इब्राहीम लोदी के समय में ऐसे अफगान अमीर थे जिनके पास बड़े बड़े इक्ता अथवा जागीरें थीं और उन्हीं के अनुरूप वे सेनायें रखते थे। इब्राहीम लोदी के लिए आवश्यक था कि वो इन अमीरों के प्रति बुद्धिमत्ता पूर्ण नीति अपना कर स्वयं की स्थिति को दृढ़ करे परन्तु अपने ... और शंकालु प्रवृत्ति के कारण वह शीघ्र ही अफगान सरदारों के साथ संघर्ष में फंस गया। जलाल खां को जौनपुर का शासक मानने से उसने अपनी भूलें आरम्भ की और इसी संघर्ष में अमीर सुल्तान के प्रति अधिक शंकालु हो गये। सुल्तान का अमीरों से अत्यधिक कठोर व्यवहार भाइयों के प्रति क्रूरता, आजम हुमायूं, फतह खां व मियां भुआ को जेल में डालने

से अमीर लोग और अधिक शंकालु हो गये तथा इब्राहीम का विरोध करने लगे। उसने पुराने अफगान अमीरों को हटाकर उनके स्थान पर नये सरदारों को प्रतिष्ठित करने की नीति अपनाई जो कि अफगानों के लिए असहनीय थी। इस्लाम खाँ ने विद्रोह किया और यद्यपि इस संघर्ष में इब्राहीम को सफलता अवश्य मिली परन्तु विजय की कीमत के रूप में श्रेष्ठ 10 000 अफगान सैनिकों का मारा जाना एक बड़ी हानि थी। इब्राहीम इसके बाद और अधिक उदण्ड हो गया और सन्देहास्पद परिस्थितियों में आजम हुमायू और मियां भुआ की हत्या ने अफगान अमीरों को और अधिक उसका विरोधी बना दिया। चारों ओर अफगान अमीर उसके विरोधी बन गये और उसकी सहायता करने के बजाय बाबर को उसके विरुद्ध सहायता देने को तत्पर हो गये। ऐसी स्थिति में परिणाम निश्चित था और सुल्तान इब्राहीम बाबर के विरुद्ध पानीपत के प्रथम युद्ध में मारा गया।

सुल्तान इब्राहीम के समय जो राजसत्ता के लिए संघर्ष चला उसमें स्पष्ट है कि इस संघर्ष में सिद्धान्त कम और व्यक्तिगत आकांक्षायें, भय एवं हठ अधिक मात्रा में था। इब्राहीम लोदी ने अपनी अव्यवहारिकता तथा अकुशलता से उन अमीरों को भी जो सिकन्दर लोदी के समय सुल्तान की आज्ञा पालन करने के लिए तत्पर थे विद्रोही बना दिया। सुल्तान इब्राहीम भी तुर्कों की तरह एक निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना करना चाहता था परन्तु अफगान सरदार समय की इस मांग को समझने में असमर्थ रहे जिसके कारण न केवल लोदी वंश का अन्त हो गया परन्तु उसके साथ ही अफगान साम्राज्य की जड़ों को खोखला कर दिया और एक नये राजवंश की स्थापना सम्भव हो सकी।

बाबर जिसने मुगल वंश की स्थापना की, राजसत्ता को केवल राजा का अधिकार ही मानता था। वह किसी अन्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इस आधार पर वह सिकन्दर और इब्राहीम लोदी की परम्पराओं के अधिक निकट था। बाबर ने सुल्तान की अपेक्षा "पातशाह" की उपाधि धारण की।

बाबर "पातशाह' को केवल सम्राट ही नहीं अपितु सर्व शक्तियों का स्वामी मानता था। वह राजसत्ता को वंशानुकूल देने के पक्ष में था जो मुगल जाति का चारित्रिक गुण था। जब वह भारत आया तो उसने यहां की भूमि को अपनी सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया। वह कहा करता था "यहाँ पर मेरे पूर्वज आये थे अतः इस भूमि पर अधिकार करना मेरा कर्तव्य है।" मुगल जाति के गुण के आधार पर वह राजसत्ता को बाटने के लिए तैयार नहीं था और न ही उसमें किसी प्रकार की हिस्सेदारी को स्वीकार करता था। तैमूर के वंशज होने के नाते वह इसमें विश्वास करता था कि "क्योंकि ईश्वर एक है, उसका कोई हिस्सेदार नहीं, इसलिए सम्राट भी उसकी भूमि पर एक ही होना चाहिए।' बाबर ने अपने जीवन-

काल में प्रभुसत्ता के इस आदर्श को बनाये रखा परन्तु उसके मरने के बाद हुमायूं को प्रभुसत्ता से हाथ धोने पड़े। उसने मरने से पहले हुमायूं को कहा था कि "यदि आप राज्य का छः भाग रक्खेंगे तो कामरान पाँच भाग रखेगा।" बाबर की यह अन्तिम इच्छा हुमायूं के लिए घातक सिद्ध हुई।

अकबर अपने पिता की कठिनाइयों से परिचित था और उन्हें पुनः दोहराना नहीं चाहता था। स्वयं उदार होने के साथ व सहिष्णु तथा कुशल राजनीतिज्ञ भी था और अनुभव करता था कि बगैर हिन्दुओं की सहानुभूति जीते वह राजसत्ता को स्थायित्व प्रदान न कर सकेगा, इसलिए उसने जैन बौद्ध, हिन्दू, ईसाई, पारसी आदि जातियों के साथ सदव्यवहार कर उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। उसने राजपूतों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये और दीन ए इलाही स्थापित कर भारत की समस्त जातियों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। अपने काल में वह इस कार्य में सफल भी हुआ।

जहांगीर ने राजसत्ता पूरी तरह से नूरजहां के हाथों में सौंप दी थी परन्तु इसके बाद भी उसे राजसत्ता से पूरी तरह मुक्त नहीं माना जा सकता। नूरजहां के कारण ही शाहजहां ने विद्रोह किया और राजसत्ता को हानि पहुँची।

शाहजहां और औरंगजेब के समय में राजसत्ता धर्म के चारों और चक्कर काटने लगी। प्रभुसत्ता को प्राप्त करने के लिए औरंगजेब ने धर्म को आधार बनाया और राजसत्ता केवल उसकी ही सहचरी रह गयी जो शक्तिशाली हो।

इस आधार पर हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि यद्यपि मुगल-कालीन राजसत्ता वंश परम्परागत थी परन्तु इसके साथ ही अन्य दूसरे तत्वों को भी स्थान मिल चुका था। शक्तिशाली होना आवश्यक शर्त थी। केवल अकबर और कुछ अंशों में जहांगीर को छोड़कर अधिकतर मुगल शासक हिन्दू विरोधी थे और यही कारण उनके पतन के लिए अधिकतर उत्तरदायी था।

2
मनसबदारी प्रथा

मनसब अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ किसी स्थान अथवा पद से है। अतः मनसब शब्द से स्थान और पद का अर्थ निकलता है। मनसबदार शाही सेवा के अन्तर्गत उच्च पद प्राप्त अधिकारी होते थे। इरविन के अनुसार, मनसब उस पद को कहा जाता है जिससे सम्राट के द्वारा किसी व्यक्ति को सम्मान दिया जाता था और दरबार में उसके बैठने के स्थान का पता चलता था। मनसब से ही उसके वेतन की भी जानकारी होती थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सरकारी अधिकारियों की दर्जाबन्दी करने व उनके वेतन को निश्चित करने के लिए मनसब प्रथा एक सरल माध्यम था। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति सौ रुपये वेतन पाता है तो मुगल राज्य में इस व्यक्ति को दस का मनसबदार मान लिया जाता था। रुपयों में उसके वेतन को न बता कर मनसबदारी की श्रेणी से उसके वेतन को निश्चित किया जाता था। इतिहासकार बदायूनी को निश्चित वेतन मिलता था और इस वेतन के आधार पर वह बीस का मनसबदार समझा जाता था। आवश्यक नहीं था कि मनसबदार का सम्मान केवल सैनिक पदाधिकारियों को ही दिया जावे अपितु मुगल शासन में चाहे वह सेना, सामन्त अथवा नागरिक शासन से सम्बन्धित हो मनसब प्राप्त थे। मुगल शासन में सैनिक व प्रशासनिक अधिकारियों में कोई अन्तर न होने के कारण प्रत्येक शाही अधिकारी मनसबदार था।

मनसबदारी प्रथा को समझने के लिए आवश्यक है कि इसका ऐतिहासिक संदर्भ में अध्ययन किया जावे। मुगल संस्थाएँ मुख्य रूप से मध्य एशिया के मंगोलों के रीति रिवाज तथा प्रचलन पर आधारित थीं, इसलिए चंगेज खां और अमीर तैमूर के समय में प्रचलित संस्थाओं का अध्ययन आवश्यक है।

मोरलैण्ड ने लिखा है कि बाबर ने उत्तरी भारत में सबसे पहले तीमूर की पद्धति को लागू किया था परन्तु अब्दुल अजीज[1] इस कथन को स्वीकार करने में असमर्थ हैं क्योंकि मनसबदारी प्रथा शेरशाह के समय तक काफी पुरानी हो चुकी थी तथा बाबर द्वारा इसको प्रारम्भ करने से इसका समुचित रूप से इतनी जल्दी विकास होना सम्भव नही था। इसके अतिरिक्त घोडो को दागने की प्रथा अलाउद्दीन खलजी के समय मे प्रचलित थी। बाबर को इतना समय नही मिला कि वह सैनिक व्यवस्था मे किसी प्रकार का सुधार करे और न ही उसकी आत्मकथा अथवा तुजक मे इसका कोई विवरण ही मिल पाता है। इसलिए हम यह नही कह सकते कि बाबर ने इस सबसे पहले उत्तरी भारत मे लागू किया। अब्दुल अजीज का मत है कि 1221 से 1327 ई० के बीच पश्चिमी भारत पर मगोल आक्रमणो से भारतीय इस प्रथा से परिचित हुए और शनै शनै अलाउद्दीन खलजी (1296–1316 ई) के समय तक इस मान्यता मिल गई।

सैनिक कुलीनतन्त्र जो भारतीय मनसबदारी का विशिष्ट लक्षण था वे गण चगज खाँ की सस्थाओ मे मिलते हैं। वह स्वय को साधारण वग का नायक मानने की अपेक्षा कुलीनो का नायक ही मानता था और इसीलिए उसने साधारण वग को सम्बोधित करने की अपेक्षा केवल कुलीन वग को ही सम्बोधित किया है। यद्यपि हमारे पास इस समय की सस्थाओ का कोई विश्वसनीय विवरण नही है परन्तु साधारणतया यह व्यवस्था हो रही होगी कि जब एक कबीले का सरदार अपने आदमियो सहित अपनी सेवायें प्रस्तुत करता था तो उसे सेना मे अधिकारी का पद मिल जाता था और इस आधार पर वह लूट के माल का भागीदार हो जाता था।

होवार्थ ने लिखा है कि मगोल जाति घुमक्कड लोगो से गठित की गई थी ये लोग सैनिक जीवन व्यतीत करते थे और अपने जीवन के लिए आवश्यक सामग्री व पशु एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाते थे। चगेज खा ने ऐसे लोगो को गठित करने के लिए एक नियम बनाया जिसके अन्तर्गत प्रत्येक 10 व्यक्तियो के खण्ड अथवा भाग पर एक सरदार नियुक्त होता था। इसी दशमलव पद्धति के आधार पर 10 000 आदमियो पर जिस कमाण्डर को नियुक्त किया जाता था वह मगोली भाषा मे 'तूमान' कह कर पुकारा जाता था। किसी भी व्यक्ति को दल कबीला अथवा खण्ड बदलने का अधिकार नही था और प्रत्येक का निर्विवाद रूप से आज्ञा पालन करना अनिवार्य था। सम्भवत यह आज्ञा पालन की भावना उनकी सफलताओ के लिए उत्तरदायी था। सम्भवत इसी व्यवस्था के आधार पर मुगल

1 अब्दुल अजीज—द मनसबदारी सिस्टम एण्ड द मुगल आर्मी पृ० 13

सैनिक व्यवस्था गठित की गई थी जिसने कि आगे चल कर मनसबदारी का रूप धारण कर लिया।

चंगेज खां ने भी इस व्यवस्था को अमीर तीमूर से अपनाया था। तीमूर के पास सैनिक अधिकारियों के रूप में छोटे और बड़े 313 अधिकारी थे। अमीर-उल-उमरा जो शासक का नायब था उसके आधीन 12 अमीर थे जो कि क्रमश 12 000 से लेकर 1,000 घुड़सवारों के अधिकारी थे और प्रत्येक अपने वरिष्ठ अधिकारी के आधीन था। अन्त का अधिकारी 'अमीर ए हजारा' कहलाता था जिसके आधीन 1,000 घुड़सवार होते थे जिसे 'मिनबासी' भी कहा जाता था। मिनबासी के आधीन 'युजबासी' व उसके आधीन 'यूनबासी' होता था जिनके पास क्रमश 100 व 10 घुड़सवार होते थे।

एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पदोन्नति व्यवस्थित व क्रमिक थी तथा युद्ध भूमि में दर्शाय पराक्रम पर निर्भर थी। घुड़सवारों की भी उन्नति इसी प्रकार से होती थी तथा वे जिन्होंने युद्ध भूमि में विशिष्ट पराक्रम दिखाया हो 'बहादुर' के नाम से पुकारे जाते थे। इनका वेतन भी साधारण घुड़सवारों की तुलना में अपेक्षाकृत तीन चार गुना होता था। यूनबासी का वेतन साधारण घुड़सवार का 10 गुना, यूजबासी का यूनबासी से दो गुना व मींगबासी का यूजबासी से तिगुना वेतन होता था। मुगलों ने इसी व्यवस्था पर मनसबदारी प्रथा की व्यवस्था की थी।

दिल्ली सल्तनत में सैनिक संगठन के विषय में बर्नी का कथन है कि 10 सैनिकों पर एक सर-ए-खेल, 10 सर-ए-खेल पर एक सिपहसालार, 10 सिपहसालार पर एक अमीर, 10 अमीर पर एक मलिक, 10 मलिकों पर एक खान, और 10 खानों पर सुल्तान होता था। बर्नी का यह वर्णन सैद्धान्तिक है। 11वीं शताब्दी में भारत में प्राय विदेशी यात्री अलबरूनी ने इसके आगे यह बताया है कि एक खान के आधीन 10 हजार, मलिक के आधीन 1000 व अमीर के आधीन 100 सैनिक रहते थे। अब्दुल अज़ीज़ ने इस वर्णन को स्वीकार किया है और उनका कहना है कि दिल्ली सल्तनत में एक खान के आधीन 10,000 से अधिक सैनिक नहीं होते थे परन्तु बर्नी बलबन के समय का वर्णन करते हुए लिखता है कि बदायूं के मुक्ति मलिक बकबक जिसे 10 000 घुड़सवार रखने थे वह केवल 4 हजार सवार ही रखता था। सिकन्दर लोदी और इब्राहीम लोदी के समय 10,000 व 12 000 घुड़सवारों के अधिकारी थे—जैसे जमाल खाँ को जौनपुर की जागीर के बदले में 12,000 घुड़सवारों को रखने की आज्ञा दी गई थी। इससे यह परिणाम निकलता है कि साधारणतया एक अधिकारी के पास 10 000 सैनिक ही रहते थे परन्तु विशेष परिस्थितियों में सुल्तान के द्वारा अधिक सैनिकों को रखने की आज्ञा प्रदान कर दी जाती थी। इसी आधार पर मुगल काल में मनसबदारी की व्यवस्था की गई।

वास्तविक रूप में भारत में मनसबदारी का व्यवस्थित विकास बाबर के समय से प्रारम्भ हुआ। दुर्भाग्यवश बाबर व हुमायूं के समय की समुचित जानकारी हम प्राप्त नहीं है। हुमायूं के समय के अमीरों और अधिकारियों की केवल एक श्रेणीकृत सूची ही मिल पाई है जिससे केवल यह जानना सम्भव है कि उसके समय में सरकारी अधिकारियों की श्रेष्ठता किस प्रकार निश्चित की गई थी। इसलिए सेना की समुचित व्यवस्था को पुनर्नियोजित करने का भार शेरशाह को ही वहन करना पड़ा।

उसने जागीर प्रथा के आधार पर सैनिक व्यवस्था को पुन आयोजित किया तथा दाग लगाने की प्रथा को प्रभावी ढंग से लागू किया। व्यक्तिगत रूप में उसने घोड़ों का निरीक्षण किया और माफी की जमीनों पर राज्य का अधिकार स्थापित कर उसने नई जागीरों का पुन वितरण किया और पुन दागने के समय प्रत्येक व्यक्ति के घोड़ों को देखा। शेरशाह द्वारा स्थापित व्यवस्था के आधार पर हम यह परिणाम निकालते हैं कि उसके समय में प्रत्येक अधिकारी राज्य द्वारा निश्चित घुड़सवारों की संख्या रखता था। प्रत्येक मनसबदार के पास पैदल सैनिक तथा घुड़सवार होते थे मनसबदार की जागीर का कुछ भाग सैनिकों को निर्धारित किया जाता था, जिस पर मनसबदार का कोई कानूनी अधिकार न था तथा प्रत्येक सैनिक को इस जागीर की आय में से मासिक वेतन दिया जाता था।

शेरशाह का शासन काल अत्यधिक अल्प था इसलिए दाग लगाने की प्रथा का पुन लोप हो गया और समस्त व्यवस्था केवल अंश मात्र में ही रह गई। बदायूनी ने लिखा है कि अमीर अथवा मनसबदार धन जुटाने अथवा आराम से जीवन बिताने व फिजूल खर्च करने में लग थे अपेक्षाकृत इसके कि वे अपने सैनिकों को सुसज्जित रखते अथवा किसानों की स्थिति को सुधारने का प्रयास करते।

अकबर को इस स्थिति का सामना करना पड़ा और उस समय की परिस्थितियों में यह सम्भव नहीं था कि सम्पूर्ण व्यवस्था को समाप्त कर एक बारगी नयी व्यवस्था लागू कर दी जावे अन्यथा समस्या के समाधान होने की अपेक्षा उसके जटिल होने की अधिक सम्भावना थी। इसलिए अकबर धीरे धीरे इस बार में अग्रसर हुआ। सबसे पहले उसने मनसब की एकात्मक व्यवस्था को समाप्त कर उसे द्वयात्मक बनाया। इसके अन्तर्गत मनसबों को यथास्थिति में बनाए रखकर मनसबदारों को हाथी घोड़े बोझा ढोने वाले पशुओं को रखने का दायित्व भी सौंपा जिसके लिए उन्हें अतिरिक्त निश्चित वेतन मिलता था। इसको उसने जात पद की संज्ञा दी। इस श्रेणी के लोगों के पास किसी प्रकार के घुड़सवार नहीं थे परन्तु ऐसे मनसबदारों की संख्या नगण्य थी। अधिकतर प्रत्येक मनसबदार के पास जात पद के अतिरिक्त सवार पद भी होता था जिसका अर्थ था कि उसे सम्राट की सेवा के लिए कुछ घुड़सवारों

को रखना आवश्यक था। सवार पद कभी भी जात पद से अधिक नहीं होता था और ऐसे बहुत ही कम उदाहरण हैं जबकि दोनो पदो की संख्या बराबर हो। अधिकतर सवार पद को संख्या जात पद से कम ही होती थी। अकबर ने मनसबदारो पर ये दबाव डाला कि वे राज्य द्वारा निर्धारित घुड़सवारो को संख्या रखें। इस प्रकार से कुछ अशो मे व्यवस्था स्थापित की गई और घोड़ो को दगवाने पर बल दिया गया। टोडरमल ने दगवाने की प्रथा का अनुमोदन किया परन्तु मुनिम खा और मुजफ्फर खा न शहबाज खा के निर्देश पर इसका विरोध किया। अकबर इसको लागू करने के लिए कटिबद्ध था। इसलिए समस्त भूमि को खालसा मे परिवर्तित कर लिया गया और करोडी नामक अधिकारियो की नियुक्ति की गई। परन्तु इसके बाद भी सैनिक की योग्यता अथवा क्षमता म किसी प्रकार की वृद्धि न हो सकी क्योंकि इसम अधिकारियो के स्वार्थ निहित थे।

इस व्यवस्था म सुधार करने हेतु यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक अमीर अपनी जीविका 20 (बिस्त) घुड़सवार के रूप में प्रारम्भ करे और जब वो इन घुड़सवारो को दगवाने के लिए प्रस्तुत करे तब ही उसको अगले मनसब पर पदोन्नति की जावे और क्रमानुसार पंज हजारी के मनसब तक पदोन्नति की जावे, जो उस समय म सबसे बड़ा मनसब था। परन्तु यदि हाजिरी के समय वे उपयुक्त प्रदर्शन न कर सकें तो उनका दर्जा घटा दिया जावे या उन्हे पदावनत कर दिया जावे। इसके बाद भी स्थिति म कोई सुधार न हुआ क्योंकि हाजिरी के समय अमीर बाजारू लोगो को सैनिक कपड़े पहना कर प्रस्तुत कर दिया करते थे और जागीर प्राप्ति के बाद उन्हे भग कर देते थे। इस प्रकार से मनसबदार की आय यद्यपि स्थायी बनी रही परन्तु न तो सैनिको की अवस्था मे सुधार हुआ और न ही राज्य को किसी प्रकार का लाभ हुआ। इसलिए पुन दगवाने की प्रथा को कठोरता लागू किया गया।

अकबर कालीन मनसबदारी प्रथा यद्यपि दशमलव प्रणाली पर आधारित थी जो मगोलो की देन है, परन्तु सम्पूर्ण मनसबदारी प्रथा को मगोल अथवा चगेज प्रणाली कहना उचित न होगा क्योंकि अकबर की मनसबदारी प्रणाली पूर्व प्रणालियो की तुलना में अधिक जटिल थी। चगेजी परम्परा से यह निम्न प्रकार से भिन्न थी—

अकबर के सब ही मनसबदार चाहे वे 10 के अथवा 5000 के हो उसके आधीन थे, जबकि मगोल प्रणाली मे ऐसा नहीं था। इसके अतिरिक्त अकबर ने अपने शासन काल मे *मनसबदारो* को जात और सवार के आधार पर *अलग-अलग* श्रेणियो म बाट दिया था जो कि पहले नहीं था। तुरान मे 11वी व 12 शताब्दी म दो अस्पा, सेह अस्पा व महीनदारो और $\frac{1}{3}$ का नियम लागू किया गया था परन्तु अकबर के प्रारम्भिक काल मे ये नियम नहीं था। इस प्रकार यदि मुगल मनसबदारी प्रथा मे चगेजी परम्परा के लक्षण हैं तो केवल दशमलव प्रणाली तक ही सीमित है।

प्रारम्भ मे अकबर ने मनसब को जात व सवार के आधार पर विभाजित नही किया था। मनसब एक ही प्रकार का होता था परन्तु उसने देखा कि प्रत्येक मनसबदार को जितनी सख्या मे घोड़े रखने चाहिये, जिसके लिए उनको धन दिया जाता है, उन्हे नही रखते हैं। अकबर ने इस कमी को पूरा करने के लिए सबसे पहले घोडो को दगवाने व सवारो की हुलिया लिखने की पद्धति को अपनाया परन्तु जब उसने देखा कि भ्रष्टाचार मे इन तरीको से कोई कमी नही आई है तो उसने मनसब को जात और सवार मे विभाजित कर दिया। जात से मनसबदार के व्यक्तिगत रैंक का और सवार से उसके पास रहने वाले घुड़सवारो की सख्या का ज्ञान होता था। जैसे यदि एक मनसबदार 2000 जात व 1500 सवार के रैंक का है तो दरबार में वह 2000 के मनसबदारो की पक्ति मे खड़ा होगा और उसे अपने पास 1500 घुड़सवार अनिवार्य रूप से रखने पड़ गे।

जात और सवार पद को लेकर इतिहासकारो मे गहरा मतभेद है। ब्लाकमैन का यह कहना है कि जात पद सैनिको की उस सख्या को बताता था जिसको मनसबदारो से रखने की आशा की जाती थी। सवार पद उस सख्या को बताता था जो कि वास्तविक रूप से मनसबदार रखते थे। स्वर्गीय प्रो० बी० पी० सक्सेना दो कारणों से इस मत को स्वीकार नही करते हैं। उनके अनुसार "यदि इसको स्वीकार कर लिया जावे तो जिस उद्देश्य से सवार पद का प्रतिपादन हुआ वही निरस्त हो जाता है, दूसरे यह कि कुछ ऐसे मनसबदार थे जिनका पद केवल जात का ही था। यदि हम ब्लाकमैन का मत स्वीकार कर लें तो इसका अर्थ होगा कि केवल जात पद वाले मनसबदार को जात व सवार पद दोनो पद वाले मनसबदार की अपेक्षा ज्यादा सख्या मे सैनिक रखने पड़ते होगे। यह बात बिल्कुल ही अयुक्त प्रतीत होती।"[1]

इरविन सवार पद को एक अतिरिक्त सम्मान मानता है। इस पद को प्राप्त करने वाले को जात-पद मे सूचित सख्या के अतिरिक्त सवार पद मे निर्दिष्ट सैनिक सख्या को भी रखना पड़ता था। यह मत भी प्रो० बी० पी० सक्सेना का तर्कहीन प्रतीत होता है। उनके अनुसार, "यदि इस मत को हम स्वीकार कर लें तो मुगल सैनिको की कुल सख्या एक अविश्वसनीय अक तक पहुँच जायेगी। दूसरे यह कि यदि सम्मान प्राप्त अधिकारी से अतिरिक्त सैनिकों के पोषण की आशा की जाती तो ऐसा सम्मान विशिष्टता की अपेक्षा भार अधिक होता, और तीसरे यह कि कुछ मनसबदार ऐसे भी थे कि यदि जात और सवार दोनों की सख्या को जोड लिया जावे तो योगफल एक राजकुमार के मनसब से भी बढ जाता है। अत यह भी अविश्वसनीय है।"[2]

---

1 बी० पी० सक्सेना—मुगल सम्राट शाहजहा पृष्ठ 302
2. बी० पी० सक्सेना —मुगल सम्राट शाहजहा, पृ० 302-303

डा. त्रिपाठी के अनुसार सवार-पद एक ऐसा सम्मान था जिसके आधार पर बिना उतने घुडसवार रक्खे हो उसको अतिरिक्त भत्ता प्राप्त हो जाता था। दूसरे शब्दो मे सवार-पद का वास्तविक सख्या से कोई सम्बन्ध नही था।

एस के राव के अनुसार जात पद पैदल सैनिको की सख्या बताता था तथा सवार पद मनसबदार के पास घुडसवारो की सख्या को निश्चित करता था। अब्दुल अजीज जात पद को मनसबदार का व्यक्तिगत पद मानते हैं व सवार-पद का अर्थ था कि मनसबदार अपने पास कितने घुडसवार रक्खेगा। यही मत अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है।

5000 से ऊपर के मनसब प्रारम्भ म प्राय शहजादो के लिए सुरक्षित रक्खे गये थे। परन्तु इससे नीचे के मनसब को तीन श्रेणियो मे बाटा गया था। जिनका जात व सवार-पद बराबर हो, जिनका सवार-पद, जात पद का आधा या आधे से अधिक हो, जिनका सवार-पद, जात-पद के आधे से कम हो क्रमश. प्रथम, दूसरे व तीसरी श्रेणी मे रक्खे गये थे। इनका वेतन भी भिन्न-भिन्न था।

अकबर के राज्यकाल के आरम्भ मे प्रत्येक दहबाशी मनसबदार के पास दो चहार-अस्पा, तीन सेह-अस्पा, तीन दो-अस्पा और दो यक-अस्पा घोडे होते थे। अर्थात् प्रत्येक 10 के मनसबदार के पास 25 घोड होते थे।[1] परन्तु अकबर ने इसको अयथार्थपूर्ण मानकर इसका त्याग कर दिया और इसके स्थान पर यह आदेश दिया कि प्रत्येक दहबाशी अर्थात् 10 का मनसबदार तीन सेह अस्पा, चार दो-अस्पा, तीन यक अस्पा घुडसवार रक्खेगा अर्थात् 10 घुडसवारो के लिए 20 घोड होगे।

इन विवरण से यह सिद्ध हो जाता है कि अकबर के समय म दो अस्पा व सेह अस्पा शब्दो के प्रयोग प्रचलित थे और ये सम्मान सूचक होने की अपेक्षा सवार और घोडों के अनुपात सूचक थे। इसी आधार पर वेतन निश्चित किया जाता था।

अकबर ने जिस मनसबदारी प्रथा का गठन किया था जहागीर ने भी उसे प्रचलित रक्खा परन्तु अपने राजतिलक के दसवें वर्ष में उसने इसमें एक और विशेषता जोड दी। उसका उद्देश्य था कि सैनिको की सख्या बढाई जावे परन्तु व्यय मे किसी प्रकार की बढोतरी न हो। इसके लिए उसने महाबत खा को दक्षिण के अभियान पर भेजत समय सम्भवत. उसके मूल पद (3000, 2000) में तो कोई बढोतरी की परन्तु उसके सवार पद मे 1700 सवार दो अस्पा, सेह-अस्पा कर दिये इसस कितना आर्थिक लाभ हुआ इसका विवरण नहीं मिल पाता है परन्तु सवार-पद में एक सुनिश्चित नियत्राश को दो अस्पा, सेह अस्पा कर देन की प्रथा चल पडी। जहागीर क समय म दो अस्पा, सेह-अस्पा पद बहुत ही कम मनसबदारो को प्राप्त

1 आई० एच० कुरेशी—द एडमिनिस्ट्रेशन आफ 5 मुगल एम्पायर पृ० 120

था परन्तु शाहजहाँ के समय में यह नियमातीत पद उदारता से दिया जाने लगा जिससे परिस्थिति गंभीर हो गई। अब्दुल हमीद लाहौरी ने पादशाहनामा में यह स्पष्ट लिखा है कि दो-अस्पा, सेह-अस्पा नियन्तालिक मनसबदार को केवल सवार पदधारी मनसबदार की तुलना में दो घुड़सवार रखने पड़ते थे। उदाहरण के लिए 5000 ज़ात व 5000 मनसबदार को 300 सेह-अस्पा 600 दो-अस्पा व 100 यक-अस्पा सवार रखने पड़ते थे। इस प्रकार असली और व्यावहारिक संख्या में 1 : 5 का अनुपात था। किन्तु जिस मनसबदार का पद 5000 ज़ात व 5000 सवार हम (तमाम) दो-अस्पा, सेह-अस्पा, था उसे 600 सेह-अस्पा, 1200 दो-अस्पा और 200 यक-अस्पा सवार रखने पड़ते थे।[1] यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि किसी स्थिति में दो-अस्पा, सेह-अस्पा का नियमातीत पद सवार पद से अधिक नहीं हो सकता था ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से सवार-पद, ज़ात-पद से अधिक नहीं हो सकता था।[2]

इससे जनित अव्यवस्था को दूर करने के लिए उसने अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष में कुछ नियम बनाये। इसके अन्तर्गत जिस मनसबदार की जागीर भारत में थी उसको अपने ज़ात और सवार-पद की एक तिहाई संख्या में सवार रखने की आज्ञा दी गई, यदि उसकी नियुक्ति भारत से बाहर किसी अन्य क्षेत्र में थी तो उसे केवल एक-चौथाई सवार रखने पड़ते थे। बलख के अभियान के अनुसार कम करके पाँचवा भाग कर दिया गया था। इसके साथ ही उसने ज़ात-पद तथा सवारों के वेतन में भी कमी कर दी।

शाहजहाँ के समय में दहवाशी के मनसबदार के द्वारा रखे जाने वाले घोड़ों की संख्या में भी परिवर्तन किया गया। इसको हम मासिक वेतन अनुपात कह सकते हैं। इसकी आवश्यकता इसलिए अनुभव हुई कि मनसबदारों को दी गई जागीर के जमा (निर्धारित किया गया लगान) व हासिल (वास्तविक रूप में प्राप्त किया गया लगान) में बहुत अन्तर था। इसको दूर करने के दो ही उपाय थे या तो भूमि का पुनः सर्वेक्षण किया जावे और जमा तथा हासिल में अनुरूपता स्थापित की जावे अथवा हासिल के आधार पर मनसबदार का वेतन महीनों के अनुपात में निश्चित किया जावे और उसी के अनुपात से उसे घोड़ों को रखने की सुविधा प्रदान की जावे। उदाहरण के लिए वे मनसबदार जो वर्ष में 12 महीनों का वेतन लेते थे वे प्रत्येक घुड़सवारों के लिए 22 घोड़े रखते थे वे जो वर्ष में 11 मास का वेतन लेते थे वे प्रत्येक 10 सवारों के लिए 20 घोड़े रखते थे। इस प्रकार से वे मनसबदार जो वर्ष में 10

1 लाहौरी, भाग 2, पृ० 505–508
2 कुरेशी—वही पृ० 98

महीने में कम का वेतन लेते थे उन्हें सिह-अस्पा का नियताशिक पद नहीं मिलता था यह अनुपात 18, 16, 14½, 12½ व 11 घोडों तक था जो क्रमश वर्ष में 10, 9, 8, 7, 6 महीनों का वेतन लेते थे। वे मनसबदार जिनको वर्ष में केवल 5 महीने का वेतन मिलता था उन्हें केवल यक-अस्पा पद ही प्राप्त था अथवा 10 घुडसवारों के लिए 10 घोडे ही रखते थे।[1]

दक्षिण के मनसबदारों की स्थिति और भी अधिक शोचनीय थी। उन्हें अपनी जागीर से अधिक से अधिक चार माह का वेतन ही मिल पाता था इसलिए वे सदैव इसके लिए प्रयत्नशील रहते थे कि उन्हें उत्तरी भारत में नियुक्त किया जावे जहां जमा और हासिल में इतना अधिक अन्तर नहीं था।

अबुल फजल के अनुसार अकबर ने मनसबदारों को 66 विभिन्न श्रेणियों में बाटा था जिसमें 10 से लेकर 10 000 तक के मनसबदार थे। आरम्भ में 5 000 से ऊपर के मनसब केवल राजकुमारों के लिए सुरक्षित थे। अकबर के तीन पुत्रों को 7000 से 10 000 तक के मनसब प्राप्त थे। परन्तु अपने शासन के वावनवें वर्ष में राजा मानसिंह को 7000 का मनसब प्रदान किया गया जो कि इस बात का सूचक है कि विशिष्ट कृपापात्रों को सम्मानित करने के लिए उन्हें राजकुमारों के समरूप ही माना जाता था। बाद के शासनकाल में राजा जयसिंह को भी सम्मानित करने के लिए ऊंचा मनसब प्रदान किया गया था। शाहजहां के शासनकाल में उत्तरोत्तर मनसबों में वृद्धि होती रही। पादशाहनामा के अनुसार शाहजहां के चार पुत्रों का 20,000, 15,000, 15,000 व 12,000 के मनसब प्राप्त थे। उच्च अधिकारियों के मनसब भी 9,000 तक थे। मनसब की ये उत्तरोत्तर वृद्धि उसके शासनकाल में और अधिक बढती चली गई यहां तक की दारा शिकोह 60,000 का मनसबदार था और उसका वेतन 40 करोड दाम था। शाहशुजा और औरंगजेब का वेतन 24 करोड दाम व मुरार का 12 करोड दाम था, यह भी निश्चित किया गया कि 6,000 से लेकर 60,000 तक के मनसबदार प्रथम श्रेणी के गिने जावेंगे। यद्यपि यह नियम बनाया गया था कि 10,000 के मनसबदार का वेतन 12,000 दाम होगा परन्तु राजकुमारों के वेतन इस नियम की भूमिका से ऊंचे थे क्योंकि वे विशिष्ट रूप से सम्मानित थे।

यद्यपि अब्दुल फजल ने मनसबदारों की 66 श्रेणियां बनायी हैं परन्तु उसकी दी हुई सूची में केवल 33 श्रेणियां ही मिलती हैं। सम्भवत इसका कारण था कि अकबर अबजद प्रणाली के आधार पर अल्लाह के अक्षरों के योग (1+30+30+5 =66) पर ही मनसबदारों की श्रेणियां बनाना चाहता था। 33 श्रेणियों के

1. कुरेशी— वही पृ० 120

अतिरिक्त बाकी 33 श्रेणियां केवल सैद्धांतिक थी और उनमे कभी किसी की नियुक्ति न की गई परन्तु डा० ए एल श्रीवास्तव इसको मानने के लिए तत्पर नही है। उनका तर्क है कि अबुल फजल की सूची पूर्ण नही है इसमें उन मनसबदारो के नाम नही है जो मर चुके थे अथवा 1602 ई० क बाद बनाय गए थे।

अबुल फजल की सूची के अनुसार अकबर के काल म 1800 मनसबदार थ जिनम स 412 के पास 5,000 से 200 तक के मनसब थे और शेष 150 से 10 तक के थे। यह सूची 1602 ई० तक की है। पादशाहनामा के अनुसार शाहजहा के समय मे मनसबदारो की कुल सख्या 8,000 थी। खाफी खां ने शाहजहा के बीमार पड़ने और उत्तराधिकार के युद्ध के समय का विवरण दिया है जिसके अनुसार उस समय केवल एक के पास सात हजार का छ के पास छ हजार का 15 के पास 5 000 का 14 के पास चार हजार का, एक के पास 3,500 का 47 के पास 3 000 का 20 के पास 1 500 का और 59 के पास 1000 का मनसब था। ऐसा प्रतीत होता है कि 5,000 से ऊपर का मनसब केवल विशेष परिस्थितियों मे ही दिया जाता था। शाहजहा के समस्त काल म राजकुमारो को छोडकर केवल चार व्यक्ति ऐसे थे जिनको 7,000 का मनसब प्राप्त था। औरगजेब के समय म दक्षिण के युद्धो के कारण मनसबदारो की सख्या मे लगातार बढोत्तरी होती रही क्योकि सम्राट ने उच्च मनसबो का लालच देकर अनेको शत्रुओ को अपनी ओर मिला लिया था तथा दक्षिण के शासको द्वारा उसकी अाधीनता मानन पर उन्हे भी उच्च मनसबा स विभूषित किया था। यद्यपि यह ठीक है कि मनसबदारो की बढोत्तरी ने राज्य पर कुप्रभाव डाले परन्तु औरगजेब के पास इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नही था। स्थिति इतनी गम्भीर थी कि मनसबदारो की सख्या व उनके पद लगातार बढत जा रहे थे और राज्य में ऐसी भूमि शेष न थी जिसको कि जागीर के रूप में वेतन पूर्ति के लिए इन नये मनसबदारो को प्रदान की जा सके। इस बढती हुई अव्यवस्था में ही 5 000 के ऊपर के मनसबो को जो तीन विभिन्न श्रेणियो मे बाटने की परिपाटी चली आ रही थी समाप्त कर दिया गया क्योंकि 5 000 के ऊपर के मनसब के उपभोक्ताओ की सख्या इतनी कम थी कि इस विभाजन की कोई आवश्यकता अनुभव न हुई और न ही मनसबदारो में श्रेष्ठता को निश्चित करने की कोई आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। मनसबदारो के मनसब के अतिरिक्त उनको अनेक ऊंच खिताब प्रदान किये जाते थे जिनसे केवल इस बात की जानकारी मिलती थी कि अमुक व्यक्ति सम्राट की निगाह मे कितना सम्मानित है। इतिहासकार निजामुद्दीन के अनुसार 500 का मनसब प्राप्त करने वाले को अमीर पुकारा जाता था। 500 स 2,500 तक के मनसब वालो को 'उमरा' कहा जाता था, 3,000 और इससे ऊपर के मनसबदारो को उमरा ए अकबर कहा जाता था और उसस बड मनसबदार का अमीरुल उमरा कहते थे। 'खान ए खानन' का सर्वोच्च खिताब (उपाधि) एक

समय मे केवल एक ही व्यक्ति को दिया जाता था। तुजक-ए-जहांगीरी के अनुसार राज्य कर्मचारियो के लिए 'अमीर-उल-उमरा' से ऊंचा खिताब नही था। ये सम्भवत अकबर के काल के लिए उचित हो क्योंकि पादशाहनामा इस खिताब का उपयोग सर्वोच्च जीवित अधिकारी के लिए ही करता है। इसी तरह का उपयोग, औरंगजेब के समय भी प्रचलित था। निम्न स्तर के सरकारी कर्मचारियो को मनसबदार न कहकर 'रोजिनदार' कहते थे।

साधारण मनसबदारो की श्रेणी जिनको यूजबासीज कहते थे जो कि अधिकतम 100 के मनसबदार थे उनको उनके सवार पद के अनुसार 11 श्रेणियों मे बांटा गया था जिन मनसबदारों का जात पद सवार पद के बराबर था प्रथम श्रेणी मे थे, प्रत्येक श्रेणी क्रमश. 10 सवारो की घटोतरी बताती थी जबकि अन्तिम 11वी श्रेणी मे कोई सवार पद न होता था।

मनसबदारो की पदोन्नति अथवा अवनति सम्राट द्वारा ही की जाती थी। मनसबदार द्वारा कोई प्रशसनीय कार्य किये जाने पर उसका दरबार मे स्वागत किया जाता था। राज्याभिषेक, वार्षिकोत्सव अथवा वर्षगाठ अथवा नौरोज के अवसर पर मनसबदारो को भिन्न-भिन्न प्रकार से सम्मानित किया जाता था। जब शासक किसी युद्ध मे विजयी होकर लौटता तो वह मनसबदारो को कीमती पोशाकें, अशर्फिया आदि देकर सम्मानित करता था। मनसबदार के साहसपूर्ण काम पर उसे नगाड़ा बजाने अथवा पताका फहराने का अधिकार दिया जाता था। अत्यन्त गौरव और साहसपूर्ण कार्य करने पर मनसबदार को 'माही मरातिब' का अधिकार-चिन्ह प्रदान किया जाता था। उन्हें अच्छी नस्ल के घोड़े अपने सारे साजो-सामान के साथ अथवा हाथी भी इनाम मे दिये जाते थे। शासक के अधिक प्रसन्न होने पर वह स्वय मनसबदार के घर जाकर उसे सम्मानित करता था जैसे अकबर ने बीरबल के घर 1574-1583 ई० मे स्वय जाकर उसे सम्मानित किया था।

यद्यपि मनसबदार का क्रमश: पद-वृद्धि करने का कोई नियम नही था और शासक यदि चाहता तो मनसबदार को अपनी मर्जी के अनुसार थोड़े समय मे ही ऊंचे से ऊंचा मनसब दे सकता था। पदोन्नति करते समय यह ध्यान रखा जाता था कि यह 50 प्रतिशत से अधिक न हो। केवल औरंगजेब का समय इस नियम का अपवाद है। उसने खानजहां से प्रसन्न होकर उसका मनसब 2000 से बढ़ाकर 5000 कर दिया। परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत ही कम है।

मनसबदारो को सम्मानित करने के लिए मशरूत मनसब भी दिये जाते थे। इसका अर्थ था कि किस मनसबदार की जिम्मेदारियो में बढ़ोतरी होने के साथ ही उसके वेतन मे भी बढ़ोतरी कर दी जाती थी। उदाहरण के लिये यदि एक मनसबदार जो किसी क्षेत्र का फौजदार है यदि उसे दूसरे क्षेत्र का भी फौजदारी सौंपी जाने

हैं। प्रत्येक जागीर में इसके लिये वकाया लिखने वाले तथा गुप्तचर मौजूद थे जो इन बातों की सूचना अधिकारियों को दिया करते थे। कुव्यवस्था होने पर जागीरों को छीन लिया जाता था अथवा मनसबदारों का स्थानान्तरण कर दिया जाता था।

मनसबदार अपने वेतन के लिये राज्य पर निर्भर थे चाहे ये वेतन उन्हें जागीर अथवा नगदी के रूप में मिला हो। वेतन मनसबदारों को उनके मनसब के अनुसार दिया जाता था। वेतन के अतिरिक्त इनाम के रूप में भी मनसबदार को धन दिया जाता था।

मनसब जात व सवार में विभाजित था। सवार पद में दो-अस्पा सेह-अस्पा भी सम्मिलित थे। इस समस्त सेना के बदले में मिलने वाले वेतन को तलब कहा जाता था। जात पद के विरुद्ध जो वेतन का भाग मिलता था उसे खासा या खात कहते थे जिसको कि मनसबदार अपने व अपने परिवार के पालन-पोषण पर खर्च करता था। सवार पद के आधार पर दिये गये वेतन को ताबीनान कहते थे। इससे वह घोड़ा, घुड़सवारों, बोझा ढोने वाले पशुओं आदि का व्यय वहन करता था।

खात अथवा खासा और ताबीनान वेतन देने के अलग-अलग तरीके थे। अबुल फजल ने जात पद के 1,000 के ऊपर के मनसबदारों के वेतन अलग-अलग तरीके से निर्धारित करने का विवरण दिया है। अबुल फजल के अनुसार प्रथम श्रेणी के पाँच हजार के मनसबदार को 30,000 रु० मासिक मिलते थे। इसी प्रकार प्रथम श्रेणी के 500 के मनसबदार को 2,500 रु० प्रति माह मिलते थे। 10 के मनसबदार को 100 रुपये प्रति माह दिये जाते थे। इसी प्रकार 5000,500 व 10 के तृतीय श्रेणी के मनसबदार को क्रमशः 2,800,2,100 व 75 रुपए प्रति माह दिये जाते थे। मनसबदारों के वेतन में इनाम भी मिला होता था। उदाहरण के लिये महावत खाँ जिसका मनसब 7000/7000 (5000, 2–3 एस्प) था उसका वार्षिक वेतन इस प्रकार से था—जात पद का वेतन=1 40 करोड़ दाम।

सवार पद का वेतन (10,000+2,000=12,000 सवार, प्रत्येक पर 8,000 दाम का खर्च-9 60 करोड़ दाम

कुल 11 करोड़ दाम

नौ रोज के उत्सव पर उसे 1 करोड़ दाम इनाम के रूप में दिये गये थे। जिसके आधार पर उसका वार्षिक वेतन 12 करोड़ दाम अथवा 30 लाख रुपये था।

मनसबदारों के वेतन की कसौटी के आधार पर शहजादों के वेतन को निर्धारित करना सम्भव नहीं है। उनका वर्ग एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग था और उन्हें उनके मनसब की तुलना में कहीं अधिक वेतन दिया जाता था जैसे दारा शिकोह को अपने मनसब पर 20 करोड़ दाम प्रति वर्ष दिये जाते थे। यहां तक कि उन्हें मनसबदारों की श्रेणी में लेने के पहले ही उनके दैनिक भत्ते निश्चित कर दिये जाते

थे जैसे दारा शिकोह, शाहशुजा, औरंगजेब व मुराद बख्श के क्रमशः 1000,750, 500 व 250 रुपये निश्चित कर दिये गये थे।

मोरलेण्ड के अनुसार जो वेतन अकबर के समय निश्चित किये गये थे वे क्रमशः शाहजहां के समय में कम होते गये परन्तु प्रो. इरफान हबीब इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार यह कमी 1618 व 1630 ई॰ के बीच हुई थी। अतः शाहजहां पर यह आरोप लगाना ठीक नहीं है। इसके विरोध में प्रो॰ कुरेशी का कहना है कि अनेकों दस्तूर–उल–अमल में वेतन की दी गई दरें पादशाहनामा में दी गई दरों से मेल खाती है और दूसरे साधनों के आधार पर यह निर्णय लेना सम्भव है कि शाहजहां के समय में वेतन में कटौती की गई थी।

शाहजहां के शासन के तीसरे दशक में स्थिति लगातार गिरती चली गई। राज्य की आय कम होती चली जा रही थी और व्यय बढ़ता जा रहा था। अधिक समय तक ये असन्तुलन सम्भव नहीं था। खाफी खां ने लिखा है कि शाहजहां के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में स्थिति इतनी गम्भीर थी कि राज्य में कोई खालसा अथवा जागीर भूमि शेष न थी राज्यकोष में धन न था और वे जागीरदार मनसबदार जिनको नगद वेतन दिया जाता था उनकी भी दुर्दशा थी। शिकायत करना व्यर्थ था उन्हें बगैर जागीर के मनसब लेकर ही सन्तुष्ट रहना पड़ता था।

औरंगजेब के समय में स्थिति और अधिक खराब हो गई। अगर उसका शासनकाल शान्ति और सम्पन्नता का युग रहता तो भी अब्दुल अज़ीज़ का मत है कि मनसबदारी प्रथा का पतन होना निश्चित था। आने वाले संकट को रोकने के अथवा टालने की कोई सम्भावना न थी मनसब लगातार पुराने ऊंचे वेतनों पर दिये जा रहे थे चाहे उनके वेतन का भुगतान हो अथवा नहीं। औरंगजेब के अन्तिम 27 वर्ष मुख्यतः दक्षिण के युद्धों में बीते और इनके कारण राज्यकोष पर लगातार भार बढ़ता रहा। खाफी खां ने लिखा है कि राज्यकोष की सुरक्षित नकदी का अधिकतर भाग खर्च हो गया था और नकदी वेतन की मांगों को पूरा करने के लिये कोई बकाया नहीं था।[1] सर यदुनाथ के शब्दों में 'प्रशासनिक अधिकारियों व सैनिकों का तीन साल का वेतन बकाया था और राज्य की समस्त भूमि भी बढ़ी हुई सैनिक सेवाओं की पूर्ति के खर्चे को पूरा करने में असमर्थ था''।[2] मनसबदार जिन पर राजकीय पशुओं को पालने का उत्तरदायित्व था उनके पास इतनी कम जागीरें थी कि वे स्वयं ही भुखमरी से पीड़ित थे।

---

1 खाफी खां–मुन्तखब–उल–लबाब भाग 1 पृ॰ 411

2 सर यदुनाथ सरकार–हिस्ट्री आफ औरंगजेब भाग 4 पृ॰ 448–49

जात पद की स्थिति दयनीय थी और उसी के साथ तावीनान की स्थिति भी किसी प्रकार से सन्तोषजनक नहीं थी। भिन्न-भिन्न शासकों के अधीन घुड़सवारों का वेतन अलग-अलग था और राज्य पर खर्चे का अधिक भार था। अकबर के समय में घोड़े की नस्ल पर वेतन इस प्रकार दिया जाता था :—

घोड़े की नस्ल	घुड़सवार का मासिक वेतन
ईरानी	30
मुजन्नस	25
तुर्की	20
याबू	18
ताजी	15
जंगल	12

कुछ समय पश्चात् जाति के आधार पर घुड़सवारों का वेतन इस प्रकार निश्चित किया गया[1] :—

घुड़सवार की जाति	सेह अस्पा मासिक दाम	सेह अस्पा वार्षिक रुपये	दू-अस्पा मासिक दाम	दू-अस्पा वार्षिक रुपये	यक-अस्पा मासिक दाम	यक-अस्पा वार्षिक रुपये
मुगल, अफगान, भारतीय	1000	300	800	240	600	180
राजपूत	800	240	600	180	—	—

यदि राजपूतों को दिये जाने वाले विशेष वेतन को अलग कर दिया जावे और 3 सह-अस्पा, चार दू-अस्पा व 3 यक-अस्पा अर्थात् 10 घुड़सवारों के लिए 20 घोड़ों के आधार पर खर्चा निकाला जावे तो औसतन एक घुड़सवार का वार्षिक वेतन 9600 दाम अथवा 240 रु० आता है।

जहाँगीर के समय में हाकिन्स घुड़सवार का वार्षिक वेतन 240 रु० वार्षिक मानता है जबकि थामस रो ने इसे 200 रुपये स्वीकार किया है। थामस रो के आंकड़ों को अब्दुल अजीज व प्रो० इरफान हबीब स्वीकार करते हैं।[2]

शाहजहाँ के समय में घुड़सवारों का वेतन औरंगजेब के द्वारा दिया गया है, दूसरे समकालीन इतिहासकार इस सम्बन्ध में मौन हैं। उसके अनुसार 1630 ई०

1 अब्दुल अजीज—वही, पृ० 95
2 वही, पृ० 97.

में प्रत्येक घुडसवार का वार्षिक वेतन घटाकर 8800 दाम कर दिया गया था और पुन. कुछ वर्ष बाद (1048 ए०एच) इसे घटाकर 8000 दाम कर दिया था। इस प्रकार अकबर के समय की तुलना म घुडसवार का वेतन 9600 दाम से घटाकर 8000 दाम कर दिया गया था। यहा पर इसके साथ ही यह ध्यान देने योग्य बात है कि अकबर जहा केवल एक घुडसवार को सेवारत कर एक घुडसवार का कार्य ले लेता था वहा शाहजहा 3 या चार और कभी-कभी 5 घुडसवारो को नियुक्त करने के लिये बाध्य था।[1]

औरंगजेब के समय में इरविन के अनुसार प्रत्येक घुडसवार का वार्षिक वेतन 8000 दाम अथवा 200 रुपये था। (16 रु० 10 आने 8 पाई प्रति माह)। इस प्रकार से यक अस्पा को 200 प्रति वर्ष व दू-अस्पा व सेह-अस्पा को 11000 दाम या 275 रु० प्रति वर्ष दिये जाते थे जिससे यह परिणाम निकलता है कि यद्यपि दो व सेह-अस्पा का वेतन यक-अस्पा से अधिक था परन्तु अनुपातिक नही था।

इन जात और घुडसवारो के वेतन के आकडो को देखकर अनुभव होता है कि मुगलकाल मे इनका वेतन अत्यधिक था। परन्तु प्रो० कुरेशी यह मानते हैं कि ये वेतन वास्तव मे उतने ऊँचे नहीं थे जितने कि दीखते हैं।[2] सर्वप्रथम इस वेतन मे से लगभग 10 प्रतिशत जागीर की व्यवस्था करने में व्यय हो जाता था। यदि केन्द्रीय सरकार द्वारा जागीर व प्रशासन में अतिरिक्त उत्तरदायित्व डाल दिया जावे तो इस अतिरिक्त प्रशासन के व्यय का भार भी मनसबदार को सहन करना पड़ता था। यदि किसी वर्ष सूखा अथवा अकाल पड जावे तो मनसबदार को ही इस हानि को वहन करना पडता था। इसके अतिरिक्त घोडे, बोझा ढोने वाले पशु गाडियो आदि के व्यय का भार भी उसी पर था। इन सबके बाद सवार पद की जटिल व्यवस्था न इस वेतन को और अधिक अर्थहीन बना दिया था क्योकि वे ही मनसबदार जिनके मनसब मे दो-अस्पा और सेह-अस्पा सवारो की संख्या अधिक थी केवल उन्हे ही 12 महीनो का वेतन मिलता था। स्थिति यहा तक पहुँच गयी थी कि कुछ मनसबदारो को वर्ष में केवल 5 महीनो का ही वेतन प्राप्त होता था। ऐसी स्थिति में यद्यपि राजकीय आकडे 12 महीनो का वेतन बताते थे परन्तु वास्तविक रूप में वेतन इससे कही कम था। औरंगजेब द्वारा माडूनात्ता को लिखित पत्र से यह स्पष्ट होता है कि यदि मनसबदारो के खान अथवा खासा वेतन मे और अधिक कटौती की गई तो यह उनके द्वारा सैनिक भर्ती पर कुप्रभाव डालेगी। उसके अनुसार पहले मनसबदार अपने वेतन का चौथाई भाग खान अथवा खासा वेतन के रूप में होता था परन्तु अब उसका यह भत्ता केवल $\frac{1}{5}$ ही रह गया है। इस आधार पर मनसबदार

1. वही, पृ० 98
2. आई० एच० कुरेशी, वही, पृ० 108

के वेतन को प्रत्यक्ष मूल्य अथवा अर्जित मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1]

मुगल काल में प्रचलित जब्ती प्रथा कुलीनतन्त्र के उत्कर्ष में सबसे बड़ी बाधक थी। इस व्यवस्था के द्वारा किसी भी मनसबदार अथवा अमीर की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति राज्य द्वारा जब्त कर ली जाती थी, यद्यपि कुरान में किसी को किसी अन्य की निजी सम्पत्ति पर अधिकार करने की मनाही की गई है। प्राय मनसबदार राज्य से कर्ज लिया करते थे। परन्तु उसका भुगतान नहीं कर पाते थे अत उनकी मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति पर अधिकार कर जितना बकाया होता था सरकार उसे वसूल कर लेती थी। यह भी माना जाता है कि क्योंकि अमीर राज्य के सेवक थे और उन्होंने यह धन राज्य के सेवक के रूप में ही अर्जित किया था इसलिए उनकी मृत्यु के बाद इस धन पर राज्य का अधिकार होना चाहिये न कि उनके पुत्रों का। बर्नियर ने इस व्यवस्था को जंगली कहकर पुकारा है और अन्य विदेशी यात्रियों ने इसे विचित्र व्यवस्था की संज्ञा दी है। इसी कारण मुगलकाल में शक्तिशाली अमीर वर्ग का उत्कर्ष नहीं हो सका क्योंकि प्रत्येक अमीर के पुत्र को अपना जीवन नए सिरे से आरम्भ करना पड़ता था और अपने पिता की सम्पत्ति से उसे कोई लाभ नहीं मिलता था।

यद्यपि अबुल फजल जब्ती प्रथा के बारे में कोई जानकारी नहीं देता है परन्तु यह निश्चित है कि किसी न किसी रूप में यह अकबर के समय में प्रचलित थी। यदि किसी मनसबदार का उत्तराधिकारी नहीं होता अथवा उस पर राज्य का बकाया निकलता होता या उसकी जागीर का हिसाब साफ नहीं होता तो उसकी सम्पत्ति जब्त करली जाती थी। जहांगीर ने लिखा है कि मनसबदार के मरने पर उसकी सम्पत्ति पर उसके उत्तराधिकारी का पूर्ण अधिकार है। अन्य किसी को इसमें से कुछ प्राप्ति का अधिकार नहीं है परन्तु यदि मनसबदार अथवा अमीर सन्तानहीन हो तो सरकार अधिकारी को भेज कर अधिकार कर सकती है और उस धन राशि को शरियत के अनुसार खर्च कर सकती है। जहांगीर ने राज्याभिषेक के समय जो 12 अध्यादेश जारी किए थे उनसे भी इसी प्रकार का आभास मिलता है। इस आधार पर हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि जहांगीर के समय में जायदाद की जब्ती उस समय की जाती थी जबकि किसी मनसबदार का कानूनी उत्तराधिकारी नहीं होता था। अकबर की मृत्यु के तीन वर्ष बाद 1608 ई० *हॉकिन्स ने लिखा है 'इस* मुगल बादशाह जहांगीर की यह नीति है कि यदि कोई अमीर मर जाता है तो उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती है। इस सम्पत्ति में से मनसबदार या अमीर के

1 आई०एच० कुरेशी, वही, पृ० 109

मनसवदार यह जानते थे कि उनके पद का अस्तित्व अथवा उनकी पदोन्नति सम्राट की कृपा पर निर्भर है इसलिए वे सम्राट के प्रति स्वामिभक्त रहते थे और अपनी सेवाओं, उपहारों व भेंटो से सम्राट को प्रसन्न और सन्तुष्ट रखते थे। इसका प्रभाव साधारण सैनिकों व सेनानायकों पर भी पड़ता था और वे भी स्वामिभक्ति और कर्तव्यनिष्ठा से कार्य करते थे। अप्रत्यक्ष रूप से इसके दो लाभ हुए। एक ओर तो जब मनसवदार यह जानता था कि क्योंकि उसकी पदोन्नति अथवा पदावनति उसकी सैनिक सेवा की श्रेष्ठता पर निर्भर है इसलिए वो अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता बताने के लिए सदैव प्रयत्न करता था और इस आधार पर सैनिक क्षमता में वृद्धि होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर मनसवदारों की स्वामिभक्ति प्राप्त करने के अतिरिक्त यह व्यवस्था क्षमता और अनुशासन से बनाये रखने में अधिक सहायक थी।

पुन इस व्यवस्था से योग्य व्यक्तियों को दायित्वपूर्ण काम आसानी से सौंपे जा सकते थे और उनकी योग्यता के आधार पर उनसे कार्य लिया जा सकता था चाहे ये कार्य सैनिक हो अथवा असैनिक, प्रशासकीय हो अथवा वित्त सम्बन्धी। जैसे राजा टोडरमल मुगल साम्राज्य का वजीर होने के साथ ही स थ वित्त मन्त्री और सेनानायक भी था। जिस भी रूप में उसकी सेवाओं की आवश्यकता पड़ती उसी रूप में उससे कार्य लिया जाता था।

गोत्र अथवा कबीला पद्धति से खड़ी की गई सेना का एक दूसरे के विरुद्ध भी सफलता से उपयोग किया जा सकता था। बर्नियर के लेख से मालुम पड़ता है कि किस प्रकार मुगल सेना की एक टुकड़ी शत्रु के विरुद्ध अथवा अलग से एक दूसरे के विरुद्ध प्रयुक्त की जा सकती थी। वो लिखता है कि किस प्रकार से राजपूत राजाओं पर अंकुश रखने के लिए तथा वे राजा जिन्होंने मुगलों की आधीनता को स्वीकार न किया हो अथवा खिराज देने को मना किया हो अथवा आज्ञा प्राप्ति पर मुगल सेना में आकर न मिले हो उनके विरुद्ध दूसरे राजाओं को तैयार कर उन पर दबाव डालने के लिए गोत्र अथवा कबीले पर आधारित मनसवदार प्रथा किस प्रकार उपयोगी सिद्ध हुई। उसने आगे लिखा है कि शासक सदैव राजपूत राजाओं में प्रतिस्पर्धा तथा मनमुटाव पैदा कर एक को दूसरे के प्रति उपयोग कर उनकी आकाक्षाओं पर अंकुश लगाये रखने में समर्थ था। इसी प्रकार से वह अपने विद्रोही उमराओं के विरुद्ध इन कबीलों की भावना का उपयोग कर उनको दबा सकने में समर्थ होता था। इसी नीति का उपयोग कम्पनी सरकार तथा ब्रिटिश सरकार ने भारत में किया जबकि वे जाति अथवा गोत्र के आधार पर अलग अलग सैनिक टुकड़ियों का निर्माण कर एक दूसरे के विरुद्ध उनको प्रयुक्त कर अपने स्वार्थों की सिद्धि करते रहे।

इसके अतिरिक्त इस प्रथा पर राज्य के समस्त भागों में अपने आप ही मनसवदारों की टुकड़िया मौजूद थी जिनको किसी भी सकटकालीन स्थिति में सैनिक अथवा प्रशासनिक रूप में काम लिया जा सकता था। इसके साथ ही उस युग में

जबकि शासक के पास स्थायी सेना अधिक नहीं रहती थी, इस प्रथा से सेना इकट्ठी की जा सकती थी और युद्ध में भेजी जा सकती थी। इससे यह लाभ हुआ कि सेना-संगठन, व्यवस्था और अनुशासन के दायित्व से मुगल राज्य बच गया।

किन्तु मनसबदारी प्रथा में अनेकों दोष भी थे। इसमें भ्रष्टाचार की अधिक सम्भावना थी और जैसे ही शासन कमजोर पड़ा वैसे ही भ्रष्टाचार और अधिक बढ़ गया। मनसबदारों के पास उनके मनसब के अनुसार जो घुड़सवार रहते थे उनका सारा खर्चा राज्य देता था। इस धन को बचाने के लिए मनसबदार अनेक भ्रष्ट उपायों का उपयोग करते थे। हाजिरी के समय वे बाजार से साधारण व्यक्तियों को पकड़ लाते और उन्हें फौजी वर्दी पहनाकर सैनिक के रूप में ला खड़ा करते और निरीक्षण में सफल हो जाते थे। इरविन ने लिखा है, "झूठी सेना संग्रह एक ऐसी बुराई थी जो मुगल सेना में सबसे अधिक पायी जाती थी। अपने मनसब के हिस्से को पूरा करने के लिए मनसबदार दूसरों को अपने सैनिक उधार दे देते थे अथवा बाजार से लोगों को पकड़ कर उन्हें किसी टट्टू पर बैठाकर दूसरों के साथ उनकी भी गिनती योग्य-सिपाहियों में करा देते थे।" इस तरह बाजार से पकड़े गये व्यक्तियों को असली सिपाहियों की जगह ला खड़ा करना और सरकारी घोड़ों की जगह टट्टुओं को दिखाकर वे सैनिकों का वेतन और घोड़ों पर खर्च किये जाने वाले धन को स्वयं हजम कर जाते थे। अकबर ने घोड़ों को दगवाने तथा हुलिया लिखने पर इन बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया परन्तु वह सफल न हो सका। बाद के शासकों के समय में जब वे दक्षिण में अधिक व्यस्त हो गये तब रही सही व्यवस्था भी पूरी तरह से समाप्त हो गयी।

इसके अतिरिक्त मनसब प्रथा में मनसबदार के सैनिक बादशाह से अधिक मनसबदार के प्रति स्वामिभक्त थे। परिणाम यह हुआ कि यद्यपि सैनिकों के वेतन का भार राज्य पर पड़ता था परन्तु दुर्भाग्यवश यदि शासक और मनसबदार में मनमुटाव हो जावे तो सैनिक शासक की अपेक्षा मनसबदार की ओर से लड़ते थे।

मनसबदारी की व्यवस्था के संचालन के लिए नियम तो बनाये गये थे परन्तु उनका पालन नहीं किया जाता था और बहुत कुछ शासक की इच्छा पर छोड़ दिया गया था जो किसी भी कृपापात्र को मनमाने ढंग से ऊंचे से ऊंचा मनसब दे देता था। इस कारण मनसबदारों में एक दूसरे के प्रति द्वेष की भावना पैदा हो गई और वे समुचित रूप से अपनी जुम्मेदारियों को निभाने में हिचकिचाने लगे। कमजोर अथवा व्यस्त शासकों के समय में यह भावना और अधिक तीव्र हो गई और अपेक्षाकृत इसके कि वे एक जुट होकर शत्रु का सामना करें वे आपस में एक दूसरे की शक्तियों को काटने में लगे रहे। ऐसी स्थिति में जब किसी एक मनसबदार की टुकड़ी ने युद्ध में सक्रिय भाग लेकर अपने पक्ष को विजय की स्थिति में पहुँचा दिया हो,

दूसरा मनसबदार उसको सम्मानित सम्मान मिलने की डाह से विरोधी कार्यवाही कर जीते-जिताये युद्ध को पराजय मे बदल देने के लिए क्रियाशील हो जाता था। मनसबदारी प्रथा मनसबदारो के बीच असतोष और षडयन्त्रो का कारण बन गई जो मुगल साम्राज्य के पतन का एक महत्वपूर्ण कारण बनी।

मनसबदारी प्रथा यूरोप के सामन्तवाद और जागीरदारी प्रथा से भिन्न थी। मुगल शासन के मनसबदार यूरोप के मध्य युग के जागीरदार नही थे। यूरोप के जागीरदार अपनी-अपनी जागीर के क्षेत्र म सर्वेसर्वा थे। अपने क्षेत्र मे स्थायी थे, शक्तिशाली होने के नाते वे सम्राट की निरकुशता पर अकुश रखते थे और समय आने पर वे सिंहासन से भी उतार सकते थे। अपने क्षेत्र मे उन्हे दीवानी और फौजदारी के समस्त अधिकार प्राप्त थे परन्तु मनसबदार इन शक्तियो से रहित थे।

मनसबदारो के पास अपनी जागीर में जहा उन्हे कर वसूल करने के अधिकार थे वहा भी प्रशासन उनके आधीन नही था। जागीर के निवासी उनकी कृपा पर निर्भर नही थे अपितु वे मनसबदारो के विरुद्ध केन्द्रीय शासन और सम्राट तक पहुँच सकते थे। यूरोपीय जागीरदारो के समान उनकी जागीरें स्थायी नही थी और किसी समय भी उन्ह एक जागीर से दूसरी जागीर मे भेजा जा सकता था। इस स्थानान्तरण के कारण मनसबदार स्वेच्छाचारी प्रशासक नही हो सकता था।

मनसबदारों को समय-समय पर अपने घोडे अथवा सैनिको को निरीक्षण के लिए प्रस्तुत करना पडता था और यदि वे निरीक्षण मे पूरे नही उतरते तो उनको दण्डित किया जाता था अथवा उनका वेतन कम कर दिया जाता था या मनसब मे कटौती कर दी जाती थी। इन विशेषताओ के कारण मनसबदारी ऐसे सामन्तो या जागीरदारो को जन्म न दे सकी जो सम्राट को गद्दी से उतारने का साहस कर सकें अथवा उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकें। ऐसी स्थिति मे मनसबदारो को यूरोप के सामन्तो अथवा जागीरदारो के समान स्वीकार करना सम्भव नही है।

3

मध्यकालीन सैनिक व्यवस्था

(अ) सल्तनत कालीन सेना व उसकी व्यवस्था

13 वीं शताब्दी में शक्ति ही राजसत्ता को स्थापित करने और उसे बनाये रखने की अविभाज्य सहचरी थी।[1] यदि तुर्कों ने भारत में अपना राज्य स्थापित करने के लिये इसको माध्यम बनाया तो इस आधार पर उन्हें किसी प्रकार से दोषी ठहराना उचित न होगा। साधारणतया प्रारम्भ में प्रत्येक राज्य की स्थापना का यही आधार रहा है और सल्तनत की भौगोलिक स्थिति ने इसे और भी आवश्यक बना दिया था। उत्तर-पश्चिम में मंगोल आक्रमणों का भय सदैव ही बना रहता था और नव-स्थापित तुर्की राज्य को यदि सुरक्षित रखना था तो सफलता से विरोध करना न केवल आवश्यक था अपितु अवश्यम्भावी भी था। मंगोल क्योंकि स्वयं में एक शक्ति थे इसीलिये केवल शक्ति के प्रदर्शन से ही उनकी बढ़ती हुई आकांक्षाओं को रोकना सम्भव था। इस संकट का सामना करने के लिये सुल्तानों ने उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर सदृढ दुर्गों की एक पंक्ति खड़ी कर तथा उनमें अपने योग्य और विश्वसनीय सेना-अधिकारियों की नियुक्ति कर इस समस्या का समाधान ढूंढा।[2]

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि सल्तनत की स्थापना एक ऐसे प्रदेश में हुई थी जहां की जनता का धर्म और आचार-विचार तुर्कों से सर्वथा भिन्न था और ऐसी स्थिति में दोनों में विरोध होना स्वाभाविक ही था। प्रत्येक जाति प्रत्येक स्थान पर नव-विजेताओं का विरोध करती आई है और यदि हिन्दुओं ने और विशेषकर राजपूतों ने इनका विरोध किया और इनके प्रति असहयोग और उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया तो यह स्वाभाविक ही था और समय-समय पर तुर्कों के परतन्त्रता के जूड़े को उतार फेंकने का असफल प्रयास किया तो यह भी अपेक्षित था। ऐसी स्थिति में इनका विरोध करने के लिये तुर्कों अथवा अन्य किसी और

---

1. मिनहाज-उस-सिराज-तबकात-ऐ-नासिरी, पृष्ठ 171.
2. डॉ० यू० एन०—सम आस्पेक्टस ऑफ मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री पृ० 31-57.

विजेता के सम्मुख अपनी शक्ति को दृढ़ बनाने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा न था। तुर्कों ने इसका समुचित उपयोग किया और भारत में क्योंकि तुर्कों की संख्या अत्यधिक कम थी इसलिये सुल्तानों ने प्रत्येक तुर्क के मिथ्याभिमान को कुरेद कर, राज्य में उनको सम्मानित पदों पर नियुक्त कर प्रत्येक से बगैर भेद-भाव के सैनिक सेवा की आशा की। सैनिक और असैनिक पदों में उन्होंने कोई अन्तर नहीं रखा। तुर्कों के लिये यह आवश्यक भी था क्योंकि हिन्दुओं की संख्या अत्यधिक थी और उनका सफल विरोध करने के लिये प्रत्येक तुर्क का सहयोग आवश्यक था। योग्य अथवा अयोग्य का प्रश्न तो उस समय उठता जब मांग की मात्रा सप्लाई से कम होती। तुर्कों को इस आधार पर एक शक्तिशाली सेना बनाये रखना आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त सुल्तानों को स्वयं अपने अमीरों और इस्लाम में दीक्षित अनुयायियों की विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों का भी संदेह था और इनको दबाना भी आवश्यक था अन्यथा किसी समय भी सल्तनत का दुःखद अन्त हो सकता था। इस समस्या के समाधान के लिये सुल्तानों ने सीधे अपने नेतृत्व में एक स्थायी सेना का निर्माण किया जिससे कि वह व्यक्तिगत रूप से सेना से सम्पर्क रख सकें और सैनिक केवल उन्हें ही अपना स्वामी और नेता समझें। इस आधार पर मध्यकालीन धारणा कि सेना ही राजपद है और राजपद ही सेना है, स्वीकार करना नीतिसंगत प्रतीत होता है।[1]

सल्तनत काल की सैनिक व्यवस्था मोटे रूप से तुर्की आदर्श पर आधारित थी। तुर्कों द्वारा चंगेज़ा न अपनाकर उसको अपनी आवश्यकता के अनुसार पुनः व्यवस्थित किया था। चंगेज़ खां की सैनिक व्यवस्था अत्यन्त सफल थी। उसकी सम्पूर्ण सैनिक व्यवस्था दशमलव प्रणाली पर आधारित थी और सम्पूर्ण सेना हजार सौ और दस की इकाईयों में बटी हुई थी। यही व्यवस्था गजनवी शासकों ने अपनाई और उन्हीं से तुर्कों ने इसे स्वीकार किया था। इसमें एक सारखेल के आधीन 10 असावेली, एक सिपहसालार के आधीन दस सारखेल, एक अमीर के आधीन दस सिपहसालार, एक मलिक के आधीन 10 अमीर और एक खान के आधीन 10 मलिक हुआ करते थे।[2] इस प्रकार से एक खान के आधीन 10,000 अश्वारोही, एक मलिक के आधीन 100 अश्वारोही और एक अमीर के आधीन 100 अश्वारोही हुआ करते थे।[3] डा० के० के० अनुसार[4] यह संख्या अधिकारियों द्वारा रखे जाने वाले सैनिकों की संख्या को इंगित नहीं करती है अपितु यह अमीर वर्ग का

1 बर्नी-फतवा-ए जहांदारी, पृष्ठ 22
2 बर्नी-तारीख-ए-फीरोजशाही, पृष्ठ—145
3 मसालिक-उल-अबसार, इलियट भाग 3, पृष्ठ 577
4 डे० डा० यू० एन० द गवर्नमेन्ट ऑफ द सल्तनत, पृष्ठ142

श्रेणी-विभाजन बताती है। अमीर खुसरो के कथन से मालूम होता है कि कैकूबाद के शासन में पांच हजार मलिकों ने 10 लाख सेना का संचालन किया था। इससे यही अनुमान ठीक प्रतीत होता है कि खान, मलिक व अमीर जो कि एक सैनिक श्रेणीकरण अथवा वर्गीकरण अमीरों को श्रेणी-बद्ध करने का एक सुलभ साधन था। व्यवहारिक रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि एक अमीर 50 से लेकर 1000 सैनिकों का अधिकारी था और एक मलिक के आधीन न्यूनतम 1000 सैनिक हुआ करते थे।[1] अमीर खुसरो ने "तुमान" शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ 10,000 सैनिक थे, जो कि सेना की सबसे बड़ी इकाई थी।[2]

मुस्लिम राज्य में प्रत्येक मुसलमान आंशिक रूप में राज्य की सेना का सदस्य समझा जाता था परन्तु व्यावहारिक रूप में केवल पेशेवार सैनिक ही इसके सदस्य थे। सेना में विभिन्न श्रेणियां थीं। सर्वप्रथम "जानदार" सैनिक थे जो सुल्तान के अंग-रक्षक थे। इनके अतिरिक्त स्थायी सेना थी जिसको 'वजहिस' तथा अस्थायी सेना को "गैर वजहिस" की संज्ञा से पुकारा जाता था। अमीरों और इक्तादारों की सैनिक टुकड़ियाँ भी थी जो कि सीमान्त प्रदेशों तथा महत्वपूर्ण स्थानों पर रक्खी जाती थी। इन समस्त सैनिकों को हम मोटे रूप से अश्वारोही, हस्ती व पैदल-सैनिक के रूप बांट सकते हैं। इन सबमें अश्वारोही सेना सबसे महत्वपूर्ण थी और प्रत्येक सुल्तान इस भाग को सुसज्जित रखने के लिये प्रयत्नशील रहता था। दूसरा महत्वपूर्ण स्थान हस्ती सेना का था जिसको कि सुल्तान राज्य के लिये एक मूल्यवान निधि मानते थे। पैदल सेना को निम्न स्तर का समझा जाता था और समस्त सल्तनत काल में इसका कोई महत्व नहीं था। अधिकतर पैदल सेना के सैनिक बोझा ढोने अथवा सेना के लिये आवश्यक व्यवस्था करने के काम में ही लगाये जाते थे।

अश्वारोही सेना ही शक्ति का प्रमुख आधार थी और प्रत्येक सुल्तान सेना के इस अंग को अधिक महत्व प्रदान करता था। इसी सेना की सहायता से सुल्तान मंगोलों को पराजित करने तथा उनमें आतंक पैदा करने में समर्थ हुये थे। साधारणतया अश्वारोही सेना की वेष-भूषा, काठी और रक्षात्मक शस्त्र तुर्की आदर्शों पर आधारित थे। आरम्भिक तुर्की सुल्तानों के द्वारा प्रचलित अनेकों सिक्कों से इस कथन की पुष्टि होती है। घोड़े पर एक इस्पात की झूल लटकी होती थी तथा

---

1. मसालिक-उल-अबसार, इलियट भाग 3, पृष्ठ 577.
2. कुरैशी, आई० एच०—दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द सल्तनत ऑफ देहली, पृष्ठ 153.

प्रत्येक सैनिक एक कवच और सिर-रक्षक से सुसज्जित रहता था। बारबोसा के अनुसार यह झूल इतनी हल्की होती थी कि घोड़े चौगान के खेल में भाग ले सकते थे।[1] प्रत्येक सैनिक के पास दो तलवारें, एक खंजर, एक तुर्की कमान और अनेक अच्छे तीर होते थे। काठी से लगी हुई तलवार रकाब की तलवार कहलाती थी और दूसरी तरकश की तलवार कहलाती थी।[2] कई अश्वारोही रुई की बंडी (जैकेट) भी पहनते थे। यद्यपि बारबोसा दिल्ली के अश्वारोहियों का वर्णन नहीं दे पाया है परन्तु वह उनकी चतुरता, युद्ध करने के गुण तथा अथवा अश्वों की प्रशंसा करता है। दूसरे यात्रियों ने भी सैनिकों की तीव्रता व सौदक्षता की प्रशंसा की है।[3]

इस युग में प्रत्येक अश्वारोही को एक अतिरिक्त अश्व देने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था और इसलिए अश्वारोहियों को "मुरातब", "सवार" व दो अस्पा (अश्व) की श्रेणियों में विभक्त कर रक्खा था। मुरातब वे थे जिनके पास अपने घोड़े न थे। सवार के पास एक घोड़ा और दो अस्पा के पास एक अतिरिक्त घोड़ा होता था। मुरातब अश्वारोहियों का प्रमाण अलाउद्दीन खलजी के समय में अधिक मिलता है। घोड़ों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक ओर तो स्वयं केन्द्र तथा प्रान्तों में अच्छी नस्ल के घोड़ों को पाला जाता था दूसरी ओर अरब, तुर्किस्तान आदि से प्राप्त किये जाते थे। मंगोलों के आक्रमण के समय विदेशी नस्ल के घोड़ों का व्यापार काफी मन्द पड़ गया था और केवल राजधानी में ही ये मिलना सम्भव थे। अलाउद्दीन के पास लगभग 70,000 घोड़े थे। फीरोज तुगलक जो कि अपनी सेना के प्रति अधिक सजग था उसके पास सरकारी अस्तबल में घोड़ों की काफी संख्या रहती थी। प्रत्येक युद्ध के समय सेना के साथ अतिरिक्त घोड़े भेजे जाते थे जिससे कि युद्ध में काम आये हुए घोड़ों की जगह इन्हें काम में लिया जा सके।[4]

अश्वारोहियों के पश्चात् हस्ति सेना का महत्व था। सुल्तान इनको बहुमूल्य मानते थे और इसीलिए प्रत्येक संधि में हाथियों को प्राप्त करने की शर्त मिलती है। अलाउद्दीन खलजी हाथियों को प्राप्त करने की शर्त पर बल देता था। बलबन भी एक हाथी को 500 अश्वारोहियों के बराबर मानता था। अपने पुत्र बुगरा खां को लखनौती में नियुक्त करते समय उसने उसे स्पष्ट रूप से बंगाल से हाथी भेजने के आदेश दिये थे। बगैर सुल्तान की अनुमति के अमीर भी हाथी रखने में असमर्थ थे और इसलिए दिल्ली सुल्तानों का हाथियों पर एकाधिकार था। समकालीन भारत में यद्यपि हाथियों के पालन पोषण की जानकारी के प्रमाण मिलते हैं, परन्तु ऐसा

1 बारबोसा—पृष्ठ 119
2 इब्न बतूतागिब—एच ए आर पृष्ठ 216
3 मसालिक उल-अबसार पृष्ठ 27
4 कुरेशी, आई एच —पृष्ठ, 141–42

अनुभव होता है कि दिल्ली में इसका समुचित रूप से विकास न हो सका इसलिए दूसरे प्रान्तो से ही हाथी मगाये जाते थे। सुल्तान हाथिया की बडी सख्या रखते थे इसका इससे ही अनुमान लगाया जा सकता है कि मुहम्मद तुगलक के पास लगभग 3000 हाथी थे। फीरोज तुगलक ने जब दूसरी बार बगाल पर आक्रमण किया तो उस समय उसके साथ 470 हाथी थे।[1]

हाथियो की देखभाल के लिए राज्य म शहना ए फील नामक अधिकारी होता था। साधारणतया दक्षिण व वाम भाग के लिए अलग अलग शहना और कभी-कभी दोनो ही भागो के लिए एक ही अधिकारी नियुक्त किया जाता था।[2]

हाथियो को दुर्ग तोडने, सैनिको को भारी सख्या म युद्ध क्षेत्र म ले जाने, युद्ध करने और यहा तक कि नदी म धारा के प्रवाह को कम करने के काम मे लिया जाता था जिससे कि सैनिक सरलता म नदी पार कर सकें। हाथियो पर धातु की झूल डाली जाती थी तथा इनकी सूड को धातु से ढक दिया जाता था जिससे कि कोई हानि न हो। ये इतने प्रशिक्षित होते थे कि युद्ध-स्थल म आते ही ये योद्धो व सैनिको पर टूट पडते थे जब इनके ऊपर बैठे हुए तीन अथवा चार योद्धा अपने तीर कमान आदि से शत्रु पर प्रहार करते थे।[3]

सल्तनत काल म पैदल सैनिको को 'पायक' की सज्ञा दी गई थी। ये अधिकतर हिन्दू अथवा दास आदि थे जो स्वय का घोडा लाने म असमर्थ थे इसलिए इनको साधारण कार्यो के लिए तैनात किया जाता था, जैसे द्वारपाल आदि। कभी कभी सुल्तान अश्वारोहियो की कमी होने पर इनको राज्य की ओर म घोडे देकर युद्ध क्षेत्र मे भेज दिया करते थे परन्तु इसके बाद भी वेतन आदि मामलो मे इन्हे एक 'पायक' के रूप म ही माना जाता था। यद्यपि ऐसा वर्णन मिलता है कि इन्होने अनेक युद्धो में भाग लिया था परन्तु इनके बाद भी जिन अभियानो म सैन्य सचालन द्रुत गति पर आधारित थे वहा इन पैदल सैनिको का उपयोग सम्भव नही था। पैदल सैनिको ने सल्तनत काल की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओ मे भाग लिया था, जैसे अलाउद्दीन की अतक खाँ के आक्रमण से इन पैदल सैनिको के द्वारा ही रक्षा की जा सकी थी और मलिक काफूर के विरुद्ध कुतबुद्दीन मुबारक शाह को गद्दी पर बैठाने का श्रेय इन पैदल सैनिको के षडयन्त्र से ही सम्भव हो सका था।[4]

अमीर स्वय अपने सैनिको की भर्ती करते थे। बुगरा खाँ को समाना और सुनम का इक्तेदार नियुक्त करते समय बलबन ने उसे आदेश दिया था कि वह पुराने

1 अफीफ—तारीख ए फीरोजशाही पृष्ठ, 144
2 कुरेशी, आई एच —पृष्ठ 143
3 कुरेशी, आई एच —वही, पृष्ठ 144
4 इ डा यू एन द्वारा उद्धृत, पृष्ठ 143

सैनिकों के वेतन बढ़ा दे तथा नये सैनिकों की भर्ती अधिक मात्रा में करे परन्तु सदैव ही सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति करते समय सतर्क रहे और केवल विश्वासपात्र लोगों को ही उच्च पद प्रदान करे। स्वयं बलबन को यह संदेह बना रहता था कि कहीं अमीर अपनी मर्जी के अनुसार सैनिक भर्ती कर विद्रोही न हो जावें। उसने समस्त महत्वपूर्ण स्थानों पर अपने अत्यन्त विश्वासपात्रों को ही नियुक्त कर रखा था। अमीरों के द्वारा स्वयं अपने सैनिकों की भर्ती की नीति सुचारु रूप से चलती रही और यदि इस सेना ने एक ओर मंगोलों का सफलतापूर्वक सामना किया तो दूसरी ओर समय-असमय पर विभिन्न क्षेत्रों में फैली हुई इन सैनिक टुकड़ियों को एकत्रित कर किसी अभियान के लिए प्रयुक्त करना अधिक सरल हो गया। मंगोलों के 1285 ई० के आक्रमण के समय बलबन ने दिल्ली, मुल्तान और समाना के सैनिकों को इसी प्रकार इकट्ठा किया था और मलिक काफूर के वारंगल-अभियान के समय अलाउद्दीन ने अपने अमीरों को उससे मिलने के आदेश भेजे थे तथा दीवान-ए-आरिज़ के द्वारा उनकी समस्त जाँच-पड़ताल की गई थी जिसमें लगभग 14 दिन लगे थे।

मसालिक-उल-अबसार के लेखक के अनुसार[1] मुहम्मद तुगलक के अश्वारोहियों की कुल संख्या लगभग 9 लाख थी। निश्चित ही यह संख्या स्वयं सुल्तान और अमीरों द्वारा भर्ती किए गये अश्वारोहियों की है। स्वाभाविक रूप से यह सेना राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में बिखरी हुई थी। फीरोज ने राज्याभिषेक के तुरन्त बाद अपने विश्वासपात्र दास मलिक बशीर को आरिज-ए-मामलिक नियुक्त किया और सैनिक भर्ती का समस्त उत्तरदायित्व उसको सौंपा। फीरोज की सेना में, दासों के अतिरिक्त जो पूरे वर्ष ही सेवारत रहते थे, लगभग अस्सी से 90 हजार अश्वारोही थे। स्पष्टतः क्योंकि इनकी भर्ती आरिज-ए-मामलिक ने की थी इसलिए यह संख्या केवल केन्द्र में रहने वाले सैनिकों की ही थी।

सैनिक व्यवस्था के केन्द्रीकरण का श्रेय अलाउद्दीन के सैनिक सुधारों को है। उसके सुधारों के परिणामस्वरूप एक ओर तो सैनिकों को नक़द वेतन दिया जाने लगा तथा दूसरी ओर उनको स्थायी आधार पर सेवा के लिए नियुक्त किया जाने लगा। सैनिकों की भर्ती आरिज के द्वारा की जाती थी। वह न केवल सुल्तान के अधीन रहने वाली सेना की ही भर्ती करता था अपितु राज्य के महत्वपूर्ण तथा सामरिक स्थानों पर रखने वाली सेना की भी भर्ती करता था और वही उनका लेखा-जोखा भी रखता था। अलाउद्दीन के राज्यकाल में युद्ध के अनेक अवसरों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने इन सैनिकों को अभियान के लिए नियुक्त अधिकारी से मिलने के आदेश दिये थे। देवगिरि के अभियानों के समय

1. डे. टा यू. एन. द्वारा उद्धृत, पृष्ठ 143.

सीमाओं पर स्थित सैनिकों को इस प्रकार के आदेश मिले थे। अलाउद्दीन ने विधिवत घोड़ों को दागने और 'हुलिया' लिखने की नीति को प्रचलित किया था जिससे कि सैनिक न तो एक ही घोड़े को जांच के लिए दुबारा प्रस्तुत कर सकें और न ही अच्छे घोड़ों के स्थान पर निम्न कोटि के खच्चर ही ला सकें। यह स्वीकार करना कि अलाउद्दीन ने इस नीति को विस्तृत आधार पर लागू किया होगा सम्भव नहीं है क्योंकि एक तो इस प्रकार का प्रयोग भारतीयों के लिए बिलकुल नया था और दूसरी ओर पूरे साम्राज्य में लागू करना सम्भव नहीं था। अधिकतर सम्भावना यही है कि यह केवल केन्द्र-स्थित सेना पर ही लागू किया गया होगा। मुहम्मद तुगलक के समय के बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं है, परन्तु फीरोज तुगलक के समय में इस नीति को त्याग दिया गया था। अधिकतर अमीर अपने दास, सेवक व सम्बन्धियों को हाजिरी के समय ले आते थे और सैनिकों के रूप में उनको प्रस्तुत कर उनके वेतन भत्ते आदि का स्वयं उपयोग कर लेते थे। घटिया किस्म के घोड़ों को खारिज के सम्मुख प्रस्तुत करके उनके सैनिक सेवा के योग्य होने का प्रमाण-पत्र लेकर स्वयं लाभ उठाया करते थे, यहां तक कि अनेक सैनिक वार्षिक जांच के समय अपने घोड़ों को भी प्रस्तुत न करते थे। फीरोज के समय में सेना में प्रचलित भ्रष्टाचार का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अपनी दयालु प्रवृत्ति के कारण उसने स्वयं एक सैनिक को एक टंका देकर सम्बन्धित अधिकारी से अपने घोड़े को स्वीकृत करवाने की व्यवस्था की। स्वयं शासक के द्वारा रिश्वत के लिए धन दिये जाने से सेना की योग्यता और व्यवस्था का सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है।[1]

अपने राज्यकाल के आरम्भ में फीरोज ने सैनिक सेवा को वंशानुगत कर दी। अनेकों वृद्ध और सैनिक सेवा के अयोग्य व्यक्तियों को सेवा में रहने दिया और मलिक ईमाद के प्रस्ताव को कि वृद्धों को सेना से निकाल कर उनके स्थान पर युवक और योग्य व्यक्तियों को सेना में भर्ती किया जावे ठुकरा दिया। उसने यह नियम बनाया कि एक व्यक्ति के वृद्ध होने के पश्चात् उसका पुत्र, पुत्र न होने पर उसका दामाद, दामाद न होने पर उसका दास सेना में उसका स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है। ऐसी स्थिति में सेना में योग्यता और निपुणता का स्थान प्रमुख न रहा।[2] सैनिक संगठन को दुर्बल बनाने में शेष कमी सैनिकों को जागीर के रूप में वेतन दिये जाने ने पूरी कर दी। सैनिक व्यवस्था में इन्हीं दोषों के कारण सुल्तान के बंगाल, उड़ीसा, नगरकोट व सिन्ध के अभियान असफल रहे। इस सैनिक अव्यवस्था ने ही मुस्लिम साम्राज्य की नींव हिला दी।

---

1 अफीफ—तारीख-ए फीरोजशाही, पृष्ठ 300-301.

2 अफीफ—वही, पृष्ठ 302-304.

जब सेना अभियान के लिए निकलती थी तो विभिन्न स्थानों पर स्थित सेना को एक निश्चित स्थान पर एकत्रित किया जाता था और वहां पर उनकी हाज़िरी व निरीक्षण होता था। बर्नी के विवरण से यह स्पष्ट होता है।

अभियानों के समय सेना की "तूमान" पद्धति पर व्यवस्था की जाती थी। ये तुर्कों की पुरानी पद्धति थी। अमीर खुसरो के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि अलाउद्दीन ने इसी आधार पर सेना की व्यवस्था की थी। अमीर खुसरो ने लिखा है कि प्रत्येक "तूमान" (10,000) को 1200 गज भूमि निश्चित कर दी जाती थी और उसे अपने निश्चित स्थान पर भेज दिया जाता था और इस प्रकार से दुर्ग को चारों ओर से घेर लिया जाता था।[1]

सल्तनत काल में सुल्तान ही सेना का अध्यक्ष व उसका सेनापति था। केवल सुल्ताना रजिया के राज्यकाल को छोड़कर राज्य में कोई स्थायी सेनापती न था। सम्भवत: स्त्री होने के नाते उसे यह अनुचित लगा कि वह स्वयं सेनापति का भार उठाये। इसलिए उसने स्थायी रूप से मलिक सैफुद्दीन को सेनापति बनाया और उसकी मृत्यु पर मलिक कुतुबुद्दीन हुसैन को इस पद पर नियुक्त किया। प्रत्येक अभियान के अवसर पर सेनानायक नियुक्त किया जाता था और अभियान की समाप्ति तक ही उसका कार्य-काल होता था। बगाल के विद्रोही तुगरिल खां के विरुद्ध प्रथम अभियान में अमीन खा को सेनापति नियुक्त किया गया था।[2] इसी प्रकार मलिक काफूर को दक्षिण के अभियानों के लिए[3] और जूना खां को वारंगल और तेलंगाना के अभियानों के समय सेनानायक नियुक्त किया गया था। जब कभी सेनापति को युद्ध का समस्त उत्तरदायित्व सौंपा जाता था तो साधारणतया सुल्तान उसे एक लाल छतरी प्रदान करता था।[4]

युद्ध के समय में सेनापति के बाद दूसरा महत्वपूर्ण स्थान आरिज़-ए-मामलिक का होता था। वस्तुत आरिज ही अभियान की सम्पूर्ण तैयारी के प्रति उत्तरदायी होता था और अभियान के लिए सैनिक टुकड़ियों को चुनने की जिम्मेदारी भी उसी की थी। महत्वपूर्ण युद्धों में स्वयं आरिज सेना के साथ जाता था परन्तु कभी-कभी वह अपने आधीन नायब आरिज को भी भेज देता था। सेना के रसद आदि की वह वही व्यवस्था करता था। युद्ध के बाद समस्त लूट के माल का वही निरीक्षण करता था और सेनापति की उपस्थिति में उसका बटवारा किया जाता था। यह काम

1 डे० यू० एन वही, पृष्ठ 147
2 इलियट भाग 3, पृष्ठ 114
3 वही, पृष्ठ 200
4 हबीब, मो —खजान-उल फतह, पृष्ठ 56

अत्यधिक महत्वपूर्ण था क्योंकि इस लूट के माल में से राज्य का भाग 'खम्स' वसूल किया जाता था और शेष सैनिकों में बाट दिया जाता था।

शान्तिकाल में सुल्तान के बाद आरिज सेना का सबसे बड़ा अधिकारी था और इस नाते वह सेना की समस्त व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी था तथा उसको समुचित रूप से युद्ध के लिये तैयार रखना था। वह प्रत्येक सैनिक की भर्ती करता था और प्रत्येक का वेतन निश्चित करता था। प्रत्येक सैनिक की पदोन्नति उसी के द्वारा की जाती थी। उनकी हाजिरी भी वही लेता था और वर्ष में एक बार वह प्रत्येक सैनिक व उसके अस्त्र-शस्त्रों आदि का परीक्षण करता था।

आरिज के पश्चात् अमीर आखूर भी सल्तनत काल की सेना का एक महत्वपूर्ण अधिकारी था। वह सदैव ही योग्य व्यक्ति होता था और राजधानी में सुल्तान के साथ ही रहता था। सम्पूर्ण सल्तनत काल में अमीर आखूर ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कुतुबुद्दीन एबक स्वयं मुहम्मद गोरी के राज्यकाल में अमीर आखूर था।[1] अलाउद्दीन खलजी का भाई अलमास बेग भी इसी पद पर था और अलाउद्दीन उसी की सहायता से गद्दी प्राप्त करने में सफल हुआ था। फखरुद्दीन जूना खां भी कुतुबशाह के राज्यकाल में इसी पद पर रहा[2] और फिर सुल्तान मुहम्मद तुगलक के नाम से गद्दी पर बैठा। इन तथ्यों के बाद भी यह स्वीकार करना कि अमीर आखूर केवल घुड़साल का निरीक्षक था सम्भव नहीं है।

जहा तक अमीरों और सैनिकों के वेतन का सम्बन्ध है हमें प्रारम्भिक युग के सम्बन्ध में जानकारी बहुत कम है। सल्तनत-काल के इतने लम्बे समय तक वेतनमान एक जैसा बना रहना सम्भव ही नहीं था। वेतन प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उस समय की राजनैतिक व आर्थिक स्थिति पर निर्भर था। सैनिकों की माग व सुल्तानों की विजय-नीति भी इसमें निर्णायक तत्व थे। मसालिक-उल-अबसार से हमें यह जानकारी मिलती है कि एक खान को एक लाख टंक, एक मलिक को 50 या 60 हजार टंक, एक अमीर को 20 या 40 हजार टंक, एक सिपहसालार को 20 हजार टंक व साधारण अधिकारियों को एक से 10 हजार टंक प्रति वर्ष मिलते थे। इन अधिकारियों को वेतन के बदले इतनी भूमि दे दी जाती थी जिससे कि इनके वेतन के बराबर आय प्राप्त हो सके। ये उनका व्यक्तिगत वेतन था जिसमे सैनिकों का वेतन नहीं मिला हुआ था।[3] इस नीति से अमीर को साधारणतया ऐसी भूमि

1. रेवर्टी—तबकात-ए-नासिरी, पृष्ठ, 514.
2 इलियट भाग 3, पृष्ठ 224.
3 मसालिक-उल अबसार, पृष्ठ 28–29.

मिलती थी जिसकी आय निर्धारित वेतन से अधिक ही होती थी और एक प्रकार से वह अधिक लाभ का भागी भी होता था। परन्तु इसके अतिरिक्त इसमें एक कठिनाई थी। यह आवश्यक नहीं था कि जिस स्थान पर अमीर को भूमि दी गई हो उसी स्थान पर उसकी नियुक्ति भी जावे। ऐसी स्थिति में स्वयं अमीर इस बात के लिए उत्तरदायी था कि वह अपने कारिन्दों को नियुक्त कर वहां से आय वसूल करें।

जहां तक सैनिकों को वेतन देने का प्रश्न था ऐसा अनुभव होता है कि इल्तुतमिश ने सैनिकों को नकद वेतन देने के बदले उन्हें भूमि दे दी थी। बलबन के राज्यकाल में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि उसके पहले लगभग दो हजार घुड़सवारों को दोआब में वेतन के बदले गाँव प्रदान किये गये थे परन्तु उन्होंने राज्य की उचित सेवा नहीं की थी। बलबन ने यद्यपि इस क्षेत्र में सुधार का प्रयास किया परन्तु वह भी पूर्ण-रूप से इस अव्यवस्था को सुधारने में असफल रहा। वेतन के अतिरिक्त सैनिकों को युद्ध की लूट में से भी हिस्सा मिलता था और क्योंकि प्रारम्भिक वर्षों में सुलतानों के द्वारा अनेक अभियान किये जाते थे इसलिए इससे भी सैनिकों को काफी धन मिल जाता था। अलाउद्दीन के राज्याभिषेक तक सैनिक इस सुविधा का उपभोग करते रहे परन्तु जब अलाउद्दीन ने लूट के 4/5 भाग को स्वयं हस्तगत करने की नीति अपनाई तो सैनिकों के लिए एक नई समस्या खड़ी हो गई क्योंकि आय का एक अच्छा साधन इस प्रकार समाप्त हो गया था।

अलाउद्दीन ने अपने सैनिकों को नकद वेतन देना आरम्भ किया परन्तु सम्भवतः यह नीति केवल उन सैनिकों पर ही लागू की गयी जिनको केन्द्रीय सरकार के द्वारा ही भर्ती किया जाता था। प्रान्तों में भर्ती की गई सेना को अब भी पहले की ही तरह भूमि की आय से ही वेतन दिया जाता था। बर्नी के द्वारा दिये गये भ्रमात्मक विवरण से सैनिकों का वेतन सम्बन्धी विवाद उठ खड़ा हुआ है।

अलाउद्दीन के समय में एक मुरातब सैनिक को प्रति वर्ष 234 टंक वेतन के रूप में दिये जाते थे। सरकारी आधार पर मुरातब सैनिक वह था जो कि पेशेवर रूप में सैनिक हो तथा जिसको निरीक्षण के पश्चात् सेना में नियुक्त किया हो। सैनिक के पास एक घोड़ा होना आवश्यक था और ऐसे सैनिक को प्रति वर्ष 234 टंक दिये जाते थे।[1] यदि उसके पास एक अतिरिक्त घोड़ा हो, जो निश्चित रूप में उसकी कार्यक्षमता को बढ़ायेगा, तो उसको इस अतिरिक्त घोड़े के 78 टंक प्रति वर्ष मिलते थे और जो दो अस्पा कहलाता था उसे 312 टंक प्रति वर्ष मिलते थे। 234 टंक उसके वेतन के रूप में और 78 टंक अतिरिक्त घोड़े को रखने के। क्योंकि उसे अतिरिक्त भत्ता मिलता था इसलिए सुल्तान दो घोड़े रखने पर जोर देता था।

1. डा० के. एस. लाल—हिस्ट्री ऑफ द खलजीस, पृष्ठ 194.

साधारण सैनिक को जो एक घोड़ा ही रखता था उसे एक ग्रस्पा कहा जाता था और प्रति वर्ष 234 टंक वेतन के रूप मे मिलता था। बरनी के अतिरिक्त दूसरे समकालीन इतिहासकारो के विवरण से भी इसी की पुष्टि होती है कि एक घोड़ा रखने वाले सैनिक को प्रति वर्ष 234 टंक मिलते थे और एक अतिरिक्त घोड़ा रखने वाले को 78 टंक अतिरिक्त प्रतिवर्ष दिए जाते थे। परन्तु डा. आई. एच. कुरेशी इस मत को स्वीकार नहीं करते है। डा. कुरेशी ने फरिश्ता के मत को स्वीकार करते हुए सैनिकों के तीन विभिन्न वेतनमान बताये हैं, जिनमे सैनिकों को 234,156 व 78 टंक दिये जाते थे। उनके अनुसार मुरातब, सवार व दो ग्रस्पा को क्रमश 234 156, 78 टंक प्रति वर्ष वेतन दिया जाता था। उनके अनुसार सवार सैनिक दो ग्रस्पा सैनिक से श्रेष्ठ था क्योंकि सवार अपने पराक्रम से एक सौ मगोलों को खदेड सकता था जबकि दो ग्रस्पा केवल दस मगोलो को बन्दी बना सकता था।

डा. कुरेशी के मत को स्वीकार करने में अनेक कठिनाईयां है। प्रथमतः हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर यह प्रमाणित किया जा सके कि मुरातब सैनिक एक वरिष्ठ अधिकारी था। यदि ऐसा होता तो बरनी कम से कम उसकी स्थिति के सम्बन्ध मे जानकारी देता। इसके विपरित यह अधिक सत्य हैं कि मुरातब एक साधारण सैनिक (ग्रहल-ए-जिहाद) था जिसको 234 टंक प्रति वर्ष मिलते थे। इसके अतिरिक्त बर्नी ने कही पर भी यह नही लिखा कि दो ग्रस्पा सैनिको मे सबसे निम्न था ग्रथवा सवार दो ग्रस्पा से श्रेष्ठ समझा जाता था। 'सवार' शब्द का प्रयोग बर्नी ने केवल ग्रश्वारोही के सदर्भ मे ही किया जाता है। उसका मतलब केवल यही था कि भारतीय सैनिक इतना शक्तिशाली एव कुशल हो गया था कि वह दस युद्धबन्दी बना सकता था। साधारणतया 10 को युद्ध-बन्दी बनाना, 100 को खदेडने से कही ग्रधिक कठिन था। बरनी का ग्रतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन केवल भारतीय सैनिको की श्रेष्ठता को ही बताता है। इस प्रकार से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि एक सैनिक को 234 टंक ग्रथवा $19\frac{1}{2}$ टंक प्रतिमाह मिलते थे और एक अतिरिक्त घोड़े के रखने पर $4\frac{1}{2}$ टंक और दिया जाता था।

सैनिक का वेतन कम था इसमे कोई दो मत नही हैं, परन्तु ग्रलाउद्दीन इससे ग्रधिक देने में ग्रसमर्थ था और वह भू-राजस्व के रूप मे भी वेतन देने को तत्पर नही था इसलिए उसने जीवन की ग्रावश्यकताग्रो को सस्ती बना दिया, उन पर नियन्त्रण कर दिया जिससे की सैनिक नाम-मात्र के वेतन मे जीवन निर्वाह कर सके। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय भी नही था। ग्रपनी विजय लालसा को फलीभूत करने के लिए राज्य के सीमित साधनों के सन्दर्भ मे यही एक मात्र उपाय था।

गयासुद्दीन तुगलक के समय मे दिये जाने वाले वेतन की हमको समुचित जानकारी नही है परन्तु इतना ग्रवश्य है कि सैनिक को ग्रलाउद्दीन के राज्यकाल की

ग्रपक्षा ग्रधिक वेतन मिलता रहा होगा। गयासुद्दीन ने ग्रपने ग्रधिकारियों को ये ग्रादेश दे रक्खा था कि वे सैनिकों के वेतन से कोई कटौती न करें ग्रपितु उन्हें कुछ ग्रधिक दें।[1] डा० के० ग्रनुसार इससे यह ग्राभास होता है कि यद्यपि सैनिक का वेतन केन्द्रीय सरकार के द्वारा निश्चित किया जाता था परन्तु इक्तादार ग्रथवा सैनिक ग्रधिकारी ग्रपने ग्राधीन सैनिकों को वेतन चुकाते थे।[2] मुहम्मद तुगलक के समय में खाना, कपड़ा ग्रौर चारे के ग्रतिरिक्त सैनिक का वेतन 500 टक प्रतिवर्ष था।[3] यह स्पष्ट नहीं है कि सैनिक को खाना, कपड़ा, चारा ग्रादि केवल युद्ध के समय ही दिया जाता था ग्रथवा शान्ति काल में भी वह इनको पाने का ग्रधिकारी था। मुहम्मद तुगलक भी वेतन नकद के रूप में ही देता था। फिरोज शाह ने नकद वेतन की नीति को त्याग दिया ग्रौर सैनिकों को भूमि प्रदान की जो इससे प्राप्त ग्राय पर जीवन निर्वाह करते थे। ग्रलाउद्दीन ग्रौर मुहम्मद तुगलक के समय के समस्त कठोर सैनिक नियम ग्रब मृत प्राय हो गये थे। यद्यपि बरनी ग्रौर ग्रफीफ ने सैनिकों के प्रति फीरोज की नम्र नीति की प्रशंसा की है, परन्तु सुल्तान ने इस प्रकार की नीति ग्रपनाकर सल्तनत को पतन की ग्रोर तेजी से ग्रग्रसर किया।

सल्तनत काल में यूनान के ग्रग्नि शस्त्रों की जानकारी थी। ग्रागलगाऊ बाण भाले व दाह्य पदार्थ शत्रु पर फेंके जाते थे। खजाइन उल फ्तह के ग्रनुसार दिल्ली की सेना ने तैमूर के विरुद्ध हथगोलों ग्रौर ग्रग्नि बाणों का प्रयोग किया था।[4] 'कुमकगीर' शब्द के प्रयोग से ऐसा ग्रनुभव होता है कि 13 वीं शताब्दी में ये तोप का ग्रपरिष्कृत रूप था।[5] 'मग ए मगरिबि' शब्द के उपयोग से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ग्रलाउद्दीन के समय में तोपखाने का प्रयोग किया जाता था यद्यपि यह ठीक है कि सल्तनत काल में इस क्षेत्र में ग्रधिक उन्नति नहीं हो पाई थी। इसका उपयोग ग्रधिकतर गुजरात ग्रौर दक्षिण में ही हो पाया था।

दुर्ग की दीवारों को तोड़ने ग्रथवा दुर्ग के ग्रन्दर गोले ग्रौर दाहक पदार्थों को फेंकने के लिये ग्रनेकों प्रकार की मशीनों का उपयोग किया जाता था। समकालीन इतिहासकारों ने इस युग में प्रयोग होने वाली ग्रनेकों मशीनों का वर्णन तो किया है परन्तु उनका विवरण नहीं दिया है। मगरबी का प्रयोग सम्भवत ग्राग लगाने तथा शीघ्र जलने वाले पदार्थों को फेंकने के लिये किया जाता था। मंजनीक का प्रयोग

1 बरनी वही, पृष्ठ 429
2 डे, डा यू एन—वही पृष्ठ 152
3 इलियट भाग 3, पृष्ठ 577
4 ग्रमीर खुसरो—खजाइन उल-फतह, पृष्ठ 85
5 कुरैशी ग्राई एच—वही, पृष्ठ 145

भी इसलिये किया जाता था। इनसे दुर्ग की मनिहारों और मुंडेरों पर ठीक निशाना लगाया जा सकता था। प्रक्षेपक (प्रोजेक्टाईल्स) साधारणतया भारी होते थे और गति से फेंके जाते थे। यह दुर्ग की दीवारों को भेदने में समर्थ थे। ये शस्त्र सुवाह्य अथवा स्थिर दोनों ही प्रकार के होते थे। 'गरगच' नामक चलता फिरता मचान था जिसे ऊँचा करके दुर्ग की दीवार के बराबर कर दिया जाता था जिससे दुर्ग पर आक्रमण करने में सुविधा होती थी। 'साबत' नामक एक ढका हुआ स्थान बनाया जाता था जिससे कि सैनिकों को शत्रु के प्रक्षेपणास्त्रों से रक्षा की जा सके और वे दुर्ग की प्राचीर को तोड़ने में समर्थ हो सकें। 'पाशेब' का भी प्रयोग किया जाता था जो एक प्रकार के मिट्टी का मचान था जिसे दुर्ग की दीवारों की ऊँचाई के बराबर बनाया जाता था। इस पर आग और पत्थर फेंकने वाली मशीने रक्खी जाती थीं। कभी-कभी ये पाशेब इतने अधिक बड़े होते थे कि इस पर 100 सैनिक साधारणतया एक साथ चल सकते थे। सुरंग लगाने की व्यवस्था भी प्रचलित थी जिसमें किसी दीवार के नीचे एक लम्बा गड्ढा खोदकर उसमें आग लगाऊ पदार्थ भरे जाते थे और फिर इसको जलाकर दुर्ग में दरार करने अथवा दीवार को तोड़ने का काम लिया जाता था।[1] दुर्ग की खन्दक को भरने के लिये बालू से भरे हुये बोरों का उपयोग किया जाता था जिससे कि सैनिकों को दुर्ग की दीवार तक पहुँचने के लिये रास्ता मिल सके।

दुर्गों का उस समय अत्यधिक महत्व था। साम्राज्य की रक्षा करने, शत्रु को रोकने तथा उनका विरोध करने के लिये ये आवश्यक थे। सल्तनत काल में बलबन ने इनकी महत्ता को भाव कर मगोलों के आक्रमणों का सफलता से विरोध करने के लिये कम्पिल पटियाली और भोजपुर में दुर्गों का निर्माण करवाया था। अलाउद्दीन खलजी ने भी इनकी महत्ता को समझकर मगोलों के 1303 के आक्रमण के बाद पुराने दुर्गों की मरम्मत व नये दुर्गों के निर्माण के आदेश दिये।[2] दुर्गों के चारों ओर कटिदार वृक्ष व झाड़ियां दूर दूर तक लगा दिये जाते थे जिससे कि शत्रु के अश्वारोही गति से दुर्ग की ओर न दढ़ सकें। अधिकतर दुर्गों में गुप्त रास्ता रक्खा जाता था जिससे कि आपत्ति काल में उससे निकल कर भागा जा सके। दुर्गों में रसद आदि की समुचित व्यवस्था रहती थी जिससे अधिक समय का सामना सफलता से किया जा सके।

प्रत्येक दुर्ग में एक अधिकारी होता था जिसे साधारणतया कोतवाल कहते थे। उसी के पास दुर्ग की चाबियां रहती थीं। कभी-कभी दुर्ग-अधिकारी और कोतवाल

---

1. अमीर खुसरो—खज़ाइन-उल-फ़्तूह, पृष्ठ 66
2. बरनी—वही, पृष्ठ 302-3

अलग-अलग व्यक्ति थे। मगू खा के कच्छ पर आक्रमण के समय मुखलीसुद्दीन कोतवाल था परन्तु दुर्ग अधिकारी एक ख्वाजा (नपु सक) था परन्तु अधिकतर कोतवाल ही दुर्ग का अधिकारी होता था। बतूता के वर्णन से यह प्रमाणित होता है।

कोतवाल के अतिरिक्त दुर्ग मे एक बड़ी सख्या मे मुफरिद हुआ करते थे। सम्भवत ये इन्जीनियर हुआ करते थे जो दुर्गों का निर्माण करने और उनकी सुरक्षा की व्यवस्था बनाने के प्रति उत्तरदायी थे। काजी और मीरदाद नामक अधिकारी भी हुआ करते थे।

सुल्तानो की युद्ध-नीति परम्परागत मुस्लिम पद्धति पर आधारित थी। सेना को केन्द्र, उत्तर तथा दक्षिण भाग, हरावल व चन्दावल के रूप मे खड़ा किया जाता था। इनके अतिरिक्त दो पार्श्व या बाजू के दल होते थे। सुल्तान स्वय यदि वह युद्ध मे भाग लेता तो उलेमाओ के बीच केन्द्र में रहता था। उसके आगे और पीछे धनुर्धारी होते थे। सबसे आगे की पक्ति में लोहे की झूमर से सुरक्षित हाथी सेना होती थी जिन पर अनेको योद्धा बैठे रहते थे। हाथियो के बाद घोड़ों, पैदल सैनिकों की टुकड़िया रहती थी और उनके बीच खाली जगह छोड़ दी जाती थी जिससे कि अश्वारोही सेना इस जगह से निकलकर शत्रु पर सरलता से आक्रमण कर सके।[1]

सेना की सहायता के लिये यजीक (स्काउट) होते थे जो शत्रु की गतिविधियो के बारे मे जानकारी देते थे। सल्तनत युग मे यजीक अत्यधिक महत्व रखते थे और प्रत्येक अभियान के साथ इनको ले जाया जाता था। वास्तविक रूप मे ये एक प्रकार से सेना की आखो के समान कार्य करते थे। सेना म अस्पताल-गाड़ी तथा जख्मी सैनिको के लिये अस्पताल की भी व्यवस्था थी।

सेना के साथ सदैव ही वाधकर रहते थे। फीरोज तुगलक ने इतने बड़े ढोलो का निर्माण करया था जो हाथियों पर लि जाये जाते थे। सेना के साथ बड़े बड़े ध्वज भी रहते थे। कुतुबुद्दीन एबक के ध्वज पर नव उदित चन्द्रमा, परदार सर्प अथवा सिंह की आकृति अकित रहती थी। फिरोज तुगलक के ध्वज पर भी परदार सर्प की आकृति अकित रहती थी[2] ये ध्वज इतने बड़े और भारी होते थे कि इन्हें हाथियो पर ही ले जाना सम्भव था और य काफी दूर से चमकते थे। अमीरो को भी अपने निजि ध्वज ले जाने की आज्ञा थी। मुहम्मद तुगलक के राज्यकाल मे एक "खान" को सात ध्वज और एक अमीर को तीन ध्वज ले जाने की आज्ञा थी। जिस समय फीरोज तुगलक ने बगाल के शम्सुद्दीन पर आक्रमण किया उस समय उसकी सेना मे उसके तथा अधिकारियो और अमीरो के कुल ध्वजो की सख्या लगभग 500 थी।

1. कुरेशी, आई. एच —वही, पृष्ठ 149
2. अफीफ—वही, पृष्ठ 369

इस प्रकार सल्तनतकालीन सैनिक व्यवस्था मुख्य रूप से परम्परागत मुस्लिम पद्धति पर आधारित थी। यदि एक ओर अलाउद्दीन जैसे कठोर शासकों ने सेना में अनुशासन बनाये रखने का सफल प्रयास किया तो दूसरी ओर फीरोज तुगलक ने अपनी उदार नीति से उस समस्त अनुशासन व व्यवस्था को समाप्त कर दिया। सेना का विभाजन तथा उसकी व्यवस्था भी प्रचलित मुस्लिम पद्धति पर ही आधारित थी। सेना की युद्ध नीति में वे तत्व दृष्टिगोचर होते हैं जो आगे चलकर बाबर ने इब्राहिम लोदी के विरुद्ध पानीपत के प्रथम युद्ध में अपनाये थे।

मुगलकालीन सेना व उसकी व्यवस्था —

मुगल शासकों की सेना का मुख्य आधार घुड़सवार सैनिक थे। आरम्भ में इनका सगठन बड़ी ही अव्यवस्थित दशा में था। बाबर और हुमायूँ ने केवल योद्धा सैनिक-नेताओं की टुकड़ियों पर सैन्य व्यवस्था बनाये रक्खी थी। और प्रत्येक योद्धा-सैनिक नेता को उसके महत्व के अनुसार वेतन दिया जाता था। इन दोनों शासकों के युग में साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत न था जिससे कि इनकी टुकड़ियों के सम्बन्ध में विश्वसनीय जानकारी रखने की आवश्यकता अनुभव हो। लगातार युद्ध ही इनकी पटुता तथा सक्रियता का मापदण्ड था। परन्तु यह परिस्थितियाँ अकबर के शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों के बाद बदलने लगीं और इसमें स्पष्ट कमियाँ स्पष्ट होने लगीं। अधिकारी वर्ग निश्चित सैनिकों की संख्या रखने में ढीलाई दिखाने लगे इसलिये अपने शासन के 11 वें वर्ष में अकबर ने आदेश दिया कि प्रत्येक अधिकारी अपने पद के अनुसार निश्चित की गई सैनिकों की संख्या निर्बाध रूप से रक्खेगा। सैनिकों को दिये जाने वाले वेतन भी निर्धारित किये गये परन्तु यह आदेश प्रभावपूर्ण साबित न हो सका। अधिकारी इसके बाद भी निर्धारित सैनिक संख्या को रक्खे बगैर ही उनका वेतन राज्य से वसूल कर लिया करते थे और निरीक्षण के समय नये-नये रंगरूटों को भरकर वे अपना काम चला लेते थे और निरीक्षण होने के तुरन्त बाद उन्हें अलग कर देते थे। अकबर इस प्रचलित कुप्रथा से परिचित था इसलिये अपने शासन के 19 वें वर्ष में उसने इसे रोकने के लिये अन्य कदम उठाये। सर्वप्रथम उसने मनसबदारी प्रथा को अपनाया जिसके अन्तर्गत उच्च अधिकारियों का आदर्श (पेट्रन) निश्चित किया गया, उनका एक सम्मानप्रद पद निश्चित किया गया तथा उनके उत्तरदायित्वों को भी स्पष्ट कर दिया गया। घोड़ों को दागने तथा सैनिकों का हुलिया लिखने की प्रथा आरम्भ की जिससे कि सरदार में धोखा देने की सम्भावना न रहे। वे अधिकारी जिन्होंने इन सुधारों का विरोध किया उनको दरबार में उपस्थिति पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा मिर्जा अजीज कोका जैसे सम्बन्धियों से मनसब छीन कर उन्हें नजरबन्द कर दिया गया। अकबर अपनी दृढ़ता के आधार पर ही महत्वपूर्ण नियमों को लागू करने में समर्थ हुआ। इस दृढ़ता से ही अकबर ने अमीरों

की शक्ति पर अंकुश लगाया तथा अमीर पूर्णतया सर्वोच्च सत्ता के आधीन होकर उसके कृपा-पात्र के रूप में रह गये। जब तक शासक इन नियमों को कठोरता से लागू करते रहे, अमीरों की हिम्मत न हुई कि वे आदशों की अवज्ञा कर सकें। स्वाभाविक रूप से इन आदेशों का प्रभाव भू-राजस्व पर पड़ा क्योंकि जब तक भू-राजस्व के निश्चित आंकड़े प्राप्त न हो जावें तब तक वेतन के रूप में भू-राजस्व को देना संभव न था। इसलिये अस्थायी रूप में कुछ समय के लिये समस्त आवंटन निरस्त कर दिये गये तथा वेतन का भुगतान नगदी के रूप में किया जाने लगा।[1]

इस नीति के अन्तर्गत सर्वप्रथम घुड़सवार व मनसवदार के बीच भेद निश्चित किया गया। वे जो मनसवदार बनने योग्य थे उनसे ये आशा की जाती थी कि वे अपने रिसाले को राज्य के अनुमोदन के लिये प्रस्तुत करेंगे। अनुमोदन प्राप्ति के पश्चात उन्हें घोड़ा को दगवाने व हुलिया दर्ज कराने का आदेश दिया जाता था। विशेष परिस्थितियों में सैनिकों को उनकी उपलब्धि के आधार पर उच्च पद दे दिये जाते थे। ऐसे सैनिक 'अहदी' कहलाते थे। वे मनसवदार जो समस्त औपचारिकताओं की पूर्ति कर देते थे, नियमानुसार वेतन लेने के अधिकारी थे। कभी-कभी ऐसा भी सम्भव था कि भर्ती किया जाने वाले व्यक्ति भर्ती के योग्य होने के साथ ही कमान का नेतृत्व करने की क्षमता रखता हो परन्तु धनाभाव में घोड़े जुटाने मे असमर्थ था, ऐसी स्थिति में उसे घोड़े खरीदने के लिये राज्य की ओर से धन दिया जाता था। इनको दूसरे मनसवदारों की तुलना मे जो अपने घोड़ों का स्वयं इन्तजाम करते थे केवल आधारभूत वेतन ही दिया जाता था और ये 'बरवाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध थे। इनमें से कुछ मनसवदारों के आधीन तथा कुछ राज्य की गैर-सैनिक सेवाओं मे रख लिये जाते थे। दोनों के ही वेतन-दर अर्थात् जो मनसवदारों के अधीन सैनिक सेवायें करते थे तथा दूसरे वे जो खालसा भूमि में गैर सैनिक सेवायें करते थे, अलग-अलग थे। असाधारण परिस्थितियों मे ही एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी मे स्थानान्तरण किया जाता था।

कभी-कभी ऐसे उम्मीदवार भी होते थे जो अपने आधीन सैनिकों को जुटाने मे असमर्थ थे अथवा वे जो मनसवदारों के द्वारा प्रवर्तित नहीं हुआ करते थे परन्तु सैनिक सेवा के योग्य थे। ऐसी स्थिति में उनको विधिवत भर्ती कर ऐसे मनसवदारों के आधीन रख दिया जाता था जो स्वयं के सैनिकों को लाने मे असमर्थ रहे हों। इस निम्न श्रेणी के मनसवदार उच्च श्रेणियों के मनसवदार की सैन्य टुकड़ी के रूप मे कार्य करते थे जिन्हें 'दाखली' कहते थे। उदाहरणार्थ एक हजार सैनिकों का

1. अकबरनामा, पृष्ठ 117.

अधीक्षक दस हजारी मनसबदार के आधीन रहता था अथवा पाँच सौ सैनिकों का अधीक्षक पाच हजारी मनसबदार के आधीन रक्खा जाता था।

कुछ मनसबदार ऐसे भी थे जिनको काम के अनुरूप अपने मनसब की सख्या से अधिक सैनिकों को रखने की आज्ञा दी जाती थी। ऐसी स्थिति में उन्हे अतिरिक्त सैनिकों को भर्ती करने की अनुमति दे दी जाती थी परन्तु ये नये भर्ती किये गये सैनिक किसी प्रकार भी उनके स्थायी मनसब मे नही गिने जाते थे। इस प्रकार के सैनिक 'कुमक' सैनिक कहलाते थे। दाखली और ऐसे सैनिकों मे कवल यही अन्तर था कि ये स्थायी रूप से मनसब के अभिन्न अग नही थे। इस प्रकार से घुड़सवार सेना के प्रमुख अगो मे मनसबदार, अहदी, बरवाडी, तावीनान, दाखली व कुमक सैनिक थे।

अहदी सैनिक वे थे जिनको व्यक्तिगत रूप मे भर्ती किया गया था तथा वे किसी मनसबदार की सैनिक टुकड़ी के अग न थे। वे मोटे रूप से शासक के व्यक्तिगत सेवक थे। यद्यपि इनको कोई मनसब न दिया गया था, परन्तु ये सैनिक रूप म सेवा के लिये अत्यधिक उपयोगी माने जाते थे और साधारण सैनिको की अपेक्षा अधिक दक्ष व कार्यकुशल समझे जाते थे। आरम्भ मे कुछ अहदी सैनिको के पास आठ घोड़े थे परन्तु बाद मे इनकी अधिकतम सख्या पाच घोड़ निश्चित की गई। इनकी व्यवस्था के लिये एक अलग बख्शी व दीवान होता था[1] और एक उच्च श्रेणी क मनसबदार को इस वर्ग के सैनिको की साधारण देखरेख के लिये नियुक्त किया जाता था। 1591 ई मे, 1000 अहदियो को सलीम के कमान मे रख दिया गया था परन्तु ऐसा बहुत ही कम होता था।[2]

ये राज्य की सर्वोत्कृष्ट सैनिक टुकड़ी थी और साधारण सैनिको की अपेक्षा इनका वेतन-मान भी अपेक्षाकृत उच्चतर था। उनके वेतन तथा वर्ष मे तीन बार उनके घोडो तथा अस्त्र-शस्त्रो के निरीक्षण से उनका महत्व स्पष्ट हो जाता है। इनको केवल व्यक्तिगत आधार पर सेवा-रत किया जाता था और यद्यपि ये निर्विवाद रूप से कुशल सैनिक थे परन्तु इनको सैनिक रूप में संगठित नहीं किया गया था। अधिकतर इनको गैर-सैनिक कार्यों मे अथवा महल सम्बन्धी कार्यों मे ही लगाया जाता था। प्रारम्भिक काल में जब शासन सुदृढ़ न था ये अत्यधिक कार्य-रत थे, यहा तक कि अधिकारियो को प्रतिदिन अहदी सेना में नये रगरूटो को भर्ती कराने के आदेश थे परन्तु जैसे-जैसे मुगल शासन अपने पतन की ओर अग्रसर होता गया तथा

---

1. अकबरनामा, बेवरिज, भाग 3, पृ 994
2. शर्मा, श्रीराम,—मुगल एडमनिस्ट्रेशन, पृ 146.

शासन में शिथिलता आने लगी वैसे ही वैसे ये केवल एक नाकारों की संस्था रह गयी तथा अकर्मण्यता और अहदी एवं दूसरे के पर्यायवाची शब्द समझे जाने लगे ।

घुड़सवारों में सबसे महत्वपूर्ण भाग उन सैनिकों का था जो मनसबदारों द्वारा सेवा के लिये लाये जाते थे तथा उनके मनसब के अंग थे। इन्हें 'ताबीनान' कहा जाता था। इन्हें मनसबदारों द्वारा ही भर्ती किया जाता था तथा राज्य के बख्शी अथवा कभी-कभी शासक के सम्मुख निरीक्षण के लिए प्रस्तुत किया जाता था। *घोड़ों की नस्ल का निर्णय किया जाता था तथा उसी आधार पर घुड़सवार का वेतन* निश्चित किया जाता था। इन घुड़सवारों को यक अस्पा, दो अस्पा व सी अस्पा की श्रेणियों में बांटा गया था जो इस बात पर निर्भर था कि अमुक सवार कितने घोड़े रखता है। मनसबदार के आधीन कितने इस प्रकार के सैनिक रहेंगे इस बात पर निर्भर करता था कि उसका सवार दर्जा कितना है। साधारणतया औरंगजेब के समय में प्रत्येक का मासिक वेतन 25 रु था। दस घुड़सवारों का अधिकारी दहबाशी कहलाता था। दस घुड़सवारों को इस प्रकार संयोजित किया जाता था कि प्रत्येक दशा में घोड़ों की संख्या मनुष्यों की संख्या से अधिक रहे। ये यक-अस्पा, अर्थात् एक घोड़ा रखने वाले, दो-अस्पा अथवा दो घोड़े रखने वाले और सी-अस्पा अर्थात् तीन घोड़े रखने वाले होते थे। प्रारम्भ में इन तीन श्रेणियों के अतिरिक्त चौथी श्रेणी चहार-अस्पा अर्थात् चार घोड़े रखने वाले सैनिक की भी हुआ करती थी। परन्तु ऐसा अनुभव होता है कि बाद में यह श्रेणी बन्द कर दी गई थी। अकबर के प्रारम्भिक काल में 10 सवारों के पास 25 घोड़े हुआ करते थे जिनमें दो चहार-अस्पा, तीन सी-अस्पा, तीन दो-अस्पा व दो यक-अस्पा थे। आगे चलकर प्रत्येक 10 सवारों के पास 20 घोड़े रहा करते थे जिनमें तीन सी-अस्पा, चार दो अस्पा व तीन यक अस्पा हुआ करते थे।[1] *शाहजहां के समय में 10 सवारों के पास 22 घोड़े रहते थे* जिनमें तीन सी-अस्पा, छः दो अस्पा व एक यक अस्पा थे। इस अनुपात को केवल कुछ ही मनसबदार अपनी घुड़सवार सेना में रखते थे क्योंकि यह इस बात पर आधारित था कि मनसबदार को वर्ष में कितने महीनों का वेतन दिया जाता है। वे मनसबदार जो पूरे वर्ष का वेतन लेते थे वही प्रत्येक 10 सवारों के लिये 22 घोड़े रखते थे और जो वर्ष में 11 मास का वेतन लेते थे वे 10 सवारों के लिये 20 घोड़े ही रखते थे। वे मनसबदार जिनको वर्ष में 10 अथवा इससे भी कम मास का वेतन *दिया जाता था उनके घुड़सवार सैनिकों में सी-अस्पा की श्रेणी नहीं होती थी।* जिनको वर्ष में 10, नौ, आठ, सात तथा छः महीनों का वेतन मिलता था, प्रत्येक

1 अबुल फजल-आईन ए अकबरी पृष्ठ, 11

दस सवारों के लिये क्रमश अट्ठारह, सोलह साढे चौदह, साढ़े बारह व 10 घोड़े रखते थे। ये मनसबदार जिनको वर्ष में केवल पांच महीनों का वेतन मिलता था वे 10 सवारों के लिये 10 घोड़े ही रखते थे।[1]

अकबर और शाहजहाँ के शासनकाल में सवारों द्वारा घोड़ों की अनुपातिक संख्या रखने में अन्तर जो अप्रत्यक्ष रूप से उनके द्वारा वर्ष में प्राप्त महीनों के वेतन पर निर्भर थी किसी प्रकार से एकायक लागू नहीं की गई थी। ऐसा अनुमान है कि अकबर के समय में ही यह व्यवस्था लागू कर दी गई थी क्योंकि इसके अनेकों प्रमाण हैं। अकबर के समय में वर्ष में पूरे बारह महीनों का वेतन नहीं दिया जाता था। आईन-ए अकबरी के अनुसार अहदी सैनिकों को वर्ष में बारह महीनों का वेतन नहीं मिल पाता था और इसी आधार पर यह सम्भावित है कि मनसबदारों पर भी यही नियम लागू कर दिया गया हो, यद्यपि हमारे पास इसके लिये कोई अकाट्य प्रमाण नहीं है। मूल अनुपात में जिसके अन्तर्गत प्रत्येक 10 सवारों के लिये 25 घोड़े रखे जाते थे अव्यवहारिक मानकर उसमें रद्दोबदल कर दिया गया था। यह भी अधिक सम्भव है कि 10 सवारों के लिये जो 20 घोड़ों को रखने की व्यवस्था लागू की गई थी उसे भी अव्यवहारिक मानकर त्याग दिया गया हो क्योंकि यह स्वीकार करना कि सवारों में 30 प्रतिशत लोग प्रति सवार तीन घोड़े, 40 प्रतिशत लोग प्रति सवार दो घोड़े ला पायेंगे, आसान नहीं था और विशेषकर उस समय जबकि उन्हें स्वयं ही घोड़ों को खरीद कर प्रस्तुत करना पड़ता था। सम्भवतः अकबर ने इसीलिये बरगाही सैनिकों की भर्ती को प्रोत्साहन दिया जो यद्यपि कुशल घुड़सवार थे परन्तु घोड़ा खरीदने में असमर्थ थे। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य के सम्मुख ऐसे प्रार्थियों की संख्या अत्यन्त कम थी जो स्वयं का घोड़ा अथवा घोड़े रखते हों और सेना में इनके साथ भर्ती होने के लिये तत्पर हों। समस्त मुगल काल में बरगाही सैनिकों की भर्ती लगातार होती रही इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भर्ती होने वाले प्रार्थियों के पास अपने निजी घोड़े नहीं के बराबर ही थे। इन आधारों पर हम यही परिणाम निकालते हैं कि इस नयी व्यवस्था का जन्म अकबर के समय में ही हुआ था। हमारे पास इसके प्रमाण नहीं हैं क्योंकि समकालीन लेखकों की रचनायें इस परिवर्तन के पहले ही लिखकर पूर्ण हो चुकी थीं। हमें यह भी ज्ञान नहीं कि समस्त घुड़सवार सेना में सवार व घोड़ों का अनुपात क्या था। यद्यपि हमें कुछ काल विशेष में मनसबदारों के नाम, पद व श्रेणी की जानकारी है, परन्तु क्योंकि हम यह नहीं जानते कि उन्हें वर्ष में कितने मास का वेतन मिलता था इसलिये उनके द्वारा रखे जाने वाले घोड़ों की संख्या की जानकारी करना सम्भव नहीं है।

---

1. अब्दुल हमीद लाहौरी—शाहजहानामा, पृष्ठ 507.

देरी करता तो विलम्ब के समय के वेतन का 10 प्रतिशत वेतन काट लिया जाता था। साधारणतया इस नियम में अनेकों अपवाद थे। वे मनसबदार जिनकी नियुक्ति दुर्गम स्थानों पर थी उनके लिए इस नियम का पालन करना सम्भव न था और यह भी अनुचित था कि मनसबदार को अपनी ड्यूटी छोड़कर हाजिरी की व्यवस्था करने की आज्ञा दी जावे।

मुगलों में घुड़सवार-सैनिक सेना के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग थे। बाबर को इब्राहिम लोदी व राणा सांगा के विरुद्ध विजयों का श्रेय मुख्य रूप से इन घुड़सवार सैनिकों को ही जाता है। घुड़सवार सैनिक अपनी यह भूमिका लगातार निभाते रहे परन्तु मुगल राज्य के अन्तिम चरण में व्याप्त पतन के साथ ही यह विभाग भी पतोन्मुख हो गया। जब वे यूरोपीय सेनाओं के सम्पर्क में आये तो इनकी कमजोरियां और भी अधिक स्पष्ट हो गई। भ्रष्टता और प्रतिद्वन्द्विता, जो कि मुगल शासन के अन्तिम चरण में सेना की विशिष्टतायें थीं तथा स्वयं को दूर रखने की रुचि ने मुगल सेना की रही-सही शक्ति व युद्ध-पटुता का सर्वनाश कर दिया था। मुगल सैनिकों में इस समय भी अपनी परम्परागत वीरता और शौर्य विद्यमान थे और वे अब भी व्यक्तिगत रूप में अथवा समूह के रूप में युद्ध करने में पारंगत थे, परन्तु युद्ध में यदि वे किसी कारणवश अपने दल से अलग हो जावें तो ऐसी स्थिति में उन्हें पुन एक जुट होकर युद्ध करने अथवा संकटग्रस्त टुकड़ी को किसी प्रकार से सहायता करने की उनकी क्षमता समाप्त हो चुकी थी। इस असम्बद्धता के कारण ही शौर्य-पूर्ण सेना भी जो अविजित समझी जाती थी उसे पराजय का मुंह देखना पड़ता था। इसके अतिरिक्त मुगल सैनिक अब स्वयं को कठिन परिस्थितियों में डालकर युद्ध करने से मुंह मोड़ने लगे थे। इसका कारण था कि यदि दुर्भाग्यवश युद्ध में उनका घोड़ा काम आ जावे तो ऐसी स्थिति में उन्हें काफी नुकसान होने की सम्भावना थी और भविष्य में समुचित रूप से उनका सेवा-रत रहना भी दुविधापूर्ण था। मनसबदार उन्हें नया घोड़ा देने के लिए तत्पर न था, यद्यपि घोड़े की हानि में सैनिक का अपना कोई दोष न था। सम्भवत इसका एक मात्र कारण था कि अच्छी नस्ल के घोड़े काफी कम संख्या में प्राप्त थे और फिर उनका मूल्य अत्यधिक था। सैनिक इस आधार पर भी परेशान थे कि अनेकों कारणों से उनके वेतन का पूरा भुगतान भी नहीं हो पाता था। एक ओर तो यह प्रवृत्ति थी कि सैनिकों का वेतन बकाया रक्खा जावे जिससे कि उनको अपनी स्वामिभक्ति अथवा राजभक्ति का सौदा करने से रोका जा सके तो दूसरी ओर कभी कभी कोष खाली होने अथवा आय कम होने के कारण भी सैनिकों के वेतन का भुगतान करना सम्भव नहीं था। इन आधारों पर सैनिकों के अनेकों माह के वेतन बकाया रहना साधारण सी बात थी।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक सैनिक को "सक्तनामा" अथवा अपने घोड़े की मृत्यु का प्रमाण पत्र प्राप्त करना पड़ता था जिससे कि उसकी मृत्यु के समय तक का भत्ता

मल सके। यदि सैनिक यह प्रमाण पत्र देने मे असमर्थ रहता तो केवल उसे अंतिम हाजिरी के समय तक का ही भत्ता मिलता था और दी गई रकम की उसके वेतन मे से कटौती कर ली जाती थी। बेईमानी को रोकने के लिए मरे हुए जानवर की खाल प्रमाण हेतु प्रस्तुत करनी पडती थी। यदि किसी चोट अथवा अधिक अवस्था के कारण घोडो को सैनिक सेवा के अयोग्य समझा जाता था तो भी प्रमाण-पत्र प्राप्त करना आवश्यक था। इन परिस्थितियो मे हम अनुमान लगा सकते हैं कि सैनिकों के अपने व्यक्तिगत शौर्य और पराक्रम के बाद भी घुड़सवार सेना की अजेयता, जिसके लिए वह प्रारम्भिक वर्षों में प्रसिद्ध थी, शनैं शनैं समाप्त हो गयी थी।

तोपखाना—

मुगलो की सेना का एक महत्वपूर्ण भाग तोपखाना था। सुल्तानो ने तोपखानें की ओर विशेष ध्यान नही दिया जिसके कारण ही इब्राहीम लोदी को पानीपत के प्रथम युद्ध में अपनी गलती का भुगतान करना पडा। यद्यपि हमे यह जानकारी नहीं मिल सकी है कि बाबर के तोपखान मे इस युद्ध मे कितनी तोपें थी परन्तु इसके बाद भी यह निश्चित है कि पानीपत और खानवा के मैदानो मे उसने रोमन पद्धति के आधार पर तोपो की योजना रखी थी।[1] बाबर के समय में उस्ताद अली तथा मुस्तफा नाम के प्रमुख तोपची थे जिन्होंने बाबर के तोपखाने का शिलान्यास किया था।

हुमायू ने तोपखाने को पुन व्यवस्थित किया और अब्दुल मलिक को मीर आतिश के पद पर नियुक्त किया। तोपखाने की सफलता के लिए वह मुख्य रूप से तुर्की गोलन्दाजो पर निर्भर था और इसी आधार पर रूमी खां, उस्ताद हुसैन, उस्ताद अहमद आदि प्रसिद्ध गोलन्दाजो को उसने अपने यहा स्थान दिया। कन्नौज के युद्ध मे (1540 ई०) हुमायू के पास तोपें मौजूद थीं। मिर्जा हैदर के अनुसार 700 गरट्न थे और प्रत्येक गरट्न को आठ बैलो से खीचा जाता था। इनसे 500 मिस्कल का गोला फेंका जा सकता था। इसके अतिरिक्त उसके पास 20 भारी तोपे भी थीं।[2]

अकबर ने इस दिशा मे सक्रिय नीति अपनाई और मीर खानखाना के आधीन मीर आतिश नामक अधिकारी की नियुक्ति की जो रोज-मर्रा के इस विभाग के प्रशासन की देखभाल करता था। वह तोपखाने को शक्तिशाली बनाने मे रुचि रखता था और इसलिए एक ढलाई खाने की स्थापना की गई। इसमें विभिन्न प्रकार की

1 एरस्किन एण्ड लिडन—मेमायर्स आफ बाबर, पृ० 292। 9वी शताब्दी तक तुर्की, रोम के ही नाम से पुकारा जाता था क्योंकि यह वृहद रोमन साम्राज्य का अग था।

2 इलियट एण्ड डाउसन, भाग 5, पृ० 131–32.

छोटी और बडी तोपो का निर्माण किया जाने लगा जिनसे 1■ मन के गोले फेंके जा सकते थे। रणथम्भोर के अभियान के समय छोटी तोपों मे से एक तोप लगभग 3 मन का गोला फेंक सकती थी। जहांगीर के समय मे इस विभाग का विकास होता रहा और उसने मीर आतिश राय पतरदास, को 50,000 गोलन्दाजो को भर्ती करने का आदेश दिया था। शाहजहा के समय मे जब मुगल अभियान कन्धार पर लगातार असफल होते रहे तो पुन तोपखाने की व्यवस्था को आका गया और *यह परिणाम निकला कि ईरानियो की तुलना मे भारतीय तोपखाना निम्न श्रेणी* का है।

औरंगजेब के दक्षिण के वायसराय के काल मे वहाँ के शासको व यूरो-*पीय जातियो के सम्पर्क मे आने के कारण तोपखाने म विकास हुआ और यदि* इरविन के कथन को स्वीकार किया जावे तो "आलमगीर के पास अपने पूर्वजो की तुलना मे अच्छा तोपखाना था"। उसके कर्मठ अधिकारी मीर खलील ने प्रत्येक छोटे और बडे दुर्ग का स्वय निरक्षण *किया और वहा की जिन तोपो तथा तोपचियो को* अनुपयोगी पाया जो बिना किसी उपयोगिता के राज्य के खर्च का भार बढा रहे थे, ऐसे समस्त तोपचियो को पेंशन देकर मुक्त कर दिया गया तथा पुरानी तोपो के स्थान पर नयी तोपें दुर्गों मे भेजी गई। औरंगजेब के शासन काल म इन सुधारो को और गति दी गई जिससे कि आने वाले समय मे तोपखाना घुडसवार सेना के समानान्तर ही बन गया।

अकबर के राज्य-काल म तोपखाने की व्यवस्था मीर खान सामा के आधीन थी और मीर आतिश अथवा दरोगा ए तोपखाना उसका सहायक अधिकारी था। जहांगीर ने मीर आतिश को एक स्वतन्त्र अधिकारी बनाया जिसका काम तोपचियो *को भर्ती के लिए सम्राट के सम्मुख प्रस्तुत करना, उनका हुलिया लिखना तथा* समस्त विभाग की व्यवस्था करना था। उसके आधीन मीरदह व सदीवाल नामक अधिकारी थे जो क्रमश 10 व 100 तोपचियो के अधिकारी थे।

प्रारम्भ मे विदेशियों को इस विभाग मे अधिक सख्या मे रक्खा जाता था क्योकि वे इसमे अधिक दक्ष समझे जाते थे। बर्नीयर तथा मनूची ने अनेको पुर्तगाली, फ्रांसीसी व अग्रेज अधिकारियो को इस विभाग मे देखा था। एक साधारण से सैनिक अधिकारी *को 200* रुपये प्रतिमास तक वेतन दिया जाता था परन्तु जब औरंगजेब के समय ■ मुगल तोपखाना व्यवस्थित व शक्तिशाली हो गया तो उसने विदेशियो का वेतन घटाकर मात्र 32 रुपये प्रतिमाह निश्चित किया। धीरे-धीरे विदेशियो को इस विभाग से अलग करने की नीति भी अपनाई गई।

प्रारम्भ मे राज्य विस्तृत न होने के कारण तोपखाना केन्द्र मे ही स्थित था परन्तु अकबर के समय मे जैसे-जैसे राज्य का विस्तार होता गया वैसे ही वैसे सूबो मे भी तोपखाना रखने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इस आधार पर

केन्द्रीय व प्रान्तीय तोपखाने की व्यवस्था की गई। केन्द्रीय तोपखाने को 'तोपखाना-ए-नक्दी' कहा जाता था और यह सदैव ही सम्राट के साथ उपस्थित रहता था चाहे सम्राट अभियान, आखेट या मनोरंजन के लिए या किसी विनोद स्थल अथवा सैर के लिए ही क्यों न गया हो। इसमे वो ही हलकी तोपें थी जिनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में कोई कठिनाई नही आती थी। इसलिए बर्नियर ने इसे 'लाइट आरटीलरी'' की सज्ञा दी है। इन तोपो मे गजनाल (हाथियो पर ले जाने वाली) शुतरनाल (ऊँटों पर ले जायी जाने वाली) जबूर (मधु मक्खी जैसी आवाज करने वाली) आदि तोपें प्रसिद्ध थी।[1]

दूसरे प्रकार की तोपें भारी तोपें थी और यद्यपि युद्ध मे इनका समुचित उपयोग करना सम्भव नही था, परन्तु फिर भी ये राज्य-शक्ति का प्रतीक समझी जाती थी। हुमायू ने 1540 ई० में कन्नौज के युद्ध म ऐसी 20 तोपो का उपयोग किया था जिनम से प्रत्येक का 8 बैलो की जोडिया खेंचती थी। 1739 मे मुहम्मदशाह के पास करनाल के युद्ध में ऐसी तोपे थी जिन्हे 1 हजार बैल खीचते थे।[2] अकबर ने भी ऐसी तोपो का प्रयोग किया था जिसमें से 12 मन के गोले चलाये जाते थे। युद्ध के दिन इन भारी तोपों का प्रयोग करना एक जटिल समस्या थी और बाबर इस क्षेत्र म भाग्यशाली था कि उस उस्ताद अली जैसे कुशल तोपची की सेवायें प्राप्त थी जो कि युद्ध के दिन 8 से 16 बार तक तोपो को दाग सकता था। अकबर ने इस कठिनाई को अनुभव कर ऐसी हल्की तोपो का निर्माण कराया जिन्हे आवश्यकतानुसार अलग किया जा सकता था और समय पर जोडा जा सकता था।[3]

समस्त आलोचक जिन्होने मुगलो के तोपखाने का अध्ययन किया है यह स्वीकार करते हैं कि तोपखाना निम्न स्तर का था। शत्रु को हानि पहुचाने की अपेक्षा तोपें शोर अधिक करती थी और एक दिन मे अधिक बार नही दागी जा सकती थी। यह भी सम्भावना रहती थी कि य फट जावे और अपने ही पक्ष की मृत्यु का कारण बनें।

पैदल सेना—

18 वीं शताब्दी के पहले जब तक कि प्रशिक्षित और अनुशासित यूरोपीय सना ने भारतीय सेनाओ की तुलना में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध नही कर दी तब तक पैदल सेना की ओर विशेष ध्यान न दिया जाता था। मध्यकालीन मुस्लिम शासक मुख्य रूप से अपनी सैनिक शक्ति क लिए तोपखाना व घुड़सवार सेना पर ही आश्रित

---

1 आईन-ए-अकबरी, ब्लाकमैन, भाग 1, पृ. 113
2. इरविन—वही पृ 120.
3. आईन-ए-अकबरी, ब्लाकमैन, भाग 1, पृ 112-13

थे तथा वे इन विभागों को ही सैन्य शक्ति का प्रतीक मानते थे। मुगल शासक यद्यपि घुड़सवार सेना पर अधिक बल देते थे, परन्तु फिर भी उन्होंने पैदल सेना के महत्व को जान लिया था। इसी कारण अकबर के समय में प्यादा, पायक आदि शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है जिनके अन्तर्गत सैनिक रूप में धनुषधारी अथवा तलवारिया और गैर-सैनिकों के रूप में द्वारपाल, पहरेदार व सईस आदि सम्मिलित थे। अकबर की सेना में इन व्यक्तिगत सेवकों की संख्या लगभग 12000 थी और सूबों में लगभग चालीस लाख व्यक्ति थे। इनको हम मोटे रूप से तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं–(अ) लड़ाकू, जैसे बन्दूकची तलवारिया आदि (ब) अर्ध-लड़ाकू जैसे संदेश-वाहक दास व चोबदार (स) गैर लड़ाकू जैसे लुहार, खनिक या सुरंगयाजक और अनेक प्रकार के सेवक जो पड़ाव आदि की व्यवस्था करते थे।

बन्दूकचियों की संख्या पैदल सेना में सबसे अधिक थी। ये सम्राट के व्यक्तिगत संस्थापन के अभिन्न अंग थे। अकबर ने इनकी व्यवस्था के लिए एक विभाग स्थापित किया था जिसका अधिकारी बितकची कहलाता था। अकबर तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में इनका वेतन 2-3/4 रु० से 6-1/4 रु० प्रति मास के बीच था। औरंगजेब ने इनके वेतनमान में कुछ सुधार किया था।

तलवारियों की विभिन्न श्रेणियां थीं और जिस प्रकार की तलवार का वे उपयोग करते थे उसी के आधार पर जाने जाते थे। इनका वेतन दो से 15 रुपये प्रति माह के बीच था। इनके अतिरिक्त सेना में अनेकों पहलवान या मलयुद्ध करने वाले होते थे। अकबर के पास इनकी संख्या लगभग 1 हजार थी।

घुड़सवार अधिकारियों के समान ही पैदल सेना के अधिकारी थे। दस तथा एक सौ पैदल सैनिकों के अधिकारियों को क्रमशः मीरदह व सादीवाल कहा जाता था। इनका वेतन निश्चित करते समय इनकी योग्यता व नस्ल पर उचित ध्यान दिया जाता था। मुगलों तथा यूरोपीय नस्ल के लोगों को दूसरी नस्ल के लोगों की तुलना में अधिक वेतन दिया जाता था।

अर्ध-लड़ाकू श्रेणी में संदेश-वाहक सम्राट अथवा अधिकारियों के संदेश एक दूसरे तक पहुंचाते थे। ये सदैव सम्राट की सेवा में उपस्थित रहते थे और राज्य के दूसरे अधिकारियों से अलग दिखाने के लिए सदैव ही चोब रखते थे जो कि साधारणतया अष्टकोणी हुआ करती थी। शाहजहां ने इनको तीन भागों में बांट दिया था। वे जो सोने का चोब रखते थे सम्राट व शहजादों के मध्य संदेश-वाहक थे, चांदी का गदा रखने वाले सम्राट व सैनिक अधिकारियों के बीच संदेश पहुंचाते थे, तथा इस्पात या फौलाद का चोब रखने वाले सम्राट और साधारण वर्ग के बीच संदेश लाने ले जाने का काम करते थे।

दाखली सैनिकों को राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था परन्तु प्रशासनीय व्यवस्था के अन्तर्गत उनको मनसबदारों के अधीन रक्खा जाता था। इसमें लड़ाकू व गैर-लड़ाकू दोनों ही सम्मलित थे। अबुल फजल ने लिखा है कि, "सैनिकों की सूची में इन पैदलों को 'नीमसवारान' अर्थात् अर्ध-घुड़सवार माना जावे"।[1] इसका अर्थ था कि दो दाखली सैनिकों के बीच एक घोड़ा होता था। दाखली सैनिकों में से 1/4 बदूकची, शेष धनुषधारी होते थे। सेहबन्दी किस्म के सैनिक थे थे जिनको शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने तथा राजस्व इकट्ठा करने के लिए रक्खा जाता था।

इनके अतिरिक्त कहार, नक्कारखाने के सेवक, दरबान आदि थे। इनका अधिकारी 'खिदमत-राय' कहलाता था जिसके आधीन दस, बीस, पचास खिदमतगारों के अधिकारी हुआ करते थे।

गैर लड़ाकू व्यक्तियों में आतिश-बाज, मोची, बेलदार, आहनगार (लुहार), सग-तराश, नज्जर (सुनार), आदि थे। इनका वेतन अलग-अलग था और इनके महत्व और योग्यता के आधार पर निश्चित किया जाता था।

घुड़सवार और पैदलों के अतिरिक्त मुगलों के पास हस्ति सेना भी सेना का एक महत्वपूर्ण भाग समझी जाती थी। मुगल शासक सेना के इस भाग के प्रति आकर्षित थे और विशेषकर अकबर ने खान जमान के विरुद्ध 1567 ई० में तथा चित्तौड के घेरे के समय 1567–68 में हस्ति सेना का उपयोग किया था। 1576 में मिर्जा सुलेमान के स्वागत में उसने 5000 युद्ध सज्जा से सुसज्जित हाथियों का प्रदर्शन किया था। इससे यह आभास होता है कि अकबर के पास 5000 हाथी थे।[2] जहाँगीर की सेना में लगभग 12000 हाथी थे।[3]

शाहजहां और औरंगजेब के समय में भी ये प्रचुर संख्या में मौजूद थे। युद्ध के समय हाथियों के सिर पर लोहे का तवा लगा दिया जाता था। उनके पैरों तथा अन्य भागों पर भी सुरक्षा के उपकरण लगा दिए जाते थे। इनकी सूंड में तलवार तथा दोनों दांतों में दो तलवार बाँध दी जाती थी। फीलवान अपनी रक्षा के लिए जिरह-बख्तर पहनता था और होदे में बैठे चार सिपाही हथियार चलाते थे परन्तु जैसे-जैसे समुचित रूप से तोपखाने का विकास होता गया, वैसे-ही-वैसे हाथियों की महत्ता कम होती गयी और इनका प्रयोग बोझा ढोने वाले अथवा तोपों को खेंचने वाले पशुओं के रूप में किया जाने लगा।

---

1. आईन-ए-अकबरी, ब्लाखमैंन भाग 1, पृ. 254-55
2. आईन-ए-अकबरी ब्लाखमैंन भाग 1, पृष्ठ 177-78.
3. हाकिन्स, पृष्ठ 424-26.

बोझा ढोने वाले पशुओं के रूप मे ऊँट, खच्चर व बैलो का भी प्रयोग किया जाता था। विशेष रूप से प्रशिक्षित साडनी अपनी तेज चाल व बोझा ढोने के लिए सबसे प्रसिद्ध थी। अकबर ने साडनी की सवारी कर आगरा से गुजरात की यात्रा मात्र 9 दिन में पूरी कर अपने शत्रुओं को आश्चर्यचकित कर दिया था। ऊट व बैलो का उपयोग छोटी-छोटी तोपो को खींचने व बोझा ढोने के लिए भी किया जाता था। खच्चर भी परम्परागत रूप म यही यात्राओं पर बोझा ढोने के काम मैं लिये जाते थे। मुगल सम्राटो ने इन पशुओं के लिए उपयुक्त अस्तबलो का प्रबन्ध कर रखा था और सम्राट स्वय इनका ध्यान रखते थे। विशेषकर घोडो और हाथियो के प्रति वे अधिक रूचि रखते थे।

मुगल शासक अभियान हेतु शुभ-मुहूर्त और शकुन को देखकर निकलते थे। 1546 ई० मे काबुल पर अधिकार हेतु निकलने के पहले हुमायू ने शकुन दिखवाय थे। अकबर ने भी 1572 में गुजरात अभियान के समय एसे ही शुभ-मुहूर्त मे कूच किया था। यदि कारणवश अभियान की सम्पूर्ण तैयारी न हो पायी हो तो शुभ-मुहूर्त मैं सम्राट सेना के कुछ भाग सहित राजधानी से कूच कर कुछ दूरी पर जाकर डेरा डाल लिया करते थे और वही पर बाकी सेना क आन की प्रतीक्षा किया करते थे।[1]

सेना के कूच के समय सबसे आगे हाथियो पर बैठे नक्कारची हुआ करते थे। जिनमें एक समय-समय पर नगाडे बजाता था। इसके पीछे घुडसवार सेना होती थी। सम्राट सेना के मध्य होता था जिसके पीछे चन्दावल सेना होती थी। औरगजेब की सेना के कूच के विवरण से मालूम होता है कि हरावल के रूप मे भारी तोपखाना तथा उसके पीछे शाही खजाना तथा परिवार रहता था। तत्पश्चात् अनेको जानवरो पर लदा हुआ सरकारी रेकार्ड होता था। इसके पीछे लगभग 50 50 ऊटो पर स्वच्छ जल व सम्राट के लिए खाद्य पदार्थ लादे जाते थे जिनके पीछे लगभग 50 गायें हुआ करती थी क्योंकि औरगजेब का गाय के दूध का अत्यधिक चाव था। इसके पीछे बावरची खाने के सेवक व शाही हरम की स्त्रिया होती थी। इसके बाद अनेको जानवरो पर खाद्य सामग्री लदी रहती थी। घुडसवार और पैदल सैनिक इसके पीछे रहते थे और उसके बाद सम्राट स्वय चलता था। सदैव ही कूच के समय अनेको जासूस साथ मे रहते थे जिससे कि वे शत्रु की गतिविधियो की जानकारी दे सकें।[2]

परिवहन हेतु घोडे, ऊट, बैल, हाथी पोनी आदि काम मे लिए जाते थे। रथ, गाडियो, डोली, पालकी का भी प्रयोग किया जाता था। धनवान वर्ग द्वारा

1. बनियर पृष्ठ 367
2. फल डा आर के—आर्मीज आफ द ग्रेट मुगल्स पृष्ठ 230-31

पालकियों का अधिक प्रयोग किया जाता था। नावें अधिकतर जानवरों के खाल की बनाई जाती थी और वे इतनी बड़ी-बड़ी होती थी कि एक बार में लगभग 50 घोड़े उन पर नदी पार कर सकते थे।

केवल शाही परिवार व सेनापति के निकटतम अनुयायियों के अतिरिक्त सेना मे रसद विभाग की व्यवस्था सरकारी तौर पर किसी के लिए भी नही की जाती थी। सेना के साथ ही सदैव एक चलता-फिरता बाजार लगा रहता था जहा कच्चा व पका हुआ खाना खरीदा जा सकता था। सैनिक इसी बाजार से अपनी आवश्यकता की चीजो को खरीद लिया करते थे। व्यापारियों की बन्जारो द्वारा सामान पहुचाया जाता था और यह वर्ग इस कार्य में दक्ष था। राज्य बाजार-मूल्यो पर नियन्त्रण रखता था।

साधारणतया मुगल सेना कूच मे धीरे-धीरे ही चलती थी। मोटे रूप से प्रतिदिन 3 से 10 मील की यात्रा करना एक स्वाभाविक बात थी। सम्राट अथवा सेनापति बेकार मे ही लम्बे-लम्बे समय तक अभियान के मध्य मुकाम कर लिया करते थे। 1558 मे अकबर को देहली से आगरा पहुचने मे 21 दिन लगे थे। 1573 मे अहमदाबाद से फतहपुर सीकरी की यात्रा एक महीने 21 दिन मे तय की गई थी। जहांगीर व अन्य सम्राटो के समय भी स्थिति मे कोई परिवर्तन नहीं आया था। भूले-भटके ही सेना की गति तेज हो जाती थी। अकबर ने एक बार 450 मील की यात्रा, तीन हजार घुड़सवारो के साथ, केवल 11 दिन में तै कर ली थी।

मुगल सेना की इस धीमी गति के अनेको कारण थे। सरदारो के परिवार कूच मे साथ रहते थे, प्रत्येक सैनिक के पास अपना तंबा होता था, और सामन्त और मनसबदार के एक से अधिक तैमे रखते थे जिनको एक जगह से दूसरी जगह ले जाना भी आवश्यक था। कूच के समय मुगल सेना ऐसी लगती थी जैसे कोई छोटा मोटा शहर उठकर एक जगह से दूसरी जगह जा रहा हो। इस समस्त लवाजमा के होते हुए तेज गति से कूच करना सभव नही था।

युद्ध के लिए मुगल सेनायें रूढ़िगत आधार पर ही जमाई जाती थीं। बाबर द्वारा प्रदर्शित पटुता पूर्णतया समाप्त हो गई थी और घिसी-पिटी युद्ध कला का ही प्रयोग किया जाता था जिसके अन्तर्गत हरावल तथा उसके पीछे हरावल सेना हुआ करती थी। इसके दायी और बायी ओर छोटी-छोटी सैनिक टुकड़िया इस तरह से तैनात रहती थी जिससे कि वे समय पर हरावल सेना की सहायता कर सकें अथवा हरावल की दायी और बायी टुकड़ियो की रक्षा कर सकें। हरावल के पीछे सेना का मुख्य भाग था जिसके दोनों ओर दायें और बायें (गस्त और चप) सैनिक टुकड़िया रहती थीं। सेनापति का स्थान केन्द्र मे ही होता था। सेनापति के पास अनेको अधिकारी रहा करते थे जो समय-समय पर उसकी आज्ञाओ को सैनिक टुकड़ियो मे पहुचाते थे जिससे कि सैनिक अनुशासित रहकर दक्षता से कार्य कर सकें।

मुगलों ने सामरिक महत्व के स्थानों पर किलो का निर्माण कराया था। अधिकतर दुर्ग किसी नदी अथवा पानी के स्रोत के किनारे ही बनाये जाते थे। किले या तो किसी पहाड़ी पर अथवा कृत्रिम पहाड़ी पर भी बनाये जाते थे और बहुधा इनके आसपास घने जंगल होते थे जिससे कि किले की रक्षा करने में सहायता मिल सके।[1] किलो के दरवाजे अत्यधिक मजबूत हुआ करते थे और इन पर लोहे की बड़ी कीलें लगी रहती थी जिससे दरवाजो को तोड़ना कठिन हो। किलो में रसद आदि कि व्यवस्था काफी मात्रा मे की जाती थी जिससे कि वे अधिक समय तक शत्रु के घिराव का सफलता से सामना कर सकें। इसी कारण अधिकतर किले वालो को लम्बी अवधि तक घेरा डलाकर भूखे मारने की नीति अपनाई जाती थी। आक्रमण कर किले पर अधिकार करना केवल एक असाधारण घटना थी। किले के लोगो को भूखे मारने अथवा पानी के स्रोतो को काटकर किले पर अधिकार करना अधिक प्रचलित था क्योकि यह अधिक सरल एवं कम खर्चीला था। कभी-कभी घूस देकर किले पर अधिकार कर लिया जाता था और शत्रु पक्ष के लोग किले के दरवाजों को खोल दिया करते थे। इसी कारण बाद के मुगल शासक इसके प्रति अधिक सतर्क हो गये थे।

अकबर ने आगरे, इलाहबाद, लाहौर के सुदृढ किलो का निर्माण करवाया।[2] शाहजहाँ ने दिल्ली के लाल किले को बनवाया और एक समकालीन पाण्डुलिपि मे औरगजेब के काल के 42 राजस्वी दुर्गों का उल्लेख है।[3]

मुगलो के पास आज की स्थिति के अनुरूप कोई जहाजी बेड़ा तो अवश्य नहीं था परन्तु मीर बहार शाही सेना के लिए कुछ नावो को तैयार रखता था जिससे कि जब कभी सेना को नदी पार करना हो तो वो नावो के पुल की सहायता से इसे करने मे सफल हो। विशेषत बगाल और बिहार मे भारी वर्षा के कारण साधारणतया सैनिको को थल मार्ग से ले जाना अथवा युद्ध सम्बन्धी सामान को युद्ध स्थल तक पहुँचाना सरल न था और ऐसे स्थानो पर ही राज्य की नावो के बेड़े का प्रयोग किया जाता था। अब्दुल लतीफ ने जहागीर के समय मे बगाल के अभियान के समय लगभग बीस प्रकार की विभिन्न राजकीय नावो का वर्णन किया है। इसी प्रकार से 1666 ई० में मुगलो द्वारा चिटगाव के अभियान के समय लगभग 288 नावें थीं जिनकी सहायता से ही यह अभियान सफल हो सका था। इन छोटे से नावो के बेड़े

1. इरविन—वही, पृ 261.
2. ब्राउन, पर्सी—इंडियन आरकिटेक्चर पृ 99-101.
3. इरविन,—वही, पृ 269

के अतिरिक्त समस्त मुगल काल में जल सेना की ओर कोई ध्यान न दिया गया। इसीलिए मुगलों ने पश्चिमी समुद्र तट की रक्षा का भार अबीसिनियनों तथा जंजीरा के सिद्दियों को सौंप रखा था और पूर्वी तट पर समुद्री लुटेरों के विरुद्ध पुर्तगालियों को सेवा-रत रक्खा था।

मुगलों की सैनिक संख्या का अनुमान लगाना काफी कठिन है। 'आईन-ए-अकबरी' में सम्भावित शक्ति की संख्या, सैनिक रूप से रुचिकर होने की अपेक्षा-केवल विद्वत्तापूर्ण ही है। मनसबदारों की संख्या के आधार पर कुल संख्या का अनुमान लगाना इसलिए कठिन है क्योंकि साधारणतया उसमें वास्तविक सवार-पद की जानकारी नहीं मिल पाती है। अनेकों मनसबदार ऐसे थे जो गैर-सैनिक अथवा साधारण प्रशासनिक पदों पर कार्य कर रहे थे। स्वयं सम्राट के पास राजधानी में उसकी व्यक्तिगत सेवा के लिए सेना का एक छोटा भाग ही उपस्थित रहता था। शेष सेना उस समय की परिस्थिति के अनुसार देश के विभिन्न भागों में तैनात थी जो कि मनसबदारों के अधीन थी। ऐसी स्थिति में मुगल शासकों द्वारा समय-समय पर शत्रुओं के विरुद्ध प्रयुक्त की गई कुल सैनिक संख्या के आधार पर ही उनकी कुल सैनिक संख्या का अनुमान लगाना ही सम्भव है। पानीपत के प्रथम युद्ध के समय बाबर के पास लगभग 12 से 15 हजार सैनिक थे तथा 1527 ई० में खानुवा के युद्ध के समय उसके पास एक लाख सैनिक थे। बाबर ने अपनी आत्म-कथा में एक भारतीय घुड़सवार का वेतन लगभग 1000 टका स्वीकार किया है और उसके राज्य की आय लगभग 40 से 42 करोड़ टका थी जिसके आधार पर उसके पास लगभग 4 लाख घुड़सवार होने चाहिये। इस आधार पर यह संख्या अतिरंजित मालूम पड़ती है। 1540 ई० के कन्नौज के युद्ध में हुमायूं के पास 'तारीख-ए-रशीदी' के अनुसार 40,000 नियमित सैनिक थे।[1] अब्दुल अजीज के अनुसार अकबर व जहांगीर के समय के सैनिक आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।[2] स्मिथ[3] ने अकबर के सैनिकों की संख्या 25,000 बताई है जबकि डा० आर० पी० त्रिपाठी, 'आईन-ए-अकबरी' में दी हुई संख्या को न्यायोचित मानते हैं। इस प्रकार से अकबर के समय की सैनिक संख्या के सम्बन्ध में अत्यधिक मतभेद है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि उसके राज्यकाल में सेना का विभिन्न वर्गों में संगठन था, जैसे सम्राट की व्यक्तिगत सेना, प्रान्तीय सैनिक टुकड़ियाँ, मनसबदारों की सेना तथा अधीनस्थ जागीरदारों की सैनिक टुकड़ियां। डो० लेट ने मुगल मनसबदारों के 'जात' पद पर यह अनुमान लगाया है कि जहांगीर के पास 1,068,

1. इलियट—बाबर एण्ड हुमायूं, पृष्ठ 102.
2. अब्दुल अजीज – मनसबदारी सिस्टम एण्ड द मुगल आर्मी, पृ० 227.
3. स्मिथ—अकबर, पृष्ठ 361.

248 घुडसवार थे, परन्तु उसका यह अनुमान युक्ति-युक्त नहीं माना जा सकता क्योकि 1595 ई० मे ही जात पद का महत्व समाप्त हो गया था और सवार पद अभी बिलकुल नया ही था। हाकिन्स ने सैनिक सख्या लगभग 3 लाख बतलाई है।

शाहजहा के शासन काल में लगभग 3,40,000 घुडसवार थे। 1630 ई० मे उसने 1,40,000 घुडसवारो को खान जहा लोदी के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा थे। 1647 ई० मे शाहजहा के पास लगभग चार लाख सेना थी।[1] 1647 ई के बाद शाहजहा की सेना मे अवश्य ही वृद्धि हुई होगी क्योकि उसे कधार को पुन प्राप्त करने के लिए अभियान करने पडे थे। सायर-ए-मुतखरीन के अनुसार उसकी सेना मे 8,50,000 सैनिक थे।

औरगजेब का समस्त युग मराठों, राजपूतो, जाटो और सिक्खो से युद्धो का युग था और इसीलिए उसकी सेना की समुचित सख्या की जानकारी के सम्बन्ध मे कोई आकडे उपलब्ध नही हैं। विदेशी विवरणों के आधार पर ही कुछ अनुमान लगाना सम्भव है। इन आधारो पर औरगजेब के पास लगभग 6 से 7 लाख घुड-सवार सेना थी और यदि मनुचि व घुडसवार व पैदल सैनिको के 1 2 के अनुपात को स्वीकार किया जावे तो उसके पास लगभग 13 से 14 लाख पैदल सैनिक रहे होगे।[2]

इस प्रकार से हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि मुगलों की सैनिक व्यवस्था सफल अथवा कार्यकुशल नहीं थी। यह निश्चित है कि मुगल सैनिकों ने इब्राहीम लोदी व राणा सागा को पराजित किया था और अकबर के सुधारो के कारण वे एक साम्राज्य की स्थापना करने म सफल हुए थे परन्तु यह किसी प्रकार से उनकी दक्षता को प्रमाणित नही करता। वे केवल इसलिए सफल हुए कि जिन विरोधियो का उन्होने सामना किया, उनकी सैनिक व्यवस्था मुगलो से भी अधिक अस्त-व्यस्त व शक्तिहीन थी और ये शक्तिया मुगलो की अपार शक्ति व सामर्थ्यपूर्ण साधनो का मुकाबला करने मे असमर्थ थी। कन्धार के असफल अभियानो व उजबको के साहस-पूर्ण विरोधो की पृष्ठभूमि म मुगल सैनिक सगठन की कमजोरिया स्पष्ट हो जाती हैं। समय के अनुसार मुगल शासक सैनिक व्यवस्था मे परिवर्तन करने मे असहाय सिद्ध हुए और जब मराठो के विरुद्ध मुगलो का लगातार सघर्ष चलता रहा तब भी वे परि-स्थितियो के अनुसार व्यवस्था मे परिवर्तन करने मे असफल रहे। केवल औरगजेब जैसा दृढ़ प्रतिज्ञ व कर्मठ व्यक्ति ही मराठो और कबीलो के बढते हुए साहस को रोक सकने मे समर्थ हुआ।

1 फूल डा आर के—आर्मीज ऑफ द ग्रेट मुगल्स, पृ 126-132
2. फूल डा आर के– वही

4
अमीर वर्ग–संगठन व स्वरूप

अमीर अथवा अभिजात्य वर्ग के संगठन के अध्ययन की आवश्यकता इसलिये महत्वपूर्ण है क्योंकि इस वर्ग की गतिविधियां अपने अध्ययन-काल में निर्णायक थीं। सल्तनत काल के समकालीन इतिहासकार यथार्थतः इस वर्ग के शक्तिशाली दलों की ओर संकेत करते हैं जिनमें इल्तुतमिश के राज्यकाल में 'तुर्कान-ए-चिहालगानी, (चालीस सरदारों का गुट) खलजियों के 'बारबार सरदार' और तुगलकों के 'अमीरान-ए-सादा' प्रमुख शक्तिशाली दलों में संगठित थे। इनके अतिरिक्त भी जातीय आधार पर बने हुए अनेकों दल थे जिनमें अबीसीनियन, खोरासानी, अफगान व मंगोल दूसरे दलों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थे। समकालीन इतिहास में इस वर्ग की उत्पत्ति के आधार अत्यधिक अस्पष्ट हैं। सर्वप्रथम डा० अशरफ ने तुर्की अभिजात्य वर्ग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में खोज की और मोटे रूप से इसे उलेमा व उमराहों की श्रेणी में बांटा। साधारण रूप से इन्हें 'अहल-ए-कलम' (बुद्धिजीवी) व 'अहल-ए-तेग' (सैनिक) की संज्ञाओं से सम्बोधित कर सकते हैं। इन वर्गों के अतिरिक्त बारह वर्ग और भी थे परन्तु वे सब इन दो वर्गों की संख्या की तुलना में नगण्य व शक्ति-हीन थे।[1]

अमीरों का उत्थान आकस्मिक था और इसमें वे सब परिस्थितियां निहित थीं जिनके कारण दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई थी।[2] मुहम्मद गोरी की राय पिथौरा अथवा पृथ्वीराज पर विजय के पश्चात् हिन्दुस्तान में साम्राज्य स्थापना का कार्य केवल मुहम्मद गोरी के ही पौरुष और रण-कुशलता का परिणाम न था अपितु उत्तरीभारत

---

1. अशरफ, के. एम. —लाइफ एण्ड कण्डीशन ऑफ द पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान पृष्ठ 170,
2. निज़ामी, के. एच. —सम आस्पेक्टस् ऑफ रीलिजन एण्ड पोलीटिक्स इन इण्डिया ड्यूरिंग द थरटीन्थ सेन्चुरि पृष्ठ, 12.

की ये विजय-नीति अभिजात्य वर्ग या अमीरों के सहयोग से ही पूरी हो पाई थी जिन्होंने उसके नाम पर विभिन्न प्रदेशों को बीजित किया था। यही वर्ग अभिजात्य वर्ग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। इस वर्ग के प्रत्येक सदस्य ने सुल्तान अथवा किसी अमीर के दास के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया और अपनी स्वामीभक्ति से अमीर का पद प्राप्त किया। तत्पश्चात् अपनी नीजि प्राप्तियों से मलिक व खान की सम्मानित उपाधियाँ प्राप्त की। इनकी व्यक्तिगत श्रेणी इनकी उपाधियाँ व इक्ता (सूबा) मरातिब पर आधारित थी। ये इक्ता तथा शासकीय पद वशानुगत न थे अपितु सुल्तान की इच्छा पर छीने जा सकते थे। अमीरों का राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार न था और उनके पास केवल सुल्तान के प्रति स्वामिभक्ति अथवा स्वतन्त्र शासक रहने के अतिरिक्त काई विकल्प नही था। इसलिये ही डा० अशरफ का मत है कि उनकी स्थिति एक भाड़े के नौकरशाही जैसी दयनीय थी जिसका सुल्तान की अनुपस्थिति में बने रहना सम्भव नही था।

अभिजात्य वर्ग में दूसरा स्थान उलेमाओं का था जो कि अपने में ही एक अभिन्न जाति थी, परन्तु उनको अभिजात्य वर्ग का एक अंग स्वीकार करना उचित न होगा क्योंकि सल्तनत काल की राजनीति में उनका सक्रिय योगदान नहीं था। राजनीति में ■ केवल सहयोगी थे और साधारणत सुल्तान और अभिजात्य वर्ग के बीच संघर्ष में वे शक्तिशाली दल का ही पक्ष लेते थे। इसके अतिरिक्त सल्तनत काल के प्रथम तीन वंशों (इल्बारी तुर्क, खलजी व तुगलक) के समय में समय-समय पर अभिजात्य वर्ग में नये तत्वों के समावेश ने उनके संगठन को अत्यधिक प्रभावित किया और कतिपय पुराने वर्ग को समाप्त कर नये वर्ग की स्थापना की। इन परिवर्तनों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने तथा उनका अभिजात्य वर्ग के संगठन पर पड़े प्रभाव की जानकारी के लिए तीनों वंशों के समय में इस वर्ग का विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है।

प्रो हबीब का यह मत सत्यता के अधिक निकट है कि 13 वीं शताब्दी में भारतीय-तुर्कीदास-नौकरशाही, संयुक्त कुटुम्ब की प्रारम्भिक स्थिति में थी। अभिजात्य वर्ग के सदस्य अधिकतर तुर्क थे यद्यपि खलजी और ताजिकों का वर्ग भी अर्थपूर्ण था। क्योंकि तुर्कों को मुहम्मद गोरी की सरक्षता प्राप्त थी इसलिये उनको हिन्दुस्तान के उपजाऊ और सम्पन्न प्रदेशों को अपना कार्य-क्षेत्र बनाने की अनुमति मिल गई थी और खलजियों को सरक्षता की अनुपस्थिति में खदेड़ दिया गया था तथा आसाम, बंगाल, बिहार आदि के दूरस्थ-प्रदेशों में जाने के लिये बाध्य कर दिया गया था। ये जातीय संगठन तुर्की अभिजात्य वर्ग का विशिष्ट लक्षण था जो सुल्तान मुईजुद्दीन कैकूबाद के शासन के अन्त तक बना रहा।

इल्बारी तुर्कों के अभिजात्य वर्ग के बाद दूसरा शक्तिशाली वर्ग विदेशियों का

था जिनको ताजिक कह कर पुकारते थे। ये प्रारम्भ से ही दरबार में प्रतिभाशाली पदों पर आसीन थे। मध्य एशिया की गतिविधियों तथा मगोल आक्रमणकारियों के कारण अनेकों राजवश के राजकुमार तथा परिवार व्यवसाय की खोज में हिन्दुस्तान आ गये थे और इल्तुतमिश तथा उसके उत्तराधिकारियो द्वारा सम्मानित व्यवहार प्राप्त करने में सफल हुये थे। मलिक फीरोजशाह, मलिक अलाउद्दीन, मलिक इज़्ज़ुद्दीन इसी प्रकार के राजकुमार थे जो इल्तुतमिश के अभिजात्य वर्ग में सम्मिलित थे। सिराज ने रुकनुद्दीन फीरोजशाह के समय में तुर्की सैनिकों द्वारा अनेक ताजिको के वध का वर्णन किया है जिससे यह स्पष्ट है कि उसके समय में ताजिकों की सख्या में प्रत्यधिक बढोतरी हो गई थी। यह ठीक है कि इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियो के समय मे अनेक ताजिको को अपदस्थ कर दिया गया था परन्तु फिर भी सुल्तान नासिरुद्दीन के समय में वे अनेकों महत्वपूर्ण पदो पर थे और तुर्की अमीरों के साथ मिलकर वे इमादुद्दीन रहेयान के पतन में सक्रीय थे।

हिन्दू जो कि कर देने वाले अमीर थे और दरबार मे समय समय पर उपस्थित ने थे यद्यपि उनकी सख्या अच्छी थी परन्तु उनका राजनैतिक योगदान नगण्य था। य दनुज, जिसने बलबन को तुगरिल के पकड़ने में सक्रीय सहायता दी थी, के साथ ये गये सम्मानपूर्ण व्यवहार से यह स्पष्ट है कि बलबन ने हिन्दू कर देने वालो को ंतिमय ढग से बने रहने देने की नीति अपनाई थी। सुल्तान मुइज़ुद्दीन कैकूबाद के ज्य-काल में हिन्दू राय और राजा अगणित थे। कैकूबाद की मृत्यु के बाद जब तान जलालुद्दीन ने कड़ा के विद्रोही मलिक छज्जू के विरुद्ध सेना भेजी थी तो राय म देव कोटन तथा राय भीम देव ने बलबन के वश के प्रति निष्ठा के कारण क छज्जू की सहायता की थी।

अमीरो का एक अन्य वर्ग एबिसिनियनस् का था जो कि तुच्छ था। कुतुबुद्दीन के समय में मलिक असमाउज रूमी अवध का मुक्ति था। इसी प्रकार नासिरुद्दीन चा का एक अमीर मलिक सिनान-उद-दीन था जो सिन्ध और देवल का मुक्ति रज़िया के राज्यकाल मे एबिसिनियन अमीर विशिष्टता प्राप्त कर सके परन्तु सुद्दीन याकूत की घटना से स्पष्ट हो गया कि इल्बारी तुर्क ये सहन नहीं कर ते थे कि कोई विदेशी अमीर उनके शासक के साथ इतने घनिष्ठ सम्बन्ध रक्खे। पतन के साथ ही दरबार से एबिसिनियन प्रभाव कुछ समय के लिये समाप्त हो यद्यपि सुल्तान अलाउद्दीन मसूदशाह के समय में उन्हें थोड़े समय के लिये पुन ठा प्राप्त हो सकी।

इल्बारी तुर्कों के उत्तरकालीन समय मे नये मुसलमान जो कि पहले मगोल थे भी प्रभाव बढ़ा और बलबन के समय इनमे से कुछ सम्मानित पदो पर थे। सुल्तान कैकूबाद के राज्यकाल में अनेकों उच्च पद इन्हें प्राप्त हुये परन्तु

इल्बारी तुर्क इनकी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा से इतने भयभीत थे कि इनमें से अधिकतर का उन्होंने वध कर दिया।

अफगान अमीरों की उत्पत्ति भी इल्बारी तुर्कों के समय में प्रारम्भ हुई और *उन्होंने मुहम्मद गोरी की सैनिक कार्यवाहियों में सक्रिय भाग लिया।* पृथ्वीराज चौहान के विरुद्ध युद्ध के समय उसकी सेना में 12,000 अफगान घुड़सवार उपस्थित थे। मलिक मुहम्मद लोदी उनका नेता था और मुहम्मद गोरी ने उसके भाई को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। कुतुबुद्दीन ऐबक ने भी अफगानों को आश्रय दिया और उनमें से *अनेकों को अमीर बनाया। इल्तुतमिश तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में अफ*-गान अमीरों की कोई विशेष प्रगति नहीं हुई परन्तु पुन बलबन के समय में अफगान सैनिकों की संख्या लगभग 3000 तक पहुँच गई। बलबन को अफगानों पर अत्यधिक विश्वास था और इसलिये जलाली का नव निर्मित दुर्ग विजय करने के बाद उसने उसे अफगान अमीर के सुपुर्द कर दिया।

खलजियों के समय में अभिजात्य वर्ग का संगठन :—

खलजी अभिजात्य वर्ग की विशेषता जातीय-संगठन थी। यद्यपि जलालुद्दीन खलजी ने पुराने तुर्की अमीरों को सन्तुष्ट करने का भरसक प्रयास किया परन्तु तुर्की अमीरों ने समय-समय पर खलजियों को अपदस्थ करने का भरसक प्रयास किया। जलालुद्दीन ने इसलिये राज्य के महत्वपूर्ण पद अपने सम्बन्धियों को ही दिये। जलालु-द्दीन के राज्यकाल में नये मुसलमानों को अधिक संरक्षण मिला। अनेकों नये मुसल-*मान जो कि इल्बारी तुर्कों के समय में पदासीन थे जलालुद्दीन ने उन्हें उनके पदों पर* बने रहने दिया तथा शासन के दूसरे वर्ष में अनेकों नव मुसलमान अमीर बनाये गये। 1291-92 में अब्दुल्ला के आक्रमण के समय सुल्तान ने उसके साथ एक समझौता किया और अपनी एक पुत्री का विवाह उलगू नामक नये मुसलमान के साथ कर *दिया। अनेकों को सुल्तान ने जागीरें व इक्ता प्रदान किये और वे कीलोखेड़ी, गयासपुर* आदि मोहल्लों में बस गये। मलिक छज्जू के विद्रोह को दबाने में इन नये मुसलमान अमीरों ने सक्रिय भाग लिया था।

अलाउद्दीन ने बलबन की तरह इस व्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन किया और प्रत्येक ऐसे वर्ग को जिसने पुन अपनी शक्ति स्थापित करने का प्रयास किया उसे कुचल दिया। उसने न केवल इल्बारी तुर्कों के अमीर-वर्ग को जो जलालुद्दीन के समय में आंशिक संरक्षणता प्राप्त किये हुए थे, दमन किया अपितु जलालुद्दीन के समस्त खलजी समर्थकों का भी अन्त कर दिया। तत्पश्चात् उसने मुगल अमीरों के सर्वनाश के लिए विविध कदम उठाये।

अलाउद्दीन के समय में धर्म-परिवर्तित हिन्दू अभिजात्य वर्ग के एक प्रमुख अग थे। इनमें से अधिकतर ने एक दास के रूप में जीवन प्रारम्भ किया था और

क्षणे-क्षणे अपनी स्वामिभक्ति से अमीर का पद प्राप्त किया था। मलिक काफूर-कुशगे खा, मलिक अहमद, मलिक शहीन आदि का उत्थान ऐसे ही हुआ। अलाउद्दीन ने खलजी अमीरों के विरुद्ध सन्तुलन बनाये रखने के लिए इस वर्ग को प्रोत्साहित किया। सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक शाह के समय में भी अमीरों का ये वर्ग शक्ति सम्पन्न रहा परन्तु अपने विरोधियो का समुचित नाश कर शक्ति-प्राप्त करने की मृग तृष्णा मे इन्होने अपने सर्वनाश को आमन्त्रित किया।

अफगान अमीर वर्ग ने जिसने इल्बारी तुर्कों के समय में कुछ मान्यता प्राप्त की थी, खलजियो के समय मे इन्होंने और प्रगति की। अलाउद्दीन खलजी ने उन्हे अमीर वर्ग मे दीक्षा दी। खलजियो के समय मे मलिक इख्तयारुद्दीन अफगान व अब्दुल करीम शेरवानी प्रमुख अफगान अमीर थे।

तुगलकों के समय में अभिजात्य वर्ग का संगठन—

तुगलको के आगमन तक जाती पर आधारित अभिजात्य वर्ग के सगठन का सिद्वान्त पूर्णतया बहिस्कृत हो गया था। प्रथमतः तुगलक भारत के लिए स्वयं विदेशियो जैसी स्थिति मे थे और खलजियो के पहले उनकी गणना कुलीन वर्ग में नही थी। इसके अतिरिक्त वे पुराने खलजी अमीरो पर ही आश्रित थे क्योकि उन्ही के प्रयत्नो से वे सत्तारूढ हो पाये थे। मुहम्मद तुगलक की शासन के आधार को अधिक विस्तृत और प्रसारित करने की नीति भी इसके लिए उत्तरदायी थी और इसलिए उसने हिंदू, मगोल, अरब व खोरासनी लोगो को प्रोत्साहित किया। इस प्रोत्साहन के बाद भी उसन किसी भी वर्ग को अपने विरुद्ध सगठित होने का अवसर नहीं दिया। इसी कारण उसकी मृत्यु के समय अभिजात्य वर्ग एक पिण्ड के समान था जिसमे विभिन्न नस्ल और जाति के लोग सम्मिलित थे। इस अभिजात वर्ग ने एकमत से फीरोज तुगलक को उसका उत्तराधिकारी चुना।

फीरोज तुगलक ने अभिजात्य वर्ग की इस स्वामिभक्ति का समुचित आदर किया और प्रत्येक को सन्तुष्ट करने के लिए बेमेल अमीर वर्ग को जन्म दिया। भाग्य-वश ये व्यवस्था सन्तोषपूर्ण सिद्ध हुई क्योकि उसके स्वामिभक्त अधिकारियो ने अपने स्वार्थों की अपेक्षा राज्य के स्वार्थों को प्राथमिकता दी। इस प्रकार से जातीय आधार पर अभिजात्य वर्ग के निर्माण को सुल्तान के प्रति स्वामिभक्ति के सिद्धान्त मे बदल दिया गया।

तुगलको के राज्य-काल मे अभिजात्य वर्ग के सगठन के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि आरम्भ में जब गयासुद्दीन तुगलक गद्दी पर बैठा तब अधिकतर वही अमीर वर्ग बना रहा जो अलाउद्दीन खलजी व उसके पुत्र कुतुबुद्दीन मुबारक शाह के समय मे था। यही वर्ग मुहम्मद तुगलक और फीरोज तुगलक के समय मे भी प्रभावपूर्ण बना रहा। गयासुद्दीन तुगलक ने न केवल पुराने खलजी अमीरों को

आश्रय प्रदान किया अपितु वे समस्त अमीर जो कि बलबन के समय के थे और इस समय भी जीवित थे उनका यथोचित सम्मान किया।

मुहम्मद तुगलक ने पुराने अमीर वर्ग में तीन अभिन्न तत्व और जोड़ दिये। प्रथमतः उसने विदेशियों में मुख्यतः खुरासानी और अरबों को आश्रय प्रदान किया। उसने उनको राज्य में ऊँचे पद दिये और उनको अजीज अथवा प्रिय सम्बोधन से सम्बोधित किया। खुरासानी अमीरों में मलिक अलाउल मुल्क, मलिक सजर, दोगजादा दमिश्की आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। दूसरा तत्व अफगान अमीरों का था। मलिक इख्तियारुद्दीन अफगान पहले की ही तरह मुहम्मद तुगलक के शासन में सम्मानित पदों पर आसीन रहा। बहराम अफगान, मख्दी अफगान और मलिक शाहू लोदी उसके प्रमुख अफगान अमीर थे। उसके उत्तराधिकारी फीरोज तुगलक ने भी मुहम्मद की नीति का अनुसरण किया और अफगानों को सरक्षण प्रदान किया। मलिक अफगान, मलिक दाऊद खाँ अफगान, मलिक मुहम्मद शाह अफगान आदि प्रमुख अफगान अमीर थे। तीसरा तत्व हिन्दू अमीरों का था जो कि मुहम्मद तुगलक के समय में राज्य कार्यों में सक्रीय सहयोगी था। बरनी ने अनेकों हिन्दू उच्च अधिकारियों की सूचि दी है। रतना जिसको कि सुल्तान ने 'अजीम-उस-सिन्ध' की उपाधि दी थी सर्व-विदित है। धरा को मुहम्मद तुगलक ने देवगिरी का नायब वजीर नियुक्त किया था और बहरन उसके समय में गुलबर्गा का मुक्ति था। सुल्तान फीरोज के समय उसकी धार्मिक असहिष्णुता की नीति से हिन्दू अमीरों की स्थिति सर्वथा महत्वहीन हो गयी और केवल इने-गिने ही हिन्दू अमीर रहे।

मंगोलों को भी तुगलकों के समय में सम्मानित स्थान मिला। मुहम्मद तुगलक और फीरोज तुगलक दोनों ही ने उनको सरक्षण प्रदान कर ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। मलिक मुअज्जम, अमीर अहमद इकबाल आदि इस समय के प्रमुख मंगोल अमीर थे।

सैयद और लोदी वंशों के समय अभिजात्य वर्ग का संगठन—

सैयद वंश के चार शासकों ने यद्यपि लगभग 37 वर्ष तक राज्य किया परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से उनका कोई योगदान नहीं रहा। दिल्ली सल्तनत [illegible] विघटन और पुनर्निर्माण के क्रम में सैयद वंश केवल एक अनिवार्य कड़ी ही था। प्रथम सुल्तान खिज्र खाँ ने फीरोज के समय के तुर्की अमीरों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनाई तथा उन्हें उनकी जागीरों से वंचित नहीं किया। परन्तु तुर्की अमीर इससे सन्तुष्ट नहीं हुये और इस सुविधा का उपयोग उन्होंने निरन्तर विरोध और विद्रोह करने के लिए किया। खिज्र खाँ के सम्पूर्ण राज्यकाल (1414-29 ई०) में यह स्थिति रही कि प्रत्येक वर्ष उसे या उसके विश्वसनीय सरदारों को राजस्व वसूल करने के लिए सैनिक अभियान करने पड़ते थे और विभिन्न अमीर या तो पराजित होने के पश्चात्

राजस्व देते थे अथवा अपने किलो में बन्द होकर अपनी शक्ति के अनुसार विरोध करते थे। खिज्र खा ने इन अमीरो की शक्ति पर अकुश लगाने के लिए कुछ सैयद जाति व लोगो को सम्मानित पद देने प्रारंभ किये और हिन्दुओ को भी विश्वास में लेने का प्रयत्न किया परन्तु तुर्की अमीर वर्ग की स्थिति इतनी सुदृढ हो चुकी थी कि जाति और वर्ग के आधार पर भी अमीर वर्ग को सगठित करने के बाद सुल्तान की स्थिति असतोषजनक ही रही। दूसरा सुल्तान मुबारकशाह भी विद्रोही सरदारो और अमीरो को स्थायी रूप से दबाने में असफल रहा। उसने मुख्य रूप से मुसलमानो को ही अमीर बनाया परन्तु दरबार के अमीरो को चुनने में वह असफल सिद्ध हुआ जिसके कारण ही उसकी हत्या का षडयन्त्र सफल हुआ। मुहम्मद शाह के समय में इन दिल्ली के मुसलमान अमीरों ने आक्रमणकारियो के साथ सहयोग करने का वचन दिया और वस्तुत इन अमीरों की इस नीति के कारण ही सैयाद वश का पतन हो गया।

अफगानो का राजत्व सिद्धान्त तुर्कों से भिन्न था और इसलिए अमीर वर्ग का सगठन और सुल्तान से उनका सम्बन्ध भी भिन्न आधार पर था। तुर्कों ने बलबन और अलाउद्दीन के नेतृत्व में एक अत्यधिक केन्द्रित राजतन्त्र की स्थापना की थी और शासक को दैवी अधिकार, गौरव और प्रतिष्ठा का प्रति-रूप स्वीकार किया गया परन्तु अफगानों ने इसके स्थान पर एक सघीय आधार पर जातीय राजतन्त्र की स्थापना की।[1] इस परिवर्तन का एक मात्र कारण समय की औचित्यता थी क्योंकि अफगान समाज जातीय व्यवस्था के अन्तर्गत ही सगठित था। एक शक्तिशाली केन्द्र का अभाव तथा पर्वतो के उन्मुक्त वातावरण ने उन्हे जातीय व्यवस्था पर आधारित सरकार का आदी बना दिया था। जाती का अगुआ यद्यपि उनके सम्मान का पात्र था परन्तु फिर भी वह समस्त समान अफगानो म केवल प्रथम अफगान सरदार ही स्वीकार किया जाता था। इसलिए विभिन्न जातीय प्रधानों का व्यवहार अपने नेता के प्रति अधिक नम्र अथवा आज्ञाकारिता का होना सम्भव नही था। लोदी सुल्तान बहलोल को तुर्कों, मुगलों अथवा मुसलमानों से कोई सहायता अथवा सहयोग की सम्भावना नही थी, ऐसी स्थिति मे अफगानो को रुष्ट करना न तो उचित था और न ही समयानुकूल। इसलिए यदि बहलोल को शासक बनने की इच्छा पूर्ण करनी थी तो उसे ऐसी स्थिति मे अफगानो के अहकार को बनाये रखना आवश्यक था और उन्हे ये अनुभव कराना था कि सुल्तान की समृद्धि और सम्मान उनके सम्मान और समृद्धि से अनुबन्धित है और ये एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं।[2] इस

1 पाण्डेय, ए बी —द फर्स्ट अफगान अम्पायर इन इडिया पृष्ठ 215
2 वही, पृष्ठ 216

आधार पर बहलोल लोदी ने जातीय आधार पर न केवल प्रभुसत्ता अपितु अमीरो के संगठन की रूपरेखा तैयार की। इस प्रकार से बहलोल ने अमीरो की स्थिति को ऊंचा किया और वे स्वयं को अर्द्ध-शासक के रूप में स्वीकार करने लगे परन्तु सुल्तान केवल अमीरो के बीच एक प्रधान अमीर बन कर रह गया।

सुल्तान बहलोल लोदी अपने सम्बन्धियो और मित्रो के प्रति अधिक दयालु था और इसलिए उसने राज्य के अमीर और उच्च अधिकारियो का चयन अफगानो और अपने सम्बन्धियो मे से ही किया। उसने रोह आदि के अफगानो को भारत आने के लिए आमन्त्रित किया और उन सभी को उनकी योग्यतानुसार पद और जागीरें प्रदान की तथा अनेको को अमीर के रूप मे आसीन किया। बहलोल अमीरो के साथ भाईचारे का व्यवहार करता था, उनके सामने सिंहासन पर नही बैठता था। किसी के भी घर जाकर नि सकोच खा पी लेता था और दु ख सुख मे उनके साथ सहानुभूति और आत्मीयता का व्यवहार करता था। बहलोल इस प्रकार सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सुल्तान के आदर्श को तो अपने सम्मुख न रख सका और उस परिस्थितियोवश अफगानो को बडी-बडी जागीरें देकर उन्हे शक्तिशाली बनने का अवसर भी प्रदान करना पड़ा जो लोदी-वश की दुर्बलता का कारण बना, परन्तु बहलोल अफगान अमीरो का सुल्तान रहा और उनकी स्वतन्त्र-प्रवृत्ति को अपने काबू मे रख सका। बहलोल ने अपने अमीरो को विभिन्न जातियो के सदस्य होने के बजाय एक 'बिरादरी' के सदस्य होने की भावना दी और सफलतापूर्वक उन्ह अपनी शक्ति की स्थापना का साधन बनाया। साथ ही साथ उसने अपने विरोधी अमीरो को चाहे वे अफगान ही क्यो न हो, समाप्त करने का प्रयत्न भी किया जैसा कि सियालकोट, लाहौर और दिपालपुर के शक्तिशाली अमीर तातार खा के दमन से स्पष्ट होता है।

सिकन्दर लोदी और इब्राहीम लोदी के समय मे सुल्तान और अमीरो के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया। उन्होंने अमीरो को अनुशासन में रखने तथा सुल्तान के विशेषाधिकारो पर बल दिया। राज-दरबार मे अमीरो के लिए अनेको नये नियम पारित किये गये जिससे अमीरो को उनकी आधीन स्थिति का बोध हो और जिस किसी ने सुल्तान की आज्ञाओ का विरोध करने का साहस किया उनके सिर कटवा दिये गये अथवा उन्हें अपने साम्राज्य से निष्कासित कर दिया गया। इब्राहीम लोदी कुछ परिस्थितियो वश और अधिकाश अपनी हठी और शकालु प्रवृत्ति के कारण बहुत शीघ्र ही अपने अफगान अमीरो के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष मे फस गया। सुल्तान का अमीरो से अत्यधिक कठोर व्यवहार तथा अपने समस्त पुराने अमीरो पर शका करके नवीन अमीरो को श्रेष्ठ पद प्रदान करने की नीति ने इस्लाम खा के विद्रोह को जन्म दिया। दरिया खा और दौलत खा जैसे अमीरो के साथ किये गये कठोर व्यवहार ने अमीरो को सुल्तान के प्रति न केवल अस्वामिभक्त बनाया अपितु वे विदेशियो की

सहायता करने के लिए भी तत्पर हो गये। इस प्रकार, इब्राहीम लोदी अपने अमीरों को नष्ट करने अथवा उनको दबाने में ही असफल न हुआ अपितु स्वयं शक्तिहीन हो गया और इस स्थिति में उसे विदेशी आक्रमणकारी बाबर से लोहा लेना पड़ा।

सुल्तान और अमीरों के बीच हुए इस संघर्ष से यह स्पष्ट होता है कि इन संघर्ष में सिद्धान्त कम और व्यक्तिगत आशंकाएं, भय एवं हठ अधिक मात्रा में सम्मिलित था तथा इब्राहीम की अकुशलता और अव्यवहारिकता इसके लिए अधिक अंशों में उत्तरदायी थी। यह संघर्ष न केवल लोदी-वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ अपितु भारत में एक नये राज-वंश की स्थापना में सक्रिय कारण सिद्ध हुआ।

मुगल काल में अमीर वर्ग उस श्रेणी के व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त किया जाता था जो शासक के निकटवर्ती अधिकारी होते थे और जिन्हें राजनैतिक जीवन में उच्च स्थान प्राप्त थे। साधारणतया ऐसे पदाधिकारियों का मनसब 1000 या इससे ऊपर ही होता था परन्तु अकबर के समय में 200 के मनसब प्राप्त अधिकारी को भी अमीर की श्रेणी में ही गिना जाता था।[1] मुगल अमीर वर्ग प्रायः इन मनसबदारों से ही बना था। बाबर के समय में इन्हें 'बेग' की संज्ञा से पुकारा जाता था परन्तु बाद के काल में यही 'बेग' अमीर कहलाने लगे थे। यह अमीर वर्ग ही बुद्धि जीवियों में प्रमुख वर्ग था इसलिए राज्य के पदाधिकारियों का चयन इसी वर्ग से होता था। इनमें से अनेकों साहसिक थे जो कि सम्मान, पद और शक्ति की खोज में एशिया के विभिन्न भागों से आए थे। वे अवसर-पसन्द सैनिक थे और मुगल दरबार में उनकी योग्यता को समुचित रूप में कद्र कर उन्हें सम्मानित जीवन यापन करने की आशा थी। बर्नियर ने लिखा है कि उमराह (अमीर का बहुवचन) अधिकतर वे साहसिक व्यक्ति थे जो कि विभिन्न देशों से आये थे तथा जिन्हें मुगल दरबार की शान-शौकत प्रलोभित कर लायी थी। मुगल काल में यूरोपीय अमीरों के नाम भी यदा कदा सुनाई पड़ते हैं जिन्हें भारतीय उपाधियाँ दे दी गई थीं, जैसे फ्रांसिस खां, फरंगी खां आदि। जहांगीर हॉकिन्स को भी अमीर बनाने का इच्छुक था। पूर्वजों से, जो किसी समय मुगल सेवा में रह चुके थे, मुगलों की धन-सम्पदा की कहानियाँ सुनकर अनेकों लोग अपना भाग्य आजमाने के लिए मुगल दरबार में आ गये। इन्हीं साहसिक व्यक्तियों की श्रेणी में से ही आरम्भ में मुगल अमीर वर्ग का संगठन संभव हो सका।

अमीर वर्ग में प्रवेश हेतु वंश एक महत्वपूर्ण कसौटी थी। इसलिए खानजाद और राजकुमार अमीर वर्ग में बड़ी संख्या में थे। लगभग आधा मुगल अमीर वर्ग

1. खोसला, आर० पी०—मुगल किंगशिप एन्ड नोबिलिटी पृष्ठ 231.

इन्ही मनसबदारो द्वारा सगठित था। 1658 से 1678 ई० तक 486 ऐसे मनसबदार थे जिनके पास 1000 का पद था। इनम से 213 ऐसे थे जो मनसबदारो के निकट सम्बन्धी थे। 1675 से 1 07 ई० के बीच 575 मनसबदारों मे से 272 खानजोद अमीर थे।

विदेशी अमीरो मे अधिकतर तूरानी व ईरानी थे। ऑक्सस नदी के उत्तर से आने वाले, जहा तुर्की भाषा बोली जाती थी, तूरानी कहलाये। ये सुन्नी सम्प्रदाय के थे और क्योंकि ये शासित वर्ग से सम्बन्धित थे जो इन्हे अपना निकट सम्बन्धी ही मानते थे और साथ ही मुगलो के सम्प्रदाय के ही थे इसलिए मुगल दरबार मे इनको अधिक सम्मान मिला था। धीरे-धीरे तूरानी अमीरो की सख्या घटती गई और 1658–78 में केवल 67 तूरानी अमीर ही शेष थे। सम्भवत. यह माना जाता है कि जहांगीर इन तूरानियो से अप्रसन्न था इसलिए उस समय से अनेक तूरानी अमीरो ने इस वर्ग को छोड दिया। दूसरा वर्ग ईरानियो का था जो ऑक्सस नदी के दक्षिण से आये थे। इनको खुरासानी भी कहा जाता था। ये शिया सम्प्रदाय के थे और इसलिए भारतीय मुसलमानो के बहुमत से अथवा मुगलो के धर्म से इनका तालमेल नही था। यद्यपि ये योग्य थे और इसलिए ही राज्य के अनेको महत्त्वपूर्ण पदो पर आसीन थे परन्तु सुन्नी लोगो के साथ इनका निभाव कम ही था। प्रो० खोसला ने लिखा है कि, "उत्पत्ती और धर्म मे विभिन्नता होने के कारण दोनो वर्गों के बीच प्रतिद्वन्द्वता की कठोर भावनायें थी जो यदा-कदा वैर भाव मे विकसित हो जाती थी।"[1]

अफगान अमीर वर्ग के एक साधारण अग थे। पूर्व में सिन्धु नदी और पश्चिम व कन्धार के बीच के प्रदेशो से आये ये लोग सभ्य व सुसंस्कृत जीवन बिताने के लिए अधिक उपयोगी नही समझे जाते थे। मुगलो ने इन्ही मे भारत का राज्य छीना था इसलिए इन्हे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। परन्तु फिर भी जिन अफगानो ने मुगलों की आधीनता स्वीकार कर ली थी उन्हे अमीर वर्ग मे ले लिया गया था। इन अफगान अमीरो की सख्या बहुत कम थी।

अमीर वर्ग म हिन्दुस्तानी व भारतीय मुसलमान भी थे। भारतीय मुसलमान वे थे जो विदेशो से आकर यहाँ बस चुके थे तथा उनकी दूसरी तथा तीसरी पीढी इस समय जीवित थी। बराह के सैयद जो काफी पहले यहा बस गये थे और जिन्होने इसी देश को अपनी मातृभूमि के रूप मे स्वीकार कर लिया था वे इस श्रेणी मे थे। वे स्वयं को भारतीय मानते थे तथा तूरानियो और ईरानियो के साथ उनकी कोई सद्भावना न थी। इनकी सख्या मुगल अमीर वर्ग मे 12 से अधिक नही थी।

1. खोसला, आर पी —वही पृष्ठ 228.

इसी वर्ग के अन्तर्गत राजपूत अमीर भी आते थे। यह वर्ग जमीदार अथवा राजा के नाम से विख्यात था। अकबर ने ऐसे लोगो को अपना अमीर बनाकर इन्हे मनसब दिये। जिन राज्यो अथवा भूमि पर इनका अधिकार था उनको वतन-जागीर मान कर इन्हीं के पास रहने दिया और मुगल अमीर के रूप मे इन्हें नयी जागीरें प्रदान की गई। 1658-78 ई०मे ऐसे अमीरो की सख्या 68 थी जबकि उच्च अधिकारियो की कुल सख्या 486 थी।

समकालीन लेखक चन्द्रभान ने जो मुगल अमीर वर्ग की मिश्रित प्रकृति का वर्णन किया है वह अधिक उचित और तर्क-सगत प्रतीत होता है। उसने लिखा है, "अरब, ईरानी, तुर्क, ताजिक, कुर्द लारी, तातार, रूमी, हब्शी, काकेशियन इत्यादि विभिन्न जातिया तथा रूम (तुर्की) मिस्र, सीरिया, ईराक, अरब, फारस, गिलान, मजदरान, खुरासन, सीस्तान, ट्रान्सआक्सियान, ख्वारिजम, किपचक की मरुभूमि, तुर्किस्तान, गरीजिस्तान, कुर्दिस्तान, जैसे देशो के विभिन्न वर्गों एवं प्रत्येक जाति के लोगों ने शाही दरबार मे शरण ली है तथा हिन्दुस्तानियो के विभिन्न वर्गों के विद्वान एव कुशल सैनिको, उदाहरणार्थ, बुखारी, ... शेखजादे ... ... अफगान कबीले जैसे लोदी, रोहिल आदि तथा राजपूतो के कुल ...... और हिन्दुस्तान के अन्य लोग ऊहदी पदो पर आसीन हैं ... ... तथा कर्नाटक, आसाम, बगाल ... ... आदि प्रदेशों से उनके सम्पूर्ण समूह एवं वर्गों ने शाही दरबार की चौखट चूमने का विशिष्ट अधिकार प्राप्त कर लिया है।"[1]

मुगल अमीरों का ये वर्ग जिसमे इतने विभिन्न तत्व थे और उतने ही विभिन्न स्वार्थ, उनसे यह आशा करना कि वे एक सुसगठित वर्ग के रूप मे सगठित हो सकेंगे केवल दुराशा मात्र थी। इन विभिन्न वर्गों को एक दूसरे का विरोधी सहज ही मे बनाया जा सकता था। उनके साधारण रूप से दो ही उद्देश्य थे—प्रथम व्यक्तिगत उन्नति तथा राज्य की सेवा के प्रति उनका दायित्व।[2] ऐसी स्थिति मे उनसे यह आशा करना कि राज्य के सेवक के रूप मे वे अपने उत्तरदायित्वो को पूर्ण रूप से निभायेंगे सम्भव नही था क्योंकि सदैव ही उनके व्यक्तिगत स्वार्थ उनके इस कर्त्तव्य-पालन में बाधक थे, जब तक कि शासक शक्तिशाली न हो।

इनमे से सबसे अधिक दुर्जेय तैमूरी वश से सम्बन्धित व्यक्ति थे जो हुमायूं और अकबर के साथ भारत आ गये थे। इनमें से प्रत्येक स्वय को सम्राट के समान ही सम्मानित समझता था तथा प्रभुसत्ता में साझेदार मानता था। साधारणतया ये

---

1. अली, एम. अतहर द्वारा गुलदस्ता, अलीगढ, सर सुलेमान सग्रह से उद्धत पृष्ठ 201.
2. खोसला; आर. पी —मुगल किंगशिप एण्ड नोबिलिटी पृष्ठ 228.

मिर्जा कहलाते थे और वंश-परम्परा की महत्ता के कारण इनको अवयस्क काल में ही अमीर वर्ग में सम्मिलित कर लिया जाता था। मुहम्मद हुसैन मिर्जा, इब्राहीम मिर्जा अकबर के समय के ऐसे अमीरों के उदाहरण हैं।[1] एक शक्तिशाली केन्द्रिय शासन इनकी इच्छाओं के विरुद्ध था और ये शासक की शक्ति केवल दिल्ली अथवा उसके आस-पास के प्रदेशों तक सीमित रखने के समर्थक थे जिससे कि वे अपनी-अपनी जागीरों में तानाशाह के समान शासन कर सकें। ऐसी स्थिति में सामन्तवादी प्रथा उनके लिये अधिक रुचिकर थी। शासक को इसलिए सदैव ही एक ऐसे अभिजात वर्ग के साथ संघर्ष-रत रहना पड़ता था जो अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिए कटिबद्ध थे। इन विरोधी विचारधाराओं के बीच सम्राट व उसके अभिजात वर्ग में किसी प्रकार का स्थायी समझौता सम्भव ही नहीं था। समस्त मुगल काल इस संघर्ष का एक उदाहरण था।

मुगल अमीर वर्ग की संस्था के अकुर हमें चंगेज खां के राजनैतिक संगठन में मिलते हैं। चंगेज खाँ ने पूर्व के विरोध में सभी जातियों की शक्ति अपने हाथ में ले ली और सबको अपनी आज्ञानुसार चलाया। अमीर वर्ग के संगठन की विशेषता थी कि वे उसके तथा प्रजावर्ग के बीच मध्यस्थता का कार्य करें। उन्हें प्रदत्त क्षेत्रों से कर वसूल करने का अधिकार दिया गया था परन्तु समय-समय पर उनका स्थानान्तरण किया जाता था। अमीर तीमूर ने भी चंगेज की अभिजातवर्गीय संस्था बनाये रखी परन्तु उसने इस श्रेणी में अन्य जाति के लोगों को भी लेना प्रारम्भ कर दिया जिसमें तुर्क मुख्य थे। बाबर ने तूरानियों, मिर्जाओं, मगोलों, उजबकों, ईरानियों और यहां तक की अफगानों, को भी अभिजात्य वर्ग में सम्मिलित किया। विभिन्न जाति के लोगों को लेने पर भी बाबर ने उनसे अपनी आज्ञाओं का सदैव पालन करवाया। बाबर जब भारत आया तो वह अपने साथ चगताई लोगों के बीच उन्नत सामन्तवर्गीय संस्था भी लाया। बाबर का प्रारम्भिक जीवन संघर्षमय था और अमीरों की सहायता से ही उसने सफलता प्राप्त की थी इसलिए अमीर वर्ग का शासन में प्रभावशाली होना स्वाभाविक था। महत्वपूर्ण नीति के निर्धारण में उनकी सम्मति ली जाती थी और सेना तथा राज्य में उन्हें ऊँचे पदों पर नियुक्त किया जाता था। हुमायूँ को अनेकों बार उनकी बातों को मानने के लिये बाध्य होना पड़ा था। 1538 ई में हुमायूँ की कठिनाइयों का लाभ उठाकर अमीरों ने अधिक अधिकार प्राप्त कर लिये थे और अपनी सैनिक संख्या, जागीर और भत्ते में बढ़ोतरी प्राप्त कर ली थी। हुमायूँ के सम्पूर्ण राज्य में अमीर वर्ग शक्तिशाली व प्रभावशाली रहा।

अकबर के समय तक अभिजात वर्ग केवल इस्लाम धर्मावलम्बी ही थे जिनमे

---

1. वही, पृष्ठ 230.

तुर्क, मगोल, ईरानी आदि प्रमुख थे। अकबर ने अपने उच्च आदर्श और समकालीन परिस्थिति के आधार पर अमीर वर्ग के द्वार दूसरे धर्म वालो के लिये भी खोल दिये। हिन्दू और भारतीय मुसलमान इस नीति के आधार पर अमीर वर्ग मे सम्मिलित करे जाने लगे। 1562 ई मे आमेर के कछवाहा राजवंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करने के बाद कछवाहा राजा भारमल के पुत्र और पौत्र क्रमश भगवानदास और मानसिंह को अमीर वर्ग में सम्मिलित कर लिया गया। राजपूतो के अतिरिक्त टोडरमल, बीरबल, पुरुषोत्तम को भी उच्च पदो पर नियुक्त कर अमीर वर्ग का सदस्य बना दिया गया। यह सचमुच एक नवीन और क्रांतिकारी नीति थी जिसका आधार व्यक्ति की योग्यता थी। धर्म की कसौटी अब गौण हो गई और योग्यता ही चुनाव का आधार माना जाने लगा। इसी कारण दरबार मे ऐसे लोगो का प्रवेश सम्भव हो सका जो प्रतिभा-सम्पन्न, कर्मठ व मेधावी थे। टोडरमल, तानसेन, फैजी आदि ऐसे ही लोगों के उदाहरण हैं जिन्होने अपनी योग्यता और प्रतिभा के बल पर ही साधारण परिवारो से उत्पन्न होने के बाद भी उन्नति की ओर अमीर वर्ग के सबल और प्रतिष्ठित सदस्य बन गये।

इस नीति के आधार पर किसी एक विशेष जाति के अमीर अत्यधिक शक्तिशाली नही बन सके। ऐसा अनुभव होता है कि अकबर इन समस्त जातियो को मुगल अमीर वर्ग मे लाकर उनका समाकलन करना चाहता था। प्राय वह विभिन्न वर्गों के अमीरो को एक अधिकारी के अन्तर्गत नियुक्त कर देता था लेकिन इसके साथ ही प्रत्येक वर्ग के अन्तर अथवा उत्तम पृथक प्रकृति का आदर करता था। प्रशासन ही विनियमित किया करता था कि किस अनुपात में अमुक अमीर अपनी ही जाति अथवा कुल के लोगों को भर्ती कर सकेगा।

अकबर-युगीन अमीर वर्ग वशानुगत न होकर शासक द्वारा निर्मित था। इसलिये इसे निर्मित अमीर वर्ग कहते हैं। वशानुगत अमीर वर्ग का यह लाभ था कि यह राज्य का एक शक्तिशाली वर्ग होने के नाते सकट काल मे शासक की सहायता करने मे समर्थ था परन्तु इसका सबसे बडा दोष यह था कि यह वर्ग अपने अधिकारो के लिये सतत जागरूक रहता था। ऐसी स्थिति मे यदि शासन इनकी शक्ति का दमन करने का प्रयत्न करता तो वे उसका शक्ति से विरोध करने मे भी नहीं चूकते थे। इसके विरोध मे क्योकि निर्मित अमीर वर्ग का आधार जन्म न होकर योग्यता थी इसलिये इसके सदस्य अधिक कर्मठ और कुशल व्यक्ति थे। इनके सगठित होने पर भी शासक को पहले के समान ही सकट उत्पन्न हो सकता था। परन्तु इनमें पारस्परिक द्वेष और मतभेद इतना अधिक था कि इनमे सगठन अथवा एकता होना सम्भव ही नहीं था। अत निर्मित अमीर वर्ग अकबर की सूझ की एक लाभदायक देन थी।

अकबर के शासनकाल मे दो प्रकार के अमीर थे। एक तो वे जो राज दरबार

में शासक के साथ रहते थे (तैनात-ए-रकाब) और जो शासक के साथ सूबों का भ्रमण करते थे और दूसरे वे जो सूबेदार या दीवान के रूप में प्रान्तों में रहते थे या सेना-नायक होकर युद्ध-स्थलों में जाते थे (तैनात-ए-सूबाजात)। परन्तु ये दोनों प्रकार के अमीर स्थायी रूप से अलग-अलग नहीं थे। दोनों को दोनों ही प्रकार के काम—प्रशासकीय व सैनिक—करने पड़ते थे। इस प्रकार वहाँ विविधता में एकता थी, और विविधता में तनाव उत्पन्न करने की क्षमता थी।

जहाँगीर के राज्यकाल में भी अभिजात्य वर्ग का संगठन इसी प्रकार से बना रहा और जैसे-जैसे राज्य का प्रसार दक्षिण भारत तक होने लगा वैसे ही वैसे बिजापुरी हैदराबादी लोगों को भी अभिजात्य वर्ग में स्थान मिलने लगा। जहाँगीर के समय में अकबर के राज्यकाल के समान ही विदेशों से आने वाले अमीरों की संख्या में कमी होने लगी। सम्भवत इसका एक कारण यह हो सकता है कि जहाँगीर तूरानियों से प्रसन्न नहीं था। शाहजहाँ के शासन काल में भी विदेशी अमीरों की संख्या लगातार कम होती चली गई। दोनों के ही शासनकाल में राजपूत अमीरों की संख्या में वृद्धि हुई। शाहजहाँ के राज्य के मनसबदारों की लाहौरी ने जो सूची दी है उसमें 1000 जात व उसके ऊपर के 437 अमीरों में से 82 अमीर राजपूत थे। कोई भी राजपूत उसके सम्पूर्ण राज्यकाल में 7,000 का मनसब प्राप्त न कर सका था। शाहजहाँ के प्रारम्भिक वर्षों में जब सम्राट अहमदनगर राज्य को समाप्त करने के लिए दक्षिण की ओर गया तो उसने अमीरों के वर्ग में मराठों को और अधिक स्थान देने प्रारम्भ किये। यद्यपि इस प्रकार की नीति शाहजहाँ की इच्छा के अनुकूल नहीं थी परन्तु राजनैतिक परिस्थितियों ने इस प्रकार से उग्र रूप धारण कर लिया था कि उसके सम्मुख कोई विकल्प ही नहीं था। उसके समय में मराठा अमीर वर्ग के मुख्य रूप से 1? सदस्य जिनमें 5000 हजार से ऊपर के मनसबदार ?,3000 से 4500 के बीच 6 व 1000 से 2700 के बीच 4 थे। शाहजहाँ की इस नीति का अत्यधिक प्रसार औरंगजेब के समय में हुआ जबकि परिस्थितियों के दबाव के कारण अपनी इच्छा के विरुद्ध भी उसे मराठों को सेवा में लेने के लिए तथा उन्हें अमीर वर्ग में सम्मिलित करने के लिये पूर्ण रूप से द्वार खोलने पड़े। इस प्रकार राजपूत और मराठे अमीर वर्ग के सम्मानित अंश हो गये।

औरंगजेब के समय में अभिजात्य वर्ग का संगठन—औरंगजेब के समय में 1000 और उससे ऊपर के मनसबदार ही अभिजात्य वर्ग अथवा अमीर की संज्ञा से सम्बोधित किये जाते थे। पूर्व के शासकों की तरह यह आवश्यक नहीं था कि योग्यता के निर्धारित मापदण्ड के आधार पर ही किसी व्यक्ति को अमीर बनाया जावे। इनकी नियुक्ति के समय सबसे अधिक बल वंश की कुलीनता पर दिया जाता था और इसी आधार पर खानजादे या मनसबदारों के वंशज इसके सबसे अधिक अधि

भागी थे। इसलिये औरंगजेब के अमीर वर्ग में खानजादों की संख्या आधे से कुछ कम ही थी। 1658–78 ई. के बीच कुल 486 एक हजारी या उससे ऊँचे मनसबदारों में खानजादों आदि की संख्या 213 थी और 1669–1707 के बीच 575 में से 272 अमीर इसी वर्ग के थे। इसके अतिरिक्त अधिकतर अमीर वे थे जो सामन्त अथवा जमींदार थे और जिनका कोई भी सम्बन्ध उस वर्ग से नहीं था जो मनसबदार थे। इन जमींदारों की पैतृक सम्पत्ति इन्हीं के पास रहने दी जिसे 'वतन जागीर' की संज्ञा दी गई और सरकारी अधिकारी होने के नाते इन्हें साम्राज्य के विभिन्न भागों में जागीरें प्रदान की गयीं। औरंगजेब के अन्तिम तीस वर्षों में 575 मनसबदारों में इनकी संख्या 81 के लगभग थी। अन्य राज्यों के अमीर अथवा विदेशों से आने वाले लोगों को भी उनके अनुभव, स्तर, प्रभाव तथा उनके अधिकार में होने वाली सैनिक टुकड़ियों के आधार पर अभिजात्य वर्ग अथवा अमीर वर्ग का सदस्य बनाया जाता था जैसे बसरा के हुसैन पाशा के भारत में आने पर किया गया था। औरंगजेब के अन्तिम तीस वर्षों में इनकी संख्या 575 में से 13 थी। इसके अतिरिक्त अमीर वर्ग में शिक्षाविदों, विद्वानों तथा धार्मिक व्यक्तियों को भी सम्मिलित कर लिया जाता था जैसे औरंगजेब ने मुल्ला काबिल खाँ तथा इनायत उल्लाह खाँ को अमीर बनाया था।

पूर्ववर्ती शासकों के अनुसार औरंगजेब के समय में भी कुछ विशेष मान्यता-प्राप्त जातीय वर्ग थे। उनमें उजबक, ईरानी, तूरानी, अफगान, राजपूत, दक्खनी आदि भी थे। तूरानी शब्द का प्रयोग उन सदस्य लोगों के लिए किया जाता है जो मध्य एशिया के ऐसे प्रदेशों से आते थे जहाँ तुर्की भाषा बोली जाती थी। शासक क्योंकि स्वयं तूरानी था इसलिये साधारणतया ये सोचा जाता है कि औरंगजेब के समय में तूरानियों का गुट शक्तिशाली रहा होगा परन्तु ऐसी बात नहीं है क्योंकि उसके शासन के प्रारम्भिक बीस वर्षों में 1000 और उसके ऊपर के 486 मनसबदारों में से केवल 67 तूरानी थे और अन्तिम तीस वर्षों में 575 मनसबदारों में से केवल 72 तूरानी थे। इनकी अपेक्षा ईरानियों की संख्या इन दो विभिन्न कालों में 138 व 126 थी।

राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में औरंगजेब अफगान अमीरों की संख्या को बढ़ाने के प्रति सतर्क था परन्तु उत्तरकालीन वर्षों में अफगान अमीरों की संख्या में वृद्धि हुई और सम्भवतः ये इसलिये हुई कि वे अफगान जो पहले बीजापुर राज्य के सेवक थे वे शाही सेवा में भर्ती कर लिये गये थे। 1658-78 के बीच केवल 3 अफगान 5000 या इससे ऊँचे मनसब के अधिकारी थे परन्तु 1679–1707 के बीच इनकी संख्या 90 हो गयी। अफगान अमीरों की संख्या बढ़ने से अमीर वर्ग की आन्तरिक संगति शक्तिहीन हो गयी और वह साम्राज्य के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हुई।

औरंगजेब ने अपने राज्यकाल के प्रथम वर्षों में राजपूतों को अभिजात्य वर्ग में उच्च मनसब देने में सहृदयता दिखाई। शाहजहाँ के सम्पूर्ण शासनकाल में एक भी

राजपूत 7000 का मनसबदार नहीं था परन्तु औरंगजेब ने मिर्जा राजा जयसिंह व जसवन्तसिंह के मनसबों में वृद्धि कर 7000 जात व 7000 सवार का मनसब प्रदान किया। जहाँगीर व शाहजहाँ के शासनकाल में किसी भी राजपूत अमीर को कोई भी महत्वपूर्ण प्रान्त नहीं सौंपा गया था परन्तु औरंगजेब ने 1665 ई में जयसिंह को दक्षिण का वायसराय नियुक्त किया। जसवन्तसिंह को भी दो बार गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। बर्नियर ने लिखा है कि, "यद्यपि महान् मुगल एक मुसलमान शासक है, और इस प्रकार हिन्दुओं का शत्रु है परन्तु फिर भी वह सदैव राजाओं को अधिक संख्या में अपनी सेवा म रखता है तथा उन लोगों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करता है जैसा दूसरे अमीरों के साथ, तथा अपनी सेनाओं में महत्वपूर्ण कमानों पर उनकी नियुक्ति करता है।"[1] औरंगजेब के प्रथम दशक के अन्त से पूर्व, राजपूत अभिजात्य वर्ग की पदोन्नति करते समय सयम रखना शाही नीति बन गई थी जिसका प्रथम उदाहरण औरंगजेब द्वारा मारवाड़ के उत्तराधिकारी के प्रश्न को हल करते समय दिखाई देता है। इस बदली हुई नीति के कारण जहा 1558–78 के बीच राजपूत अभिजात्य वर्ग की संख्या 14 6 प्रतिशत थी वह 1679–1707 के बीच घट कर केवल 12 6 प्रतिशत रह गयी।[2] प्रो एस आर शर्मा का यह निष्कर्ष अधिक मान्य दिखता है कि औरंगजेब ने नियमानुसार नये राजपूत अमीरों को उनके पूर्वजों की तुलना मे निम्न श्रेणी के मनसब दिये, यद्यपि यह मनसब उन्हें पुश्तैनी जमीनें या वतन-जागीरों को ध्यान मे रखते हुये ही दिये गये थे।[3] 1705 तक यह स्पष्ट हो गया कि औरंगजेब साधारणतया किसी राजपूत को गवर्नर और यहा तक कि फौजदार के पद पर भी नियुक्त करने का विरोधी था।

औरंगजेब के अभिजात्य वर्ग म हिन्दुओं का होना भी स्वाभाविक था क्योंकि अपनी सम्पूर्ण हिन्दू विरोधी नीति के बाद भी हिन्दुओं को निकालना अथवा अभिजात्य वर्ग से पूर्णतया पृथक करना सम्भव नहीं था। डा एस. आर शर्मा का मत है कि औरंगजेब के अन्तर्गत 1000 जात व उसके ऊपर के 160 हिन्दू मनसबदार थे। उनका मत है कि कुल मनसबदारों की संख्या दुगनी हो जाने पर भी, हिन्दू अमीरों की संख्या उतनी ही बनी रही जितनी कि वह शाहजहाँ के राज्यकाल मे थी। डॉ अतहर अली इसको स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार डॉ शर्मा की सूची अपूर्ण आँकड़ो पर आधारित है तथा जवाबित-ए-आलमगीरी के गलत पठन के कारण है जिसमे मनसबदारों, अहदियों, तोपचियों आदि की कुल संख्या केवल अमीरों

---

1 बर्नियर, पृष्ठ 40

2 अली, एम अतहर.—औरंगजेब-कालीन मुगल अमीर वर्ग, पृष्ठ, 40

3 शर्मा एस आर —रिलीजस पॉलिसी ऑफ द मुगल एम्परर्स, पृष्ठ 134

के लिये ही प्रयोग की गई है।[2] डॉ॰ अतहर अली के अनुसार औरंगजेब के अन्तिम तीस वर्षों में शाही सेवा में हिन्दू अमीरों की संख्या का अनुपात शाहजहाँ या उनसे पूर्व किसी भी काल की अपेक्षा अधिक था। इसका कारण यह हो सकता है कि इस काल में अमीर वर्ग में मराठों की संख्या राजपूतों से भी अधिक हो गई थी अत इनके प्रवेश के कारण हिन्दुओं की संख्या में वृद्धि हो गई थी। उनकी भर्ती धार्मिक सहिष्णुता की नीति के आधार पर नहीं हुई थी अपितु दक्षिण की उलझी हुई परिस्थिति को सुलझाने का एक मात्र राजनैतिक हल यही था कि मराठों को शाही सेवा में लिया जावे। उन्हें अभिजात्य वर्ग का अंग बनाये जावे जिससे कि वे दक्षिण की स्थिति सुधारने में सहयोग दें। वास्तविकता यह है कि दक्षिण में उलझने के पहले औरंगजेब ने हिन्दू अमीरों की संख्या घटाने की चेष्टा की परन्तु अन्त में अपनी दीनता व असहाय स्थिति से ऊब कर मराठों को अमीर वर्ग में सम्मिलित करने की नीति अपनाई।

औरंगजेब के अभिजात्य वर्ग में भारतीय मुसलमान, दक्षणी व मराठे भी थे। भारतीय मुसलमा साधारणतः शेखजादे कहे जाते थे। 1679–1707 के बीच 5000 से ऊपर के अमीरों म इनकी संख्या केवल 10 थी। दक्षणी उन सभी अमीरों को समझा जाता था जो मुगल सेवा में आने के पूर्व बीजापुर या गोलकुण्डा की सेवा में थे। औरंगजेब के राज्यकाल के प्रथम बीस वर्षों में अभिजात्य वर्ग में दक्षणियों का अनुपात अधिक नहीं था। वे न केवल संख्या में ही कम थे वरन् उन्हें अमीरों की नीचली श्रेणी में समझा जाता था। 1680 ई॰ के बाद जब औरंगजेब दक्षिण गया और उसने एक ऐसी नीति का अनुसरण किया जिसके कारण सम्पूर्ण दक्षिण का विलयीकरण हो गया तो स्थिति बिलकुल बदल गयी और औरंगजेब ने इस बदली हुई स्थिति म दक्षणी अमीरों को मुगल अमीरों का पद देने की नीति अपनाई। बीजापुरी, हैदराबादी अमीरों को शाही सेवा में लाने के लिये या तो उन्हें भेंट देकर मनाया गया अथवा अपने गढ़ों को समर्पित करने के लिये तत्पर किया गया। इसके बाद भी जब औरंगजेब मराठों के विरुद्ध सैनिक अभियानों में असफल रहा तो दक्षणियों को घूस देने की नीति अपनाई गई जिसके कारण मुगल अभिजात्य वर्ग की प्रतिष्ठा एवं उसका स्वरूप ही पूर्णतया धुँधला हो गया।

मराठा शक्ति का उत्कर्ष मूल रूप से शिवाजी के समय में हुआ और जिसका परिणाम स्वतन्त्र मराठा राज्य के रूप में हुआ। मराठों के बढ़ते हुये महत्व को देख कर एक ओर तो औरंगजेब ने यह प्रयास किया कि उनकी सैनिक शक्ति को सैनिक शक्ति के द्वारा ही समाप्त कर दिया जावे तथा इसकी ओर दूसरी असफलता ने उसे

---

1. अली, एम. अतहर —औरंगजेब-कालीन मुगल अमीर वर्ग पृष्ठ 46.

उन्हे अपने अभिजात्य वर्ग मे सम्मिलित करने के लिये प्रेरित किया। परन्तु 5000/5000 का मनसब प्रदान करके भी शिवाजी को अपने अमीर वर्ग की ओर आकृषित नही कर पाया। उसके जीवन के अन्तिम वर्षों मे, शिवाजी का पौत्र, साहू 7000/7000 का मनसबदार था, और इस प्रकार उसकी गणना यद्यपि प्रतीक रूप से ही सही, साम्राज्य के सर्वोच्च अमीरों मे थी तथापि मराठो सरदारो को मनसब प्रदान कर अपने पक्ष मे करने की चेष्टा अन्त मे असफल सिद्ध हुई, क्योंकि कुछ मराठा सरदार तो अमीर बना लिये गये किन्तु अनेको मराठा सरदारो ने औरंगजेब का विरोध करना ही मराठा जाति के लिये हितकर समझा और अमीर वर्ग के प्रलोभन मे न आकर ये महाराष्ट्र मे नये नये दुर्गों का निर्माण कर औरंगजेब के विरोधी रहे। परिणामस्वरूप औरंगजेब के अन्तर्गत मराठा अमीर-वर्ग अपनी स्वामिभक्ति मे अस्थिर रहा,[1] उनके सरदार मुगलो के पास आते रहे और उन्हें छोड़कर निरन्तर जाते भी रहे। इस प्रकार राजपूतो के समान मराठा अभिजात्य वर्ग मुगल प्रशासक वर्ग मे वास्तव मे प्रभावशाली स्थान प्राप्त न कर सका।

स्वरूप

इस्लाम सामाजिक और राजनैतिक समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और इसी आधार पर प्रभुसत्ता पर वंशानुगत अथवा वर्ग-विशेष अथवा किसी विशिष्ट परिवार का एकाधिकार स्वीकार नहीं करता। हजरत मुहम्मद साहब के निर्देशानुसार केवल योग्य ही मुस्लिम वर्ग पर शासन करने का एकमात्र अधिकारी है परन्तु ऐसी स्थिति में जब की योग्यता का कोई विशेष मापदण्ड न हो और न ही उसको चुनने की कोई निश्चित विधि व व्यवस्था ही हो, ऐसी स्थिति मे शक्ति ही शासन-प्राप्ति का एक मात्र आधार बन गई और शक्तिशाली ही शासन करने का एक मात्र अधिकारी रह गया। मध्ययुगीन शासको को इस प्रकार अपनी इच्छानुसार शासन चलाने मे कोई बाधा न रही। उसके आदेश ही कानून थे और उसकी शक्ति उन कानूनो को लागू करने की सहचरी थी। इस शक्ति को बनाये रखने के लिए सुदृढ़ और शक्तिशाली सेना की नितान्त आवश्यकता थी जो राज्य को सुरक्षा प्रदान करने के साथ ही साथ शान्ति व्यवस्था को भी बनाये रक्खे। राज्य की इस आवश्यकता ने एक ऐसे सैनिक वर्ग को जन्म दिया जो अभिजात्य वर्ग के रूप मे उभरा और जिसने उस शक्ति तथा सम्पदा का उपभोग किया जिस पर मुख्यत शासक का ही एकाधिकार था।

अभिजात्य वर्ग अथवा अमीरो का उत्थान आकस्मिक था और इसमे वे सब परिस्थितियाँ निहित थी जिनके कारण दिल्ली सल्तनत का जन्म हुआ था। मुहम्मद

1. अली, एम. अतहर —औरंगजेब कालीन मुगल अमीर वर्ग, पृष्ठ 46.

गौरी की तराईन के दूसरे युद्ध में विजय के पश्चात् भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न साकार दिखाई देने लगा और इस स्वप्न की पूर्ति केवल मुहम्मद गौरी के योग्य अथवा रण-कुशलता का परिणाम न थी अपितु उत्तरी भारत की विजय मुख्यतः उसके सेनानायकों ने ही की थी। इस समय तक इनमें कोई निहित स्वार्थ नहीं थे और अधिक से अधिक प्रदेश को विजय करना ही एकमात्र उद्देश्य था और इस कार्य में उनके नेता का निर्णय ही अन्तिम और मान्य था। कुतुबुद्दीन के जीवन काल में ये सेनानायक और अविरुद्ध के अमीर इस उद्देश्य के वशीभूत कार्य करते रहे परन्तु जैसे-जैसे साम्राज्य का विस्तार होता गया तथा शासन-व्यवस्था दृढ़ होती चली गई वैसे ही वैसे एक स्थायी प्रशासनीय अधिकारियों का वर्ग शक्तिशाली होता चला गया और शीघ्र ही यह एक सम्मानित वर्ग में परिवर्तित हो गया। इस वर्ग ने अपने आधार भूत उद्देश्यों को भूलकर केवल अपने निजी स्वार्थों को प्रधान्य बनाये रखने की नीति अपनाई और इनके तथा शासकों के स्वार्थों के बीच आपस में टकराव होने लगा। इसी कारण मध्ययुगीन शासकों के समय में उनके बीच संघर्ष होता रहा और शासकों ने अपनी शक्ति को बनाये रखने के लिये विभिन्न आधारों पर अभिजात्य अथवा अमीर वर्ग की रचना की नीति अपनाई। इसी कारण अभिजात्य वर्ग का स्वरूप और संगठन समय समय पर बदलता रहा यद्यपि साधारण आधारभूत सिद्धान्त बने रहे।

तुर्की अभिजात्य वर्ग का स्वरूप : इतिहास के विद्वानों के लिये तुर्की अभिजात्य वर्ग के स्वरूप को खोज निकालना एक रुचिकर विषय अथवा प्रसंग रहा है और अनेकों ने इसे जागीरदारी की संज्ञा से सम्बोधित किया है। अभिजात्य वर्ग उन व्यक्तियों के वर्ग की ओर संकेत करता है जो सुल्तान अथवा सम्राट के अधिकारी थे तथा साथ ही साथ जो राजनीतिक क्षेत्र में एक उत्कृष्ट वर्ग के रूप में प्रतिस्थापित थे। सुल्तानों के द्वारा दिये गये विभिन्न भू-खण्ड जागीर-समान थे और स्वयं सल्तनत ऐसे ही जागीरी भू-खण्डों का एक संगठन थी। यूरोपीय ताल्लुकेदारी तथा तुर्की अभिजात्य वर्ग में भी एक सामीप्य समानता स्थापित करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि दोनों संस्थाओं में अनेकों गुण सादृश्य हैं और विशेषकर जागीरों के बदले में की जाने वाली सैनिक सेवा परन्तु सूक्ष्म रूप से अध्ययन करने पर ये समानतायें लुप्त प्राय हो जाती हैं। इसके विपरित प्रो. अब्दुर रशीद ने इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के 24 वें अधिवेशन में अपने विचार रखते और यह स्पष्ट किया कि 13 वीं शताब्दी के तुर्की कालीन शासन में कोई ऐसा गुण नीहित नहीं था जिसके आधार पर इसे जागीरदारी प्रथा से सम्बोधित किया जावे।[1]

---

1. रशीद, अब्दुर—फ्यूडेलिज्म इन द थरटीन्थ सेन्चुरी अन्डर द, सुल्तान ऑफ देहली

इन दो विरोधी विचारधाराओं का वैज्ञानिक तथा निष्पक्ष रूप से अध्ययन करने के लिये आवश्यक है कि हम यूरोप में प्रचलित ताल्लुकेदारी व्यवस्था के मूल गुणों का अध्ययन करें। आरम्भ में यह जान लेना अधिक हितकर होगा कि यूरोप के प्रत्येक देश में यह व्यवस्था दूसरे यूरोपीय देशों से भिन्न थी और इस आधार पर इसे किसी प्रकार की व्यवस्था अथवा पद्धति की सज्ञा देना ही उचित नहीं है। परन्तु इसके बाद भी मोटे रूप से इन विभिन्न प्रचलित पद्धतियों में अनेकों लक्षण समरूप थे जिनकी व्याख्या एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका ने इस प्रकार से की है[1] कि, "अपने यौवन काल में भी जागीरदारी प्रथा को सुव्यवस्थित सस्था की सज्ञा नहीं दी जा सकती। अनेकों विषमतायें अथवा विभिन्नतायें सब ओर विद्यमान थीं और प्रत्येक जागीर में विभिन्न रीति रिवाज तथा विभिन्न मान्यतायें प्रचलित थीं। परन्तु इन विभिन्नताओं के होते हुये भी कुछ आधारभूत मान्यतायें, सिद्धान्त सब दूर समान थे। इनमें से प्रमुख आसामी और स्वामी (लार्ड) का सम्बन्ध, यह सिद्धान्त की भूमि का उपयोग करने वाला केवल आसामी अथवा किरायदार है न की स्वामी, कि वे परस्पर स्वामीभक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करेंगे, इस वर्ग का प्रत्येक सदस्य, न्यूनतम से निम्नतम तक, सरक्षण और सेवा-कारिता के सिद्धान्त से अनुबन्धित होगा, स्वामी और आसामी के बीच सम्पर्क ही उनके अधिकारों को निश्चित अथवा निर्धारित करने की कसौटी होगी तथा यही सम्पर्क प्रचलित कानूनों में सुधार करने अथवा उनका रूप-भेद बदलने और नये कानूनों के निर्माण करने में निर्णायक होगा" मोटे रूप से ये यूरोप में प्रचलित जागीरदारी प्रथा के कुछ आधार भूत सिद्धान्त थे और तेरहवीं तथा चौदहवी शताब्दी के भारत में इसके प्रतिरूप की जानकारी के लिये यह प्रथमतया आवश्यक होगा कि क्या इनमें से कुछ लक्षण भारतीय व्यवस्था में विद्यमान थे।

मोरलैंड ने बहुत पहले ही इस ओर सकेत किया था कि सल्तनत कालीन इतिहासकारों ने जागीरदारी सस्थाओं के सम्बन्ध में बहुत ही द्विधात्मक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जैसे 'विलायत' और 'वली'। विलायत के ही अनेकों अर्थ हैं जैसे राज्य, का एक निश्चित भाग (प्रान्त), राज्य का एक अनिश्चित भाग (क्षेत्र), समुचित रूप से राज्य, एक विदेशी प्रदेश आदि। वली अथवा गवर्नर केवल नौकरशाही (bureaucratic) की स्थिति में था और शासक के नाम पर वह जिस भी प्रदेश का शासन सचालित करता था उसमें उसके अपने नीहित स्वार्थ विद्यमान थे।[2]

---

1 एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका भाग 8 पृष्ठ 204–71

2 मोरलेन्ड, डबल्यू एच—द ऐग्रेरियन सिस्टम ऑफ मोस्लिम इन्डिया, पृष्ठ 218

विलायत' और 'बनी' के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में 'इक्ता' और 'मुक्ति' शब्द सल्तनत कालीन इतिहासकारों ने बड़े ही खुले रूप से प्रयोग किये हैं। फारसी साहित्य में इक्ता का शाब्दिक अर्थ उस जागीर से है जो सैनिक सेवा के बदले में प्रदान की जाये। इसके वृत्तान्तों में भी इसका यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है परन्तु इसके साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि 'इक्ता' विभिन्न दौरकाल के थे और सुल्तान ने सैनिक अथवा प्रशासकीय सेवाओं के अतिरिक्त अनेकों आधारों पर 'इक्ता' प्रदान किये थे, जैसे दरगाहों, पीर और फकीरों की मजार अथवा धार्मिक व साहित्यिक पुरुषों को उनके निर्वाह हेतु अथवा पवित्र स्थानों को सुरक्षित बनाये रखने हेतु दिये गये थे।[1] 'इक्ताओं' के ये भोगी 'मुक्ति' की संज्ञा से सम्बोधित नहीं किये जाते थे। 'मुक्ति' केवल वही थे जो निर्विवाद रूप से किसी एक भूखण्ड (इक्ता) के अधिकारी थे और जो इसका शासन सुल्तान के नाम पर करते थे तथा आवश्यक रूप से सुल्तान द्वारा निश्चित सैनिक संख्या से उसकी सहायता के लिए सदैव तत्पर रहते थे। मुक्तियों की स्थिति जागीरदारी अथवा नौकरशाही शैली की थी जो तुर्की अभिजात्य वर्ग के स्वरूप को समझने में अत्यधिक सहायक होगी।

आरम्भ में तुर्कों के अधीन, अभिजात्य वर्ग भिन्न-गुण-धर्मोत्पत्ति (hetero geneous) अथवा विजातीय था यद्यपि इसमें 13 वीं शताब्दी में इल्बारी तुर्कों की अधिकता थी क्योंकि सुल्तान जो कि स्वयं इल्बारी तुर्क थे उन्होंने अपने सजातीय बन्धुओं को संरक्षण प्रदान किया था। पैतृक तथा सुव्यवस्थित अभिजात्य वर्ग की अनुपस्थिति में इन्होंने स्वामीभक्ति अथवा व्यक्तिगत सेवा के आधार पर ही अपने दासों में से अमीरों को चुनने की नीति अपनाई थी। बदलती हुई परिस्थितियों में खलजी और तुगलक वंश के शासकों के समय में इसने पैतृक स्वरूप धारण कर लिया था जिसका एकमात्र आधार इस वर्ग के अपने अधिकारों की अपेक्षा केवल सुल्तान का संरक्षण मात्र था। यद्यपि यह सत्य है कि अभिजात्य वर्ग का सम्पूर्ण इतिहास ताज से अपने अधिकारों को स्वीकार कराने का संघर्ष रहा परन्तु इसके बाद भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यूरोप की तरह भारत में अभिजात्य वर्ग की बढ़ो-तरी में राजतन्त्र की शक्तिहीनता अथवा पतन किसी प्रकार से उत्तरदायी थी। ताज सदैव ही प्रभुसत्ता और शक्ति का स्रोत बना रहा और अभिजात्य वर्ग ने इसी से शक्ति प्राप्त की। वे शासकीय ढाँचे के अंग थे और उसके बाहर उनका कोई अस्तित्व नहीं था। साधारण रूप में हम कह सकते हैं कि अभिजात्य वर्ग का अस्तित्व तथा उनकी शक्ति ताज की शक्ति पर ही आधारित थी।

---

1. (अ) इब्न बतूता—ट्रैवल्स पृष्ठ 135, 159, 276.
   (ब) फुतूहात—ए-फीरोज शाही पृष्ठ 20-21.

शासकीय ढाँचे में सहायक की स्थिति के अतिरिक्त न तो 'मुक्ति' का किसी प्रदेश पर स्वामित्व था और न ही वो किसी प्रदेश में भूमिगत अधिकार रखता था। यह सुल्तान के द्वारा ही नियुक्त किया जाता था और उस पद पर सुल्तान की सद्भावना तक ही रह सकता था।[1] किसी भी समय उसका स्थानान्तरण निलम्बित अथवा सेवा-मुक्त करना सुल्तान का अधिकार था और राज्य के किसी भू प्रदेश में उसको नियुक्त किया जा सकता था। उसकी स्थिति केवल प्रशासक के रूप में ही थी इससे और अधिक स्पष्ट हो जाती है कि वह अपने भू-खण्ड का न केवल सर्वोच्च सैनिक अधिकारी था अपितु राजस्व एकत्रित करने, न्याय की समुचित व्यवस्था करने यातायात के साधनों को बनाये रखने और अनेकों प्रकार के प्रशासकीय कार्यों का करने के लिये उत्तरदायी था। यहाँ तक की दुर्भिक्ष के समय उसे अन्न भी जुटाना पड़ता था। इससे यह स्पष्ट है कि सल्तनत कालीन भारत में यूरोपीय ताल्लुकदारों अथवा जागीरदारों के गुण भारतीय अभिजातीय वर्ग में विद्यमान नहीं थे।

इसके अतिरिक्त इक्तेदारों द्वारा जो सैनिक टुकड़ियाँ रक्खी जाती थीं उनके वेतन का भुगतान राज्य से किया जाता था और इस आधार पर वे ताज के सेवक थे यद्यपि सैनिकों की टुकड़ियों को सम्भालने की पद्धति को अनेक बार सल्तनत काल में दोहराया गया परन्तु शासकीय व रक्षात्मक दृष्टि से मुक्ति ही सुल्तान के नायब अथवा प्रतिनिधि के रूप में सेना का नेतृत्व करता था। सैनिकों से ये आशा की जाती थी कि वे मुक्ति की अपेक्षा सुल्तान के प्रति स्वामीभक्त रहें। हमारे काल में अनेकों ऐसे उदाहरण हैं जब कि सैनिकों ने विद्रोही मुक्तियों के साथ सहयोग न करके सुल्तान के स्वार्थों को सुरक्षित रक्खा तथा अनेकों बार विद्रोही मुक्तियों का वध भी कर दिया। अलाउद्दीन के समय में अमरोहा के सैनिकों ने दिल्ली में हाजीमौला के विद्रोह को दबाया। इसी प्रकार से मुहम्मद तुगलक के समय में अनेकों विद्रोह इन सैनिकों की सतर्कता तथा स्वामीभक्ति के कारण आरम्भ में ही दबा दिए गये। फीरोज तुगलक के समय में गुजरात के 'वली' शमसुद्दीन के सुल्तान विरोधी विद्रोह को दबाने के लिये वहीं के स्थानीय सैनिक ही उत्तरदायी थे।[2]

इसके अतिरिक्त स्थानीय शासन को चलाने के लिये राजस्व में से खर्च का अधिकार मुक्ति की इच्छानुसार सम्भव नहीं था। वह अपना समस्त आय व खर्च का लेखा रखता था जो कि निर्विवाद रूप से राज्य के अधिकारियों द्वारा जाँचा जाता था

---

1 बर्नी तारीख—ए फीरोजशाही पृष्ठ 40।

2 त्रिपाठी, आर पी—सम आसपेक्टस ऑफ मुस्लिम एड्मिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया पृष्ठ 245–46

ग्रौर दोषी मुक्तियो को कठोर दण्ड दिया जाता था। मुक्ति सुल्तान की ग्रनुमति के बगैर न तो कोई नया कर लागू कर सकता था ग्रौर न ही उसे वसूल करने का ग्रधिकार रखता था। राजस्व में से वह एक टका भी बगैर राजस्व-मंत्रि की ग्रनुमती के गैर निर्धारित मदो पर खर्च नहीं कर सकता था। राजस्व में से एक निश्चित धन-राशि उसे वेतन तथा भत्ते के रूप मे मिलती थी ग्रौर उसके ग्रतिरिक्त उसका राजस्व पर कोई ग्रधिकार नहीं था।

इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुक्ति नौकरशाही व्यवस्था के केवल एक ग्रग मात्र थे। वे सुल्तान के द्वारा नियुक्त किये जाते थे तथा वही उनका स्थानान्तरण, पदच्युत करने तथा उनको दण्डित करने का एकमात्र ग्रधिकारी था तथा वे राजस्व विभाग के कठोर नियन्त्रण मे रहते थे। व समस्त लक्षण यूरोप की जागीरदारी व्यवस्था के किसी प्रकार से भी ग्रग नहीं थे।

इस प्रकार से इन दोनो व्यवस्थाओं का ग्रध्ययन करने के पश्चात् हम इस स्थिति मे हैं कि उनमें समानताओं व विभिन्नताओं को जानकर यह निष्कर्ष निकाल सकें कि दोनो व्यवस्थायें किसी सीमा तक एक दूसर के समान्तरण थी ग्रथवा एक दूसरे के समरूप थी।

पृथमत यूरोप मे जागीरदारी प्रथा का जन्म शासक की शक्तिहीनता का परिणाम था परन्तु भारत मे तुर्की ग्रभिजात्य वर्ग की उत्पत्ति मूलतः सुल्तान के शक्ति शाली होने के कारण हुई। परिस्थितियों-वश यूरोप के शासकों ने बाध्य होकर ग्रपनी शक्ति को ग्रभिजात्य वर्ग के साथ विभाजित कर उसका उपयोग करना हितकर समझा परन्तु भारत में तुर्की सुल्तानों ने राज्य ग्रौर शासन के ग्राधार को ग्रधिक शक्तिशाली बनाने के लिये ग्रभिजात्य वर्ग का निर्माण किया। इस वर्ग के निर्माण के पश्चात् भी सुल्तान उत्साहपूर्वक ग्रपने ग्रधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये सतर्क रहे ग्रौर ग्रभिजात्य वर्ग के प्रभुसत्ता मे भागीदारी के प्रत्येक प्रयत्न को ग्रसफल कर दिया। यदि इल्तुतमिश के द्वारा स्थापित तुर्की राज्य ग्रधिक समय तक जीवित रहता तो यह संभावना हो सकती थी कि ग्रभिजात्य वर्ग को दी गई ग्रमुख्य (minor) शक्ति स्थायी ग्रधिकारो में परिवर्तित हो जाती, परन्तु इल्तुतमिश का राज्य स्थापित परि-पाटियों ग्रथवा साधारणजन की इच्छा की ग्रपेक्षा शक्ति पर ग्राधारित था ग्रौर केवल शक्ति के ग्राधार पर ही इसे बनाये रखना सम्भव भी था परन्तु इसका ग्रान्तरिक सगठन इस प्रकार का था कि शक्ति द्वारा बनाये रखना सम्भव नहीं था ग्रौर इसीलिये इसका पतन हुग्रा।

इसके ग्रतिरिक्त ग्रनेकों क्षेत्रों मे तुर्क कालीन पद्धति ग्रपना प्रतिरूप यूरोपीय पद्धति से भिन्न थी। तुर्की पद्धति मे व सब विशेषाधिकार न थे जिनका उपयोग यूरोपीय जागीरदार करते चले ग्राये थे। छत्र, दूर्बेश ध्वज ग्रथवा नक्कारा रखने

की अनुमति जिन्हे हम विशेषाधिकार अथवा मरातिब कह सकते हैं वास्तव मे विशेषाधिकार न थे क्योकि इनसे इनके धारण करने वाले को कोई आर्थिक लाभ न था। इसके अतिरिक्त ये मरातिब उनकी कुशल सेवाओं की स्वीकृति में दिया गया सम्मान था। एक प्रकार से ये राज्य के द्वारा प्रदान किये गये अधिकार थे जबकि यूरोपीय पद्धति में इस प्रकार की सुविधायें राज्य के विरुद्ध प्राप्त की गई थीं। इसके अतिरिक्त यूरोपीय पद्धति मे जागीरदारो अथवा ताल्लुकदारो को दी गई ये सुविधायें उनके भूमि प्राप्ति पर आधारित थी और इसलिये स्थानीय थी जबकि सल्तनत कालीन व्यवस्था मे इन सुविधाओ का आधार राज्य पद की प्राप्ति थी और इसलिये अमीरो के स्थानान्तरण तथा पदोन्नति का उनकी विशेष सुविधाओ पर कोई प्रभाव नही पड़ता था। तुर्की अमीर वर्ग को दी गई विशेष सुविधायें का उनका दिये गये 'इक्ता' से कोई सम्बन्ध नही था।

इस प्रकार इस विवेचन के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि तुर्क-कालीन अभिजात्य वर्ग का स्वरूप प्रमुखत नौकरशाही था। इसमे कुछ समानतायें यूरोपीय जागीरदारी की भी थी परन्तु ये काफी बदले हुये रूप को लिये हुई थी। यह भेद सम्भवत इसलिये था कि 13 वी व 14 वीं शताब्दी का भारत समकालीन यूरोप से काफी भिन्न था। इसके अतिरिक्त तुर्की अभिजात्य वर्ग अभी अपनी शैशव अवस्था में ही था तथा भारत मे उसकी पृष्ठ–भूमि नाम मात्र की थी। तुर्क शासक जो मध्य एशिया की विशेषकर मिश्र की नौकरशाही से अधिक परिचित थे वे साधारण स्थिति मे अपने स्वार्थ की रक्षा-हेतु उसी व्यवस्था को भारत मे लागू करने के अति-रिक्त और कुछ करने में असमर्थ थे। वाग्स्दार वश और राजनैतिक परिवर्तनो के कारण ये सस्था अपनी परिपक्वता को प्राप्त न कर सकी। इस तरह से तुर्ककालीन अमीर वर्ग का स्वरूप जागीरदारी की अपेक्षा नौकरशाही पर अधिक आधारित था।

मुगल कालीन अभिजात्य वर्ग का सगठन —

मुगल-अमीर-वर्ग मनसबदारी प्रथा पर आधारित था। मनसब (पद, स्थान, श्रेणी) शब्द किसी पद पर आसीन व्यक्ति के स्थान का सूचक था। वह उसके प्राप्त-कर्ता के स्तर को ही नही अपितु उसके वेतन को भी निश्चित करता था तथा इस तथ्य का द्योतक था कि अमुक अधिकारी (मनसबदार) कितने सैनिको, घोडो व साज-सज्जा के साथ राज्य की सेवा में तत्पर रहेगा।

मुगलो के पहले भी तुर्की सेनाओ में घुडसवारो का सगठन दशमलव प्रणाली पर आधारित था। जिसका एक आधार यह था कि निम्न श्रेणी के अधिकारी उच्च श्रेणी के अधिकारियो के आधीन रह तथा उनके द्वारा रक्खी गई सैनिक टुकडियाँ उच्च श्रेणी के अधिकारियो की सैनिक टुकडियो का अग बनी रह। सम्भवतः बाबर और हुमायूँ के समय में इसी प्रकार से व्यवस्था बनी रही परन्तु अकबर ने अभिजात्य

वर्ग (अमीर वर्ग) को जिस मनसबदारी प्रथा पर व्यवस्थित किया वह पहले की प्रणाली से भिन्न थी। इस प्रथा में प्रत्येक मनसबदार चाहे वह न्यूनतम अथवा अधिकतम सवारों को ही क्यों न सचालित करता हो शासक के अधीन था। अमीरों तथा मनसबदारों में भेद होते हुए भी राज्य के सैनिक संगठन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। इसके अतिरिक्त मुगल मनसब 'जात' (निजी) व 'सवार' पदों पर आधारित था। अकबर के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों से ही जात की संख्या कृत्रिम संख्या बन चुकी थी जो वेतन अधिकारी वर्ग में मनसबदार के स्थान को निश्चित करती थी तथा उसे मिलने वाले वेतन को बताती थी। इसलिये सवार पद प्रारम्भ हुआ जो कि अमीर अथवा मनसबदार द्वारा रखे जाने वाले घोड़ों व घुड़सवारों की संख्या को बतलाता था और जो जात पद के या तो बराबर हुआ करता था या उससे कम। अमीरों का पदानुक्रम निश्चित करने की व्यवस्था के ये आधारभूत तत्व सत्रहवीं शताब्दी तक बने रहे किन्तु समय के साथ-साथ उनमें कुछ नये तत्वों का भी समावेश हो गया। जहांगीर के समय में दो अस्पा और-सी-अस्पा के पद मिलते हैं। शाहजहां के समय नये मासिक वेतनमान तथा विभिन्न सवार मनसबों के अन्तर्गत सैनिक टुकड़ियों का आधार निर्धारित करने के नियम बनाये गये। औरंगजेब के समय में इसी प्रकार प्रतिबन्धित (मशरूत) मनसब की जानकारी मिलती है।

अकबर ने अमीर वर्ग के संगठन को व्यवस्थित रूप में मनसबदारी प्रथा पर आधारित किया। राज्य के प्रत्येक अधिकारी के पास किसी न किसी प्रकार का मनसब था। फलतः मुगल सामन्त वर्ग इन्हीं मनसबदारों से संगठित हुआ। सभी कुलीन मनसबदार थे किन्तु सभी मनसबदार कुलीन नहीं थे। इसलिये यदि मनसबदारी प्रथा को अमीर वर्ग का आधार माना जावे तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। प्रत्येक मुगल अमीर का सैनिक होना अनिवार्य था और केवल सदर काजी को ही इस सैनिक सेवा से मुक्ति दी गई थी। यह कहना अधिक उचित होगा कि मुगल काल में अमीर वर्ग और मनसबदार प्रायः एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द थे। बदायूनी स्वयं 20 घुड़सवार का मनसबदार था अतः वह 10 घुड़सवार के मनसबदार को भी अमीर की संज्ञा देता है।

मनसबदार का साधारण अर्थ पद, प्रतिष्ठा अथवा नौकरी है। इरविन के अनुसार इसका उद्देश्य सरकारी अधिकारियों को अलग-अलग श्रेणी में विभाजित कर उनके वेतन को निश्चित करना था। प्रत्येक श्रेणी के मनसबदार को अपने पद के अनुसार घोड़े, हाथी, सैनिक आदि रखने पड़ते थे और उसे एक निश्चित वेतन मिलता था। ये वेतन या तो नगदी के रूप में राजकोष से दिया जाता था अथवा जागीर के रूप में और जागीर में प्राप्त आय से वे अपने घुड़सवारों आदि का खर्च निकालते थे। जागीर क्योंकि सरकारी थी इसलिये समय-समय पर मनसबदारों की जागीरें बदल

दी जाती थी। इस प्रकार से राज्य के प्रत्यक अधिकारी को मनसब मिला हुआ था। और यही मनसबदारी वर्ग एक शक्तिशाली अमीर वग था।

अकबर ने मनसबदारी व्यवस्था लगभग 1595 ई के अन्त में आरम्भ की थी। उसके समय म मनसबदार का निम्नतम दर्जा 10 का था और सर्वोच्च दर्जा 12,000 का था जो कि केवल मुगल राजकुमारो के लिये ही सुरक्षित था। अकबर के समय मे ही मनसब जात और सवार पद म विभक्त हो गया था। विभिन्न अमीरो का पदानुक्रम निर्धारित करने के लिये साकेतिक पद जात मनसब का था। प्रत्यक अमीर द्वारा उसके वेतन या उसकी जागीर से आय के आधार पर सैनिक टुकडियाँ रखनी पडती थी और इन्ही सैनिक टुकडियो पर ठीक रूप से नियन्त्रण रखने के लिए सवार पद की व्यवस्था की गई थी जो जात पद के या तो बराबर होता था अथवा उससे कम होता था। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जात पद से मनसबदार की श्रेणी का पता चलता था किन्तु सवार पद से यह जानकारी होती थी कि वास्तव मे उसके पास कितने घुडसवार थे। पर तु कभी कभी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सवार पद जात से अधिक था। अकबर के समय मे इसका स्पष्टीकरण यह दिया जाता है कि सम्भवत ऐसा प्रतिलिपि की त्रुटियो के कारण है।[1] परन्तु औरगजेब के शासन काल मे अनेको एसे मनसबदार थे जिनका सवार पद जात पद से अधिक था। इसका *सम्भवत ये कारण था कि उसके राज्य के अन्तिम वर्षों मे क्योंकि अनुभवी योग्य* एव विश्वासपात्र अधिकारियो की कमी हो गई थी इसलिये उसने यह उचित समझा कि उन लोगो के सवार पद को बढा दिया जावे जिन पर वो पूरी तरह विश्वास कर सकता था और इस प्रकार से अमीरो के जात पद मे वृद्धि किये बगैर ही उन्ह अधिक सैनिक रखने की आज्ञा देकर राज्य का काम सुचारु रूप से चल सके।

जात और सवार पद म मशहत (प्रतिबन्धित) पद भी जोड दिया गया। ये मनसब किसी विशिष्ट अधिकारी को किसी विशेष पद पर सेवाएँ करने की बात को ध्यान मे रखकर दिया *जाता था। जहाँगीर के शासनकाल* मे दो अस्पा सेह अस्पा मनसब भी लागू किये गये और महावत खा इसका सवप्रथम उदाहरण था। शाहजहाँ और औरगजेब के शासनकाल म ऐसे मनसब प्राप्त करने वालो की सख्या काफी अधिक बढ गई। औरगजेब के शासन के प्रथम बीस वर्षो में 1000 जात व उसके ऊपर के कुल 486 मनसबदारो मे से 68 मनसबदार दो अस्पा-सेह अस्पा थे। सैद्धान्तिक रूप से दो अस्पा-सेह अस्पा मनसब को सवार पद का ही एक अग माना जाता था। इसको व्यक्त करने का ढग इस प्रकार था—4000 जात, 4000 सवार

---

1 अजीज अब्दुल—द मनसबदारी सिस्टम एण्ड द मुगल आर्मी पृष्ठ, 3

दुल (हमा) दो अस्पा-सेह् अस्पा अर्थात् 4000 जात 4000 सवार उसमें से 1000 दो अस्पा सेह् अस्पा। इसका अर्थ था कि 4000 सवारों में से यदि, 1,000 दो अस्पा-सेह् अस्पा थे। शेष 3,000 को बारावर्दी कहते थे। बाद वाले भाग के लिये अमीर को साधारण दर से भुगतान किया जाता था परन्तु दो अस्पा-सेह् अस्पा पद के लिये उसका उत्तरदायित्व एवं वेतन दोनों ही दुगने कर दिये जाते थे।

प्रत्येक अमीर का वेतन उसके मनसब के आधार पर होता था। मनसबदारों में जात व सवार पद थे, इस आधार पर वेतन में भी दो भाग थे। जात पद का वेतन अमीर अथवा मनसबदार अपने खान-पान अथवा व्यक्तिगत नौकरों पर व्यय कर सकता था जिसे 'खासह' (व्यक्तिगत) कहा जाता था। सवार पद का वेतन उसके द्वारा रक्खी जाने वाली सैनिक टुकड़ियों के लिये किया जाता था जिसे 'ताबीनान' कहा जाता था। जात मनसब की प्रत्येक श्रेणी के लिये वेतन अलग अलग थे। उच्चतर मनसब पर पदोन्नति होने पर वेतन यथानुपात नहीं बढ़ता था। इसके अतिरिक्त 5,000 से नीचे के पदों के लिये जात पद का वेतन विविध रूप में तीन श्रेणियों में निश्चित किया गया था—जब सवार और जात पद बराबर हो या सवार पद जात पद के आधे से कम न हो, दूसरे जब सवार पद जात पद का आधा हो, और तीसरे जब वह आधे से भी कम हो। प्रथम श्रेणी का वेतन सबसे अधिक और तृतीय श्रेणी का सबसे कम होता था। सवार पद की दर प्रत्येक इकाई के लिये निरापवाद रूप से निश्चित होती थी और जब उसमें दो अस्पा–सेह् अस्पा पद हो तो इस पद की संख्या को वेतन देने के लिये दुगना कर दिया जाता था।

मासिक अनुमाप या अनुपात का नियम सबसे पहले शाहजहां के शासनकाल में लागू किया गया। इसकी उत्पत्ति इस कारण से हुई प्रतीत होती है कि सरकार द्वारा निर्धारित रकम (जमा) तथा जागीर से वास्तव में वसूली की रकम (हासिल) के बीच अन्तर था। इस प्रकार जब कोई व्यक्ति ऐसी जागीर प्राप्त करता जिसका जमा कागज पर उसके वार्षिक वेतन या दावे (तलब) के बराबर हुआ करती थी तो वस्तुतः उसे उस दावे का आधा या चौथाई ही प्राप्त होता था। ऐसी स्थिति में उस जागीर को क्रमशः 'शशमहा' (छमाही) या 'सेहमाहा' (तिमाही) वाली जागीर कहते थे। जहां वास्तविक वसूली से जमा अत्यधिक हुआ करती थी वहां जागीर मासिक अनुमाप में बहुत ही नीचे होती थी। इसी कारण दक्षिण में अधिकतर मनसबदारों की जागीरें चार माहा की ही हुआ करती थीं।

1 ज़ब्ती व्यवस्था और अमीर वर्ग ज़ब्ती व्यवस्था के अन्तर्गत किसी भी अमीर की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति को उसके पुत्रों में बांटने के बदले राज्य उसे जब्त कर लेता था या अपने अधिकार में कर लेता था। इसका आधार ये माना जाता था कि अमीर राज्य के सेवक होते थे और उनके द्वारा एकत्रित किया हुआ धन राज्य का

होना चाहिये क्योंकि इस धन को उन्होंने राज्य के सेवक के रूप में ही अर्जित किया था। इस आधार पर मुगल शासक अमीर को चल व अचल सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमा लेते थे। बर्नियर ने इस व्यवस्था को जंगली कहा है। इसी कारण मुगलकालीन भारत में शक्तिशाली अमीर वर्ग का उत्कर्ष नहीं हो सका क्योंकि अमीर के पुत्र को अपना जीवन नये तरीके से आरम्भ करना पड़ता था और पिता की सम्पत्ति से उसे कुछ भी प्राप्त न होता था।

यद्यपि इस प्रथा का प्रारम्भ कब हुआ यह जानना अत्यधिक कठिन है परन्तु इतना अवश्य है कि अकबर के समय में भी यह किसी न किसी रूप में प्रचलित अवश्य था। ये सम्भव है कि उसके समय में इसकी अवस्था विकृत न हुई हो जैसा कि शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में देखने को मिलती है। अकबर के समय में यदि किसी अमीर का उत्तराधिकारी नहीं होता, अथवा उस पर राज्य का बकाया हो, अथवा उसने अपनी जागीर का हिसाब साफ नहीं किया हो तो अमीर की सपत्ति जब्त कर ली जाती थी। जहाँगीर के समय में जब्ती प्रथा का आभास हमें उसके राज्यारोहण के समय जारी किए गये अध्यादेशों से मिलता है जिसके अनुसार किसी भी अमीर की सम्पत्ति उस समय जब्त कर ली जाती थी जबकि उसकी कोई कानूनी सन्तान न हो। परन्तु अकबर की मृत्यु के तीन वर्ष बाद 1608 ई० में कैप्टन हाकिन्स ने लिखा है कि, "इस मुगल बादशाह जहाँगीर की यह रीति है कि यदि कोई अमीर मर जाता है तो उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती है। उस सम्पत्ति में से अमीर के उत्तराधिकारियों को उतना ही दिया जाता था जितना की बादशाह की इच्छा होती। अधिकतर उत्तराधिकारियों के साथ बादशाह अच्छा ही व्यवहार करता है, उनके पिता की सम्पत्ति को उनके बीच बांट दिया जाता है और ज्येष्ठ पुत्र के लिए उसके हृदय में ज्येष्ठ आदर रहता है।" शाहजहाँ और उससे भी अधिक औरंगजेब के काल में इस व्यवस्था ने भयंकर रूप धारण कर लिया।

जब्ती व्यवस्था के कारण मुगलकालीन अमीर वर्ग अत्यन्त शक्तिहीन हो गया। बर्नियर ने लिखा है, "बादशाह सब ही तरह की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था अतः कोई भी अमीर का परिवार अधिक दिनों तक अपना स्थान नहीं बनाये रख सकता था। अमीर वर्ग की मृत्यु के बाद उसका महत्व समाप्त हो जाता था। उसका पुत्र या कम से उसका पौत्र निर्धन और भिखारी हो जाता था। उन्हें साधारण घुड़सवार के रूप में सेना में भर्ती होना पड़ता था।" जब्ती प्रथा के कारण अमीर-वर्ग अपनी सम्पत्ति का उपभोग अपने जीवन काल में अधिक से अधिक करने के इच्छुक रहते थे इसी कारण इनका जीवन अधिक ऐश्वर्य-प्रिय हो गया था जिसने इनकी नैतिक और आर्थिक दशा को शोचनीय बना दिया था। इसके अतिरिक्त क्योंकि इस काल में स्वतन्त्र वंशानुगत कुलीनतन्त्र का निर्माण न हो सका इसलिए अमीर बादशाहों की स्वेच्छाचारिता की न तो साहसपूर्वक आलोचना कर सके और न ही उसके अत्याचारों का विरोध। अतः प्रत्येक दृष्टिकोण से जब्ती प्रथा अमीरों और राज्य के लिए अहितकर सिद्ध हुई

मनसब के अनुरूप उच्च पद पर रखना आवश्यक नहीं था—

यह आवश्यक नहीं था कि किसी उच्च मनसब प्राप्त व्यक्ति को उसके मनसब के अनुसार ही पद मिले। शासन को यह अधिकार था कि वह किसी भी अमीर अथवा मनसबदार को मनसब कम होने पर भी उच्च पद दे अथवा उसे ऊँचा मनसब होने पर भी किसी निम्न पद पर नियुक्त कर दे। अमीरों की उन्नति उनकी कार्य-कुशलता और उनकी स्वामीभक्ति पर निर्भर था। इसके साथ ही किसी भी अमीर को कोई भी काम सौंपा जा सकता था। अबुल फजल को विद्वान व इतिहासकार होने पर भी दक्षिण में सेना के साथ प्रस्थान करना पड़ा था और बीरबल को विद्वान होते भी यूसुफजाइयों के विरुद्ध युद्ध में जाना पड़ा था। कुछ मनसबदारों को केवल शासक की सेवा में ही उपस्थित रहने और जो कार्य उन्हें बताया जाय उसे करने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था।

मनसबदारों के सैनिक उत्तरदायित्व—

जात व सवार पद के अन्तर्गत प्रत्येक मनसबदार को निर्धारित संख्या में घोड़े व घुड़सवार रखना आवश्यक था। किन्तु अमीरों में इतना अधिक भ्रष्टाचार था कि केवल कागजी आदेश उसे दूर नहीं कर सकते थे। इसलिए सैनिक उत्तरदायित्वों को करने के लिए अकबर ने 'दाग' (निशान) और 'चेहरा' (हुलिया) की प्रथा प्रचलित की थी। अबुल फजल के विवरण से ऐसा आभास होता है कि अमीर अथवा मनसबदार को अपने निर्धारित मनसब के अनुसार घोड़े और सवारों को प्रस्तुत करना पड़ता था। अकबर के समय में यह नियम था कि मनसबदार अथवा अमीर घुड़सवारों की संख्या से दुगने घोड़े रक्खेगा। इस प्रकार 100 का एक मनसबदार या तो 100 आदमी और 200 घोड़े अथवा 50 आदमी और 100 घोड़े रखने पड़ते थे। शाहजहाँ के समय में 'एक बटा तीन' के नियम के अन्तर्गत उसको 33 आदमी और 66 घोड़े रखने पड़ते थे।

मनसबदारों की टुकड़ियों का निरीक्षण करने व उनके घोड़ों को दागने के विस्तृत नियम थे। 'नकदी मनसबदारों' को वर्ष में दो बार दागने वाले अधिकारी से नवीनीकरण पत्र प्राप्त करना पड़ता था। यदि कोई मनसबदार छः महीने के अन्दर यह पत्र प्राप्त नहीं करता तो उसे दो महीने का समय और दिया जाता था, और यदि इसके बाद भी पत्र प्राप्त न कर सके तो आठ महीने से ऊपर का वेतन उसका रोक दिया जाता था। औरंगजेब के समय में प्रत्येक नकदी मनसबदार को हर तीसरे महीने और प्रत्येक जागीरदार को हर छठे महीने अपनी सैनिक टुकड़ियों को दगवाने के लिए लाना पड़ता था।

इसी प्रकार से सैनिकों के सम्बन्ध में भी कठोर नियम थे। जो मनसबदार निर्धारित सैनिक संख्या से कम सैनिक रखते थे उनकी पदावनति करके या उन पर जुर्माना करके दण्डित किया जाता था और प्रायः उनकी जागीर घटा दी जाती थी।

5
केन्द्रीय शासन

(अ) सल्तनतकालीन केन्द्रीय शासन—

1192 ई में मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज चौहान के बीचत राइन का द्वितीय युद्ध अनेक कारणों से महत्वपूर्ण था। यह युद्ध निर्णायात्मक कहा जा सकता है क्योंकि इससे भारत मे मुस्लिम आक्रमण की अन्तिम विजय सुनिश्चित हो गयी। परन्तु विजय को स्थायी बनाने के लिए एक व्यवस्थित शासन की भी आवश्यकता थी और भारत की तत्कालीन परिस्थिति मे इसकी मांग और अधिक अनुभव की जाने लगी थी। दिल्ली सल्तनत की स्थापना, नव आगुन्तकों द्वारा, एक ऐसे देश मे की गयी थी जिसकी संस्कृति, शासन-तन्त्र आधार-विचार और शासन की अनेकों समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण यहाँ स्थापित मान्यताओं से बिल्कुल भिन्न था और इसलिए एक उचित प्रशासन की स्थापना अवश्यसभावी थी। समस्या का समाधान यही पर नहीं था अपितु उन्हे एक ऐसे देश मे शासन की व्यवस्था करनी थी जो सर्वथा उनके लिए नया था। यदि ऐसे समय मे एक ऐसे देश में प्रशासन स्थापित करने का प्रश्न होता जो पूर्ण रूप मे इस्लामी मान्यताओं पर आधारित हो तो सम्भवत. इन तुर्क नव आगुन्तकों को प्रशासन की स्थापना मे कोई कठिनाई सामने नहीं आती, परन्तु यहाँ तो ऐसा नही था। अतः अब इस क्षेत्र में उनके पास केवल दो ही विकल्प थे--राजपूत प्रशासन के आदर्शों पर प्रशासन का ढांचा तैयार करना अथवा तुर्कों की परम्परागत इस्लाम की मान्यताओं के आधार पर प्रशासन को नये तौर पर शुरू करना।

यदि वे जल्दी मे न होते तो सम्भवत भारत मे पूर्व-स्थित राजपूत (हिन्दू) आदर्श भी प्रशासन के क्षेत्र मे पुनः लागू किये जा सकते थे अथवा उसम समयानुकूल कुछ रद्दोबदल करके कार्यान्वित किया जा सकता था परन्तु क्योंकि वे नये थे, यहाँ की शासन व्यवस्था से अपरिचित थे और साथ ही उन्हे इस आन्तरिक प्रशासन के आदर्शों पर आधारित प्रशासन-तन्त्र स्थापित करने मे समय लगता इसलिए उनकी दृष्टि उन्हे इस्लाम पर आधारित प्रशासन-व्यवस्था को अपनाने के लिये ही तत्पर कर सकी।

इस्लामी मान्यताओं के आधार पर प्रशासन करने के विकल्प को चुनने के बाद भी समस्या का पूर्ण समाधान न हो सका। इस्लामी जगत में यह अनुभव किया गया था कि पैगम्बर अथवा उसके तत्कालीन उत्तराधिकारियों के जीवन पर बलवर शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना सम्भव नहीं था। यह अनुभव किया गया कि ईरान के सम्राटों के आधार पर शासन को व्यवस्थित कर जन साधारण को सुल्तान की आज्ञाओं के अनुसार चलना सम्भव हो सकेगा। इस आधार पर स्थिति अत्यधिक दुविधापूर्ण थी। क्योंकि यदि व होंने पैगम्बर की परम्पराओं का पालन किया तो राजतन्त्र और शासन-व्यवस्था को एक साथ मिलाना सम्भव न हो सकता। इसके विपरीत ईरानी सम्राटों के आदर्शों पर शासन का व्यवस्थित किया तो यह पैगम्बर की परम्परा की विरोधी होगी क्योंकि ऐसी व्यवस्था म सरकारी आदेशों का पालन करवाने के लिए विद्रोहियों को कुचलना आवश्यक था। इस्लामी देशों के शासकों न इन दो विकल्पों में स ईरानी आदर्शों को ही चुना क्योंकि केवल इसी आधार पर व स्वयं की शक्ति का भी स्थापित करने के प्रति निश्चित थे। इस आधार पर इस्लाम म राजतन्त्र अथवा राजपद के विचार का समावेश हो गया जो कि पैगम्बर के आदर्शों के विरोध में था।

तुर्कों का शासक वर्ग में उत्पत्ति का श्रेय अब्बासिद खलीफा मुतेसिम (833-42 ई०) को है जिसने तुर्की गुलामों को इतनी अधिक सख्या में नियुक्त किया था कि बगदाद उनके रहने के लिए छोटा पड़ने लगा। इनको अच्छा सैनिक बनाने के साथ ही साथ कुशल प्रशासक बनने की शिक्षा भी दी गई और इन्होंने धीरे धीरे शासन पर अधिकार कर लिया। भारत म मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के बाद इन्होंने सुल्तान की उपाधि धारण की और बाबर के समय तक इसी सज्ञा से सम्बोधित किये जाते रहे। कुरान म इसका उपयोग भाववाचक रूप मे शक्ति, सत्ता अथवा प्रभुत्व के रूप मे किया गया है।[1] धीरे धीरे इसका प्रचलन साधारण रूप म प्रभुत्व-सम्पन्न व्यक्ति के लिए किया जाने लगा। खलीफात की पतोन्मुख अवस्था मे विभिन्न प्रान्तों के सूबेदार जिन्होंने खलीफत की इस अवस्था का लाभ उठाकर स्वय को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था, सुल्तान की उपाधि धारण कर ली। भारतीय इतिहास मे महमूद गजनवी पहला शासक था जिसने सुल्तान की उपाधि धारण की थी। परन्तु केवल उपाधि धारण करने से समस्या का हल सम्भव नहीं था। और इससे सुल्तान की स्थिति सुदृढ़ न हो पायी थी। सम्पूर्ण सल्तनत काल में तुर्की अमीरों के आपसी वैमनस्य, विदेशी और देशी मुसलमानों के बीच कटुता तथा शासक-परिवार का उच्च और सम्मानित वंश से सबन्धित न होने के कारण सुल्तानों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

---

1 अर्नाल्ड—खलीफात, पृष्ठ, 202.

विदेशी और देशी मुसलमानों के बीच कटुता दिल्ली के सुल्तानों की कठिनाइयों का दूसरा कारण था। इस्लाम स्वीकार करने के पश्चात् ये धर्म परिवर्तित लोग स्वयं को तुर्की मुसलमानों के समान मानते थे, परन्तु तुर्क लोग इनके साथ शासन में कोई साझेदारी करने को तत्पर न थे और इसलिए इन्होंने स्वयं को एक दल में संगठित करना ही उचित समझा। और इसका ज्वलन्त उदाहरण इमादुद्दीन रायहान का है।[1] जिसने 1253 ई० में कुछ समय के लिये वकीलदार का पद प्राप्त कर लिया। अलाउद्दीन के समय में भी मलीक काफूर का असफल प्रयास इस कटुता का द्योतक है। नासिरुद्दीन खुसरोशाह के अल्पकालीन राज्यकाल में प्रभुसत्ता की प्राप्ति (अप्रैल 15 सितम्बर 7, 1320) इसकी पराकाष्ठा थी। इस आपसी संघर्ष ने सुल्तानों के लिए अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी।

इसके अतिरिक्त क्योंकि दिल्ली के सुल्तान मध्य एशिया के किसी सम्मानित शासकीय वंश से सम्बन्धित न थे इसलिए उनकी कोई वंशीय प्रतिष्ठा नहीं थी और इसीलिये इल्तुतमिश जैसे शासक को भी अपने समान दासों के साथ समझौता करना पड़ा था। गयासुद्दीन बलबन ने इनकी शक्ति को समाप्त कर दिया क्योंकि वह उनके अक्खड़पन अथवा घमंड को सहन करने के लिए तत्पर नहीं था। वह स्वयं "चालीस" तुर्की सरदारों के गुट का सदस्य रहा था इसलिये वह भली-भाँति जानता था कि सुल्तान की प्रतिष्ठा उस समय तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक वह कि इन सरदारों के गुट को समाप्त नहीं कर देता है। अपने वंशानुगत अधिकार की कटुता को समझकर ही उसने अपने को विद्वान् फिरदौसी की रचना 'शाहनामा' के शूरवीर पात्र अफ्रीसीयाब का वंशज बताया। अपने व्यक्तिगत व्यवहार और दरबार की शान-शौकत तथा सत्ता के प्रदर्शन से उसको सुल्तान की प्रतिष्ठा स्थापित करने में सहायता मिली। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि जो कुछ प्रतिष्ठा उसने स्थापित की थी, खलजियों के अभ्युदय से वह क्षति धुसरित हो गई। जलालुद्दीन खलजी स्वयं दूसरे खलजी अमीरों की तरह ही गद्दी का आकांक्षी था और यदि वह राज्य प्राप्त करने में सफल हुआ तो अपनी सेवाओं के आधार पर ही उसे प्राप्त कर सका। उसकी नरम नीति ने खलजी अमीरों को स्वयं अपने अस्तित्व बनाये रखने के लिये सतर्क कर दिया। अलाउद्दीन यदि राजतन्त्र स्थापित करने में समर्थ हुआ तो प्रो० हबीब के अनुसार इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह रहा कि वो जनसाधारण का सहयोग प्राप्त करने में सफल रहा जो कि अमीरों के बोझ से अत्यधिक पिस रहा था।[2] सैयद और लोदी सुल्तान पूर्णतया अपने अमीरों के सहयोग पर निर्भर थे और

1 रेवर्टी—तबकात ए-नासिरी, पृष्ठ 629

2 डे. यू एन —वही, पृष्ठ 50

लोदियो के समय तो सुल्तान की स्थिति इतनी बिगड गई कि अफगान अमीर, ताज में स्वय को सहयोगी समझने लगे थे ।

सुल्तान और खलीफा—

सैद्धान्तिक आधार पर सल्तनत खलीफात का ही अग थी और प्रमाण-स्वरूप सुल्तान खलीफा के प्रतिष्ठापन अभिषेक स्वीकार करते थे और उसकी प्राप्ति के प्रयत्नशील भी रहते थे । व्यवहारिक रूप में ऐसा नही था और खलीफा नाम मात्र का ही अधिपति था । प्रथम बार खलीफा ने इल्तुतमिश को ये प्रतिष्ठापन अभिषेक प्रदान किये[1] और उसके पुत्र, अमीर और यहा तक की दासो को भी यथोचित सम्मान दिया ।[2] इस मिथ्या सम्बन्ध के साथ ही कानूनन रूप मे खलीफा द्वारा सुल्तान की मान्यता जड गई ।[3] यह बडे ही आश्चर्य की बात है कि स्वय इल्तुतमिश न भी खलीफा को अधिपति स्वीकार नही किया और बगाल के शासक गयासुद्दीन को अधीन करने म कोई हिचकिचाहट नही दिखाई यद्यपि उसे भी इल्तुतमिश के समान ही खलीफा ने प्रतिष्ठान अभिषेको से सुशोभित किया था ।[4] और इस प्रकार दोनो ही न केवल समान स्थिति मे थे अपितु दोनो ही खलीफा के समर्थक थे । इस प्रकार से प्रारम्भ मे ही जबकि इस मिथ्या विचार की स्थापना भी न हो पायी थी तब ही इसकी महत्ता को न केवल कम कर दिया अपितु झकझोर भी दिया । इस स्थिति मे डा० बनारसी प्रसाद की यह धारणा की इल्तुतमिश ने धार्मिक भावनाओ से प्रेरित न होकर केवल अपने साथ आये हुए अन्य तुर्क साथियो का तथा निरन्तर भारत में बसने आने वाले अन्य इस्लाम समर्थकों का पक्ष प्राप्त करने के आशय से ही इसे स्वीकार किया था उचित प्रतीत होता है । इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि हलागू ने यद्यपि 1258 ई० में बगदाद के खलीफात को मटियामेट कर दिया था परन्तु फिर भी 1260 ई० में अब उसके, प्रतिनिधि भारत आये तो उनका भव्य स्वागत किया गया ।[5] यदि सुल्तान में खलीफात के प्रति किसी प्रकार का सम्मान शेष न होता तो इस प्रकार के भव्य स्वागत की यह व्यवस्था नही करता । लौकिक मार्गों के सम्मुख उसको नत-मस्तक होना पडा, क्योंकि ये अधिक आवश्यक थी । इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि खलजियो के समय मे स्वयं सिद्दी मोला

1. कुरेशी आई. एच.—द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द सल्तनत आफ देहली पृ 27.
2. इलियट एण्ड डाउसन, भाग 2, पृष्ठ 243.
3. त्रिपाठी, आर. पी.—सम आस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन पृ. 26
4. रेवर्टी—पृष्ठ 774
5. तबक्त-ए-नासिरी ईलियट द्वारा उद्धृत अनूवादित भाग 2, पृष्ठ 382-83.

को जो षडयन्त्रकारियो का नेता था खलीफा बनाने का विचार किया जाने लगा।[1] इससे यह स्पष्ट है कि साधारण वर्ग खलीफा और खलीफात के प्रति अधिक रुचि नही रखता था और खलीफा के पद पर कोई भी व्यक्ति अपनी शक्ति और पराक्रम से आसीन हो सकता था।

अलाउद्दीन ने नासिर-ए-अमीर-उल-मुमनिन व यामिन-उल-खिलाफत की उपाधि धारण की थी।[2] यद्यपि ये दोनो उपाधिया यह स्पष्ट करती है कि वह स्वयं खलीफा बनने का विचार नहीं रखता था, परन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि दरबार मे एक ऐसा दल भी था जो सुल्तान द्वारा खलीफा के पद को लेने के पक्ष मे था। अमीर खुसरो की रचना 'खजाईन–उल–फतह' के अध्ययन से एसी झलक मालुम होती है। अलाउद्दीन को सम्भवत यह विश्वास नही था कि वह धार्मिक मामलो म सफलता से हस्तक्षेप कर सकेगा और इसीलिए वह खलीफा की उपाधि धारण करने म हिचकिचाता था, परन्तु इसक साथ ही उसन अपन दरबारियो पर उसे खलीफा पुकारन पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया।[3]

अपने राज्य काल के आरम्भिक वर्षो मे मुहम्मद तुगलक न खलीफा की तरफ कोई ध्यान न दिया परन्तु अन्त क वर्षो मे उसने न केवल खलीफा के नाम को पुन खुतबे मे शामिल किया उससे प्रतिष्ठात्मक अभिषेक भी प्राप्त किए। सम्भवत अपनी असफल योजनाओ से अर्जित अलोकप्रियता को समाप्त कर वह विरोधियो की सहानुभूति जीतना चाहता था।[4] फीरोज तुगलक ने खलीफा के प्रति हार्दिक सम्मान प्रदर्शित किया और दो बार प्रतिष्ठात्मक अभिषक प्राप्त हुए। फीरोज तुगलक ने खुतबे मे दूसरे सुल्तानो के नाम के साथ ही कुतुबुद्दीन मुबारक शाह का नाम भी खुतबे मे सम्मिलित किया जिसने कि स्वय खलीफा की उपाधि धारण कर ली थी। यदि फीरोज जैसे धार्मिक प्रवृति वाले व्यक्ति के हृदय मे खलीफा अथवा खलीफात के प्रति तनिक भी सम्मान होता तो वह ऐसे व्यक्ति का नाम खुतबे मे कभी भी सम्मिलित नही करता।[5]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि सुल्तान खलीफा के प्रति केवल दिखावे के रूप मे विनीत अथवा विनम्र थे जिससे गद्दी पर बने रहने मे उनकी स्थिति

---

1 बरनी-तारीख-ए फिरोजशाही, पृष्ठ 598
2 कुरेशी, आई एच —द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द सल्तनत आफ देहली, पृष्ठ 29
3 वही, पृष्ठ 31
4 डे यू एन —वही, पृष्ठ 53-54
5 अफीफ-तारीख-ए-फीरोजशाही पृष्ठ 107.

दृढ़ बनी रहे तथा खलीफायत के नाम पर वे कट्टर अथवा धर्मान्ध मुस्लिम वर्ग की सहानुभूति प्राप्त कर सकें। इस्लाम की दुहाई तथा युद्धों को जिहाद घोषित करना इसी नीति के अन्तर्गत थे।

सल्तनत में प्रशासन के ढांचे में सर्वोच्च पद पर सुल्तान था। वह सल्तनत का प्रथम सेवक था और सम्पूर्ण प्रशासन को अपने नेतृत्व में चलाने के प्रति उत्तरदायी था। यदि सुल्तान के कार्यों की विवेचना करें तो मुस्लिम विधिवेत्ताओं के अनुसार उसके दस प्रमुख कार्य मालुम होते हैं—(1) इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तों की रक्षा करना, (2) न्याय की व्यवस्था करना, (3) इस्लामी राज्य की सुरक्षा करना तथा यातायात के साधनों को यात्रियों के लिए सुरक्षित करना, (4) फौजदारी कानूनों को कायम रखना तथा उन्हें लागू करना, (5) मुस्लिम राज्य की सीमाओं को आक्रमणकारियों के विरुद्ध दृढ़ बनाये रखना, (6) इस्लाम के विरोधियों के विरुद्ध जिहाद करना, (7) राज्य-करों को वसूल करना, (8) योग्य पात्रों को अनुदान देना, (9) ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति करना जो उसके न्यायिक और सार्वजनिक कार्यों को पूरा करने में सहायता करें और (10) व्यक्तिगत सम्पर्क से साधारण वर्ग की स्थिति की जानकारी रखना।[1]

सुल्तान के इन अधिकारों की सूची से ऐसा अनुभव होता है कि वह एक अत्यन्त निरंकुश शासक था परन्तु व्यवहार में उसके अधिकारों पर अनेक प्रकार के अंकुश थे। प्रत्येक राजनैतिक शक्ति, शक्तिशाली तत्वों के सहयोग पर आधारित होती है और सल्तनतकालीन सुल्तान इससे किसी प्रकार मुक्त नहीं थे। दूसरे सुल्तान हिन्दुओं तथा मुसलमानों के व्यक्तिगत तथा धार्मिक कानूनों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। सुल्तान स्वयं इस तथ्य का अनुभव करते थे और यद्यपि वे हिन्दुओं में प्रचलित अनेकों रीति रिवाजों से अप्रसन्न थे परन्तु वे हस्तक्षेप करने में असमर्थ थे।[2] इसी प्रकार से सुल्तान शरा नियमों में भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। सुल्तान को उलेमा वर्ग के अनेकों विद्वान् धर्म-विज्ञानी का सहयोग भी प्राप्त करना पड़ता था क्योंकि मुस्लिम वर्ग उनसे प्रभावित रहता था।[3]

स्वयं सुल्तान का गद्दी प्राप्त करना रहस्यात्मक था क्योंकि दिल्ली सल्तनत के युग में उत्तराधिकारी का कोई निश्चित नियम न था। परन्तु फिर भी सुल्तान इल्तुतमिश के समय से एक ऐसी परम्परा बनी थी जिसके अनुसार सबसे पहले सुल्तान के पुत्र अथवा पुत्री तक को ही सिंहासन प्राप्त करने का अधिकार था।

---

1. कुरेशी—वही, पृष्ठ 42–48
2. बरनी—वही, पृष्ठ 28.
3. वही, पृष्ठ 341–46.

सारांश में सुल्तान कानून बनाने, उन्हें लागू करने और न्याय का प्रधान था। राज्य की सेना का वह सबसे बड़ा सेनापति था तथा उसकी आज्ञा ही सर्वोपरि थी। राज्य के सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति करना, हटाना, उपाधियों का वितरण आदि करना उसी के अधिकार में थे, परन्तु ये उसके कानूनी अधिकार थे। व्यवहारिक रूप में राज्य के समस्त महत्वपूर्ण प्रश्न वह 'मजलिस-ए-आम' अथवा 'मजलिस ए-खलवत' के सम्मुख रखता था।[1] जिसमें उसके अत्यधिक विश्वासपात्र अथवा उच्चाधिकारी ही हुआ करते थे। 'मजलिस ए-खलवत' में राज्य के चार प्रमुख मन्त्री भी हुआ करते थे। यद्यपि सुल्तान के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह इसके निर्णय को स्वीकार करे परन्तु फिर भी वह यह उचित समझता था कि किसी भी नीति को लागू करने के पहले वह उपयुक्त व्यक्तियों से परामर्श ले ले। बलबन द्वारा अपने पुत्र मुहम्मद को इस प्रकार के आदेश देने से कि वह किसी अभियान को करने के पहले परामर्श-दाताओं से विचार-विनिमय कर ले यह स्पष्ट करता है कि इसकी कितनी अधिक महत्ता थी।[2] इसी प्रकार अलाउद्दीन ने भी दिल्ली के कोतवाल फखरुद्दीन की सलाह मानकर अपने विश्व-विजय के विचार को त्याग दिया था।[3] सुल्तान के दुर्बल होने की स्थिति में ही सरदारों का शासन में प्रभाव बढ़ जाता था। उलेमा वर्ग का भी प्रभाव बढ़ जाता था। केवल अलाउद्दीन खलजी और मुबारक शाह खलजी जैसे शासक ही उनके प्रभाव से मुक्त रहे थे।

शासन में सहायता करने के लिए मन्त्रि वर्ग हुआ करता था और इनमें से विशेषकर चार मन्त्रियों की स्थिति दूसरों की अपेक्षा महत्वपूर्ण होती थी। ये यद्यपि अलग-अलग विभाग के अध्यक्ष होते थे, परन्तु विभागीय नीति का निर्धारण स्वयं सुल्तान ही करता था। नासिरुद्दीन बुगरा खाँ द्वारा अपने पुत्र मुईज्जुद्दीन कैकुबाद को दी गई सलाह इसका स्पष्ट प्रमाण है कि राज्य में चार मन्त्रियों की स्थिति दूसरों की अपेक्षा महत्वपूर्ण थी।[4]

मन्त्रियों के अतिरिक्त सल्तनत काल में किसी अमीर को 'नायब ए मुल्क' या लार्ड लेफ्टीनेन्ट भी चुना जाता था और उसके अधिकार सुल्तान के चरित्र के अनुसार घटते बढ़ते रहते थे। कभी-कभी यह एक थोथी उपाधि ही थी और कभी-कभी वह पूर्णरूपेण तानाशाही अधिकारों का उपभोग करता था। वह सैनिक व्यवस्था का अध्यक्ष भी होता था।[5] नासिरुद्दीन महमूद के समय में उलुग खां और अलाउद्दीन के

1 बरनी—वही, पृष्ठ 289.
2 वही, पृष्ठ, 78
3 इ यू एन—वही पृष्ठ 59
4 डे. यू एन—वही, पृष्ठ 59
5 कुरेशी, आई एच —वही, पृष्ठ 93–94

राज्य में मलिक काफूर इस के ज्वलन्त उदाहरण हैं। मुहम्मद तुगलक को एक व्यक्ति के हाथों में इतने अधिकार देकर शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी बनाने की बात उचित नहीं लगी इसलिए उसने फीरोज शाह, मलिक कबीर व अहमद अयाज की एक रीजेन्सी कौंसिल स्थापित की थी। सुल्तान की सहायता के लिए और अनेकों अधिकारी थे जैसे बरीद-ए-मुमालिक, दीवान-ए-खैरात, मीर ईमारत आदि परन्तु इनसे अधिक महत्वपूर्ण मन्त्री ही थे।

समस्त शासन की व्यवस्था अकेले सुल्तान के लिए सम्भव न थी। मुस्लिम विधिशास्त्रियों ने प्रारम्भिक काल में ही सभासदों की आवश्यकता अनुभव की थी और इस बात पर बल दिया था कि स्वयं ईश्वर ने भी पैगम्बर को अपने अनुयायियों की सलाह लेने का आदेश दिया था। परन्तु खलीफाओं के अन्तर्गत इस लोकतन्त्रीय व्यवस्था में अनेकों परिवर्तन आ गये और मुस्लिम विधिशास्त्री भी स्वयं को इनको पचा सकने में असमर्थ रहे। डा० कुरेशी यह स्वीकार करते हैं कि मुस्लिम विधिशास्त्रियों की लोकतन्त्रीय व्यवस्था के आधार पर नई संस्थाओं के निर्माण की असफलता अत्यधिक स्पष्ट है। उनके व्यवहारिक दृष्टिकोण ने अटकलबाजी पर अंकुश लगाया परन्तु इसके साथ ही वे प्रचलित वातावरण से भी मुस्लिम विधिशास्त्री यद्यपि स्वयं को मुक्त न कर पाये। इस आधार पर यह तो निश्चित है कि मन्त्रियों को रखने की आवश्यकता को अनुभव करते थे परन्तु कहीं पर भी इन मन्त्रियों को जन-साधारण के प्रतिनिधि के रूप में और उन्हीं के प्रति उत्तरदायी ठहराने की कोई कानूनन व्यवस्था नहीं की थी। इस आधार पर सुल्तानों ने मन्त्रियों को राज्य के सेवक के रूप में नहीं अपितु व्यक्तिगत सेवकों के रूप में नियुक्त किया और इनको शासन-व्यवस्था चलाने का काम सौंपा। इसलिए मन्त्रिगण केवल सुल्तान के प्रति ही उत्तरदायी थे। इससे यह सोचना कि मंत्री के कोई वास्तविक अधिकार न थे भ्रमात्मक होगा क्योंकि उसकी स्थिति तथा अधिकार मुस्लिम कानून के द्वारा पूर्णतया परिभाषित थे जिनको परम्पराओं ने पुष्टता प्रदान की थी।[1] यदि सुल्तान मन्त्रियों के परामर्श अथवा सलाह पर समुचित ध्यान देता था तो इसलिए नहीं कि इनको मानना उसके लिए आवश्यक अथवा अनिवार्य था अपितु इसलिए कि वह इस प्रकार की सलाह को सुनना उचित नीति मानता था। मन्त्रियों की महत्ता का आभास हमें नासिरुद्दीन बुगरा खाँ द्वारा अपने पुत्र सुल्तान मुईजुद्दीन कैकूबाद को दी गई सलाह से स्पष्ट होता है।[2]

1 वही, पृष्ठ 78.

2 बरनी, पृष्ठ 153

राज्य के समस्त पदाधिकारियों की नियुक्ति करना, समस्त राजकीय सेवकों को वेतन बांटना, तथा वजीफे आदि की व्यवस्था उसी के विभाग द्वारा की जाती थी। इस प्रकार से वह सुल्तान के बाद राज्य की शासन-व्यवस्था में अत्यधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति था और उसी की दूरदर्शिता, योग्यता, व्यवस्था आदि पर राज्य की समृद्धि आधारित थी।

अन्य विभागों में डा. कुरेशी के अनुसार, 'दीवान-ए-रसालत' अधिक महत्वपूर्ण था।[1] सदर-उस-सुदूर इसका प्रधान था। वह इस्लाम धर्म के कानूनों को प्रजा में प्रसार करने उनका पालन कराने और मुसलमानों के विशेष हितों की सुरक्षा करने के प्रति उत्तरदायी था। जकात कर से वसूल किये गये धन पर उसका अधिकार होता था। योग्य और धार्मिक व्यक्तियों को आर्थिक सहायता तथा जागीरें उसकी सलाह के अनुसार ही दी जाती थीं। मस्जिदों, मकतबों और मदरसों को आर्थिक सहायता वही देता था। शाही खैरात (दान) की भी व्यवस्था वही करता था। वही 'काजी-ए-मुमालिक' भी होता था और इस आधार पर सुल्तान के बाद न्याय का सबसे बड़ा अधिकारी था। मुकदमे उसकी अदालत में आरम्भ भी किये जाते थे और निम्न काजियों के निर्णयों पर भी वह पुनः विचार कर सकता था।

डा० डे० के अनुसार सम्भवतः फीरोज तुगलक के शासन काल में ही इस विभाग ने कुछ महत्ता प्राप्त की थी परन्तु इसके विवरण के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है।[2] अलाउद्दीन के समय में ही दीवान-ए-रियासत विभाग को ही दीवान-ए-रसालत का रूप दे दिया गया था जिसके अन्तर्गत बाजार नियन्त्रण के नियमों को लागू किया जाता था और व्यापारियों को इसी विभाग में स्वयं को पंजीकृत कराना होता था। व्यापारियों के नाप-तौल का निरीक्षण करना तथा छल-कपट करने वाले व्यापारियों को दण्डित करना इसी के आधीन थे। प्रतिदिन बाजार में प्रचलित भावों की सूचना देना इसी का काम था।[3] इस मन्त्रालय का प्रभाव केवल अलाउद्दीन के समय में ही रहा हो और बाजार नियन्त्रण के साथ ही सम्भवतः इसकी महत्ता तथा अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

राज्य के सेना-विभाग की देखभाल 'दीवान-ए-आरिज' करता था। इसका अध्यक्ष 'आरिज-ए-मुमालिक' कहलाता था। दिल्ली सल्तनत मुख्यतः सैनिक शक्ति पर आधारित थी इसलिए इस विभाग की अत्यधिक महत्ता थी। सैनिकों की भर्ती करना, उनकी रसद की व्यवस्था, उनके निरीक्षण की व्यवस्था, घोड़ों पर दाग और

1. कुरेशी, आई एच —वही, पृ 85
2. बर्नी—वही, पृ 319
3. रेवर्टी—तबकात-ए नासिरी पृ 175.

सैनिकों की हुलिया रक्खे जाने की व्यवस्था इसी विभाग के अन्तर्गत थी।[1] शान्ति के समय में वह प्रमुखतः यही काम करता था, परन्तु युद्ध के समय वह अथवा उसका सहायक सैनिकों के आवागमन व उनकी रसद की व्यवस्था करता था। युद्ध में प्राप्त हाथी अथवा लूट के माल की व्यवस्था भी वही करता था। वह यद्यपि राज्य का सेनापति नहीं था, परन्तु समय-समय पर विभिन्न युद्धों के लिए अपनी इच्छानुसार सेनापति नियुक्त करता था।

आरिज स्वयं की सन्तुष्टि पर किसी भी योग्य सैनिक की वेतन वृद्धि कर सकता था। उसकी इन समस्त जुम्मेदारियों को पूरा करने के लिए नाइब व अनेकों दबीर (लिखक) उसके पास होते थे। एक अवसर पर स्वयं फीरोज तुगलक ने एक सैनिक को एक टंक इसलिए दिया कि वह रिश्वत के रूप में सैनिक विभाग के अधिकारी को देकर अपने घोड़े की स्वीकृति कराले। यह स्पष्ट करता है कि सैनिक अधिकारियों में कितना भ्रष्टाचार फैला हुआ था और इसी से सैनिक शक्ति का सहज ही में अन्दाज लगाया जा सकता है।

'दीवान-ए-इन्शा' शाही पत्र-व्यवहार व स्थानीय शासन की देखभाल करता था। इसके अध्यक्ष को 'दबीर-ए-मुमालिक' पुकारा जाता था। शाही आज्ञाओं का प्रारूप बनाना।[2] सुल्तान के आदेशों को राज्य के विभिन्न भागों में भेजना और सुल्तान की सभी तरह की डाक को देखना, उसके उत्तर तैयार करना तथा भेजना इसी विभाग का काम था। वास्तविक रूप में वह केन्द्रीय व प्रान्तीय शासन के बीच एक कड़ी थी इसलिए उसे बड़ी ही सतर्कता से काम करना पड़ता था क्योंकि सल्तनत काल में गवर्नरों को केन्द्र के आधीन बनाये रखना एक दुश्वार कार्य था। फीरोज तुगलक के समय में इस मन्त्रालय की महत्ता समाप्त हो गई और इसको राजस्व विभाग के अन्तर्गत एक साधारण विभाग का रूप दे दिया गया था।[3]

इन चार मन्त्रालयों के अतिरिक्त सल्तनतकाल में अनेकों छोटे-छोटे विभाग होते थे। ये मन्त्रालयों के नियन्त्रण से मुक्त थे और प्रत्येक के लिए अलग-अलग अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। ये सब विभाग सुल्तान की देख-रेख में काम करते थे। इनमें बरीद-ए-मुमालिक नाम का अधिकारी सुल्तान के गुप्तचर विभाग के संगठन का प्रधान अधिकारी था। उसके अधीन वाकिया-नवीस, खबर नवीस व

1. बरनी—वही पृष्ठ 319.
2. रेवर्टी—तबकात-ए-नासिरी, पृष्ठ 175
3 बरनी—वही, पृष्ठ 361

पाकिया निगार आते थे जो बरीद के माध्यम से केन्द्र को सभी सूचनाओं और महत्वपूर्ण घटनाओं की जानकारी देते थे। राज्य के प्रत्येक केन्द्र में एक स्थानीय बरीद की नियुक्ति की जाती थी जो केन्द्र को हर प्रकार की सूचनाओं से अवगत कराता रहता था। सल्तनत काल में जबकि केन्द्र और प्रान्तीय गवर्नरों के बीच सम्बन्ध अत्यन्त शिथिल था और केवल शक्ति के आधार पर ही इसे बनाये रखना सम्भव था ऐसी स्थिति में बरीदों की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। यदि किसी [अधिकारी की अप्रिय घटना की सूचना देने में वह असमर्थ रहता था तो स्वयं उसे अपने जीवन से इसका भुगतान करना पड़ता था।[1] सुल्तान बलबन इन बरीदों द्वारा भेजी गई सूचनाओं का सम्मान करता था और दोषी अधिकारियों के विरुद्ध सतर्क रहता था। बरीद अपने सहायकों को स्थान-स्थान पर भेजता था। राज्य के समस्त विभागों और यहाँ तक कि सैनिकों की भर्ती के समय भी बरीद अथवा उसका सहायक उपस्थित रहता था जिससे वो समस्त जानकारी सुल्तान को भेज दे तथा भर्ती किये हुए सैनिकों के बारे में अपने विचारों से सुल्तान को अवगत करा दे। इस तरह इनकी भूमिका महत्वपूर्ण थी। ईमानदार चरित्रवान व्यक्तियों को ही इस पद नियुक्त किया जाता था। कभी कभी विद्वानों को भी राज्य-हित में उनकी इच्छा के विरुद्ध इस पद को स्वीकार करना पड़ता था।[3]

एक अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी 'वकील-ए-दर' होता था जो राजपरिवार की व्यवस्था का अधिकारी था। सुल्तान के व्यक्तिगत कर्मचारियों का वेतन आदि दिलाने के अतिरिक्त वह पूर्णतया महल की व्यवस्था करता था, यहां तक कि राजकीय रसोई पर और घुड़साल उसी के नेतृत्व में थे। राजपरिवार सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति उसी के माध्यम से होती थी जिसके लिए उसका एक ही कार्यालय होता था। वकील एन्दर के अधीन एक नायब होता था जिसकी सहायता से वह व्यवस्था करने में समर्थ था। नायब वकील-ए-दर की सामयिक सूचना के कारण ही अलाउद्दीन अकत खां के षड्यन्त्र से बच पाया था।

अमीर-ए-हाजिब बारबक दरबार की शान-शौकत व रस्मों के प्रति उत्तरदायी था। वह सुल्तान से मिलने वालों की देख-भाल करता था और दरबारों आदि पर अमीरों के पद के अनुसार बैठने की उपयुक्त व्यवस्था करता था। उसके अथवा उसके सहायक हाजिबों की अनुमति के बगैर कोई भी व्यक्ति सुल्तान से नहीं मिल सकता था और न ही कोई प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत कर सकता था। इन महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों की भूमिका में यह पद राजकुमारों अथवा सुल्तान के अत्यन्त विश्वास-पात्र

---

1. कुरेशी, आई. एच.—वही, पृ. 89.
2 कुरेशी—वही, पृ॰ 89.

व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित था।[1] यहां तक कि नाईब हाजिब का पद भी केवल निकट सम्बन्धी अथवा सुल्तान के किसी मित्र को ही दिया जाता था। सदैव ही कुछ हाजिब सुल्तान की सेवा में रहते थे और एक अथवा दो हाजिब उस समय भी उसकी उपस्थिति में मौजूद रहते थे जब वो किसी अमीर से मत्रणा कर रहा हो। ऐसे चुने हुए हाजिबों को खास हाजिब कहते थे। प्रमुख-प्रमुख हाजिबों को विशेष उपाधियां जैसे 'सैयद उल हाजिब' भी दी जाती थीं।[2] अधिकतर हाजिब प्रशिक्षित सैनिक होते थे और इन्हें अभियानों का नेतृत्व सौंपा जाता था। जब कभी सुल्तान किसी अभियान का स्वयं नेतृत्व करता था तो हाजिब उसके व्यक्तिगत सचिव के रूप में कार्य करता था और हाजिब को युद्ध समिति में भी आमन्त्रित किया जाता था।

'सर ए-जांदार' सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रधान था जिसके अधीन अनेकों लम्बे, हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर तथा जांदार होते थे जिन्हें पूरी तरह से सैनिक शिक्षा दी जाती थी और शस्त्रों से लेस रखा जाता था। उनका यह कर्त्तव्य था की सुल्तान के सार्वजनिक रूप में उपस्थित होने पर वे सदैव उनके साथ रहें। हाथ में नंगी तलवार लिये ये ऐसे अवसरों पर सुल्तान के चारों ओर रहते थे जिससे सुल्तान की रक्षा के साथ ही उसकी भव्यता को बढ़ाते थे। ऐसे महत्वपूर्ण पदों पर केवल निर्विवाद स्वामि-भक्त गुलामों को ही नियुक्त किया जाता था।

ये समस्त पद मन्त्रियों के पद की तुलना में तो न थे परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान अथवा आराम से सम्बन्धित था। इस कारण से ये अधिकारी सुल्तान के व्यक्तिगत सम्पर्क में आते थे। उसके विश्वासपात्र होने के कारण ये कभी-कभी मन्त्रियों से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाते थे।

शाही महल अथवा राजपरिवार के अनेकों और छोटे-छोटे अधिकारी भी थे। 'मलिक-उल-हुकमा' शाही वैद्य था, किताबदार पुस्तकालय का अध्यक्ष था और चाश-नीगर शाही रसोई की देखभाल करता था। शराबदार सुल्तान के शराब की व्यवस्था करता था। जो 'साकी-ए-खास' के द्वारा प्रस्तुत की जाती थी। इसी प्रकार दवातदार, फराशदार आदि अधिकारी थे।

सुल्तान फिरोज ने अपने 1,80000 दासों की देखरेख व व्यवस्था के लिये एक अलग विभाग खोला था। इनमें से किन्हीं को विभिन्न व्यवसायों की शिक्षा दिलाई गई और किन्हीं के लिये शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। अफीफ के अनुसार, "कुछ दास पवित्र धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने तथा उन्हें कण्ठस्थ करने में अपना समय

1. बरनी—वही, पृष्ठ 36–37
2 बरनी—वही, पृष्ठ 527–28

लगाते थे और कुछ उनकी प्रति बनाने में सलग्न रहते थे।"[1] इन दासों में से लगभग 1200 शिल्पी थे और लगभग चालीस हजार सुल्तान के अग्ररक्षक के रूप में सदैव तैयार रहते थे। शाही परिवार के अनेको दैनिक कार्यों के लिए इन्हे नियुक्त किया जाता था; जैसे छत्रदार, इत्रदार, शमादार, संगतराश आदि। इसके अतिरिक्त इनको अनेको राजकीय कारखानो में भी रक्खा जाता था।

दासों के प्रबन्ध के लिये 'मसहूब-ए-दीवान-ए-बन्दगाने' नामक अधिकारी की नियुक्ति की गई थी[2] और इनके भत्ते आदि देने के लिये एक कोष की अलग से स्थापना की गई थी।

फीरोज तुगलक के समय अनेकों राजकीय कारखाने थे जिन पर सुल्तान समुचित धन-राशि व्यय करता था और उनको उपयोगी बनाने यथा सम्भव प्रयत्न करता था। ये कारखाने लगभग 36 प्रकार के थे जिनको रतीबी और गैर रतीबी श्रेणियो में बाटा जा सकता है। रतीबी कारखानों मे फीलखाना, शुतरखाना, सग-खाना, शमाखाना आदि थे।[3] इन विभागो मे काम करने वाले व्यक्तियों पर सुल्तान लगभग एक लाख साठ हजार टक प्रति माह व्यय करता था और इतना ही धन इस क्षेत्र से सम्बन्धित अधिकारियो में बाटा जाता था। गैर रतीबी कारखानो मे फर्श-खाना, रकाबखाना सिलहखाना, जमदारखाना, अलमखाना आदि थे। अलमखाने पर लगभग अस्सी हजार टक प्रति वर्ष व्यय किये जाते थे और इसी प्रकार दो लाख टक प्रति वर्ष फर्शखाने पर व्यय आता था। प्रत्येक कारखाना किसी खान अथवा अमीर के नेतृत्व में रक्खा जाता था। ख्वाजा अब्दुल हसन खा समस्त कारखानो के उपर निरीक्षक का काम करता था। अलग-अलग कारखानो के लिये अलग अलग लेखाकार नियुक्त थे और इनका हिसाब रखते थे और उनको अधिकारियो के सम्मुख प्रस्तुत करते थे।[4]

इस प्रकार से हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि देहली सुल्तानो के तीन सौ वर्ष के कार्यकाल में एक पल भी ऐसा नही आया कि जब प्रशासन के कार्य मे स्थिरता आई हो। उन्होंने नयी व्यवस्था स्थापित करने के बजाय पुराने आदर्शों पर ही शासन चलाना अधिक हितकर व उपयोगी समझा और केवल अवश्यसभावी ही परिवर्तन किये। जो भी सुल्तान एक बार आता था वह सदैव अपनी ही व्यवस्था पैदा करता था।

---

1. अफीफ शम्सी सिराज–तारीख-ए-फीरोजशाही, पृष्ठ 80–81. (इलियट)
2. अफीफ—वही, पृष्ठ 271.
3. अफीफ—वही, पृष्ठ 337.
4. डे. यू. एन.—वही, पृष्ठ 82

एक बात अवश्य है कि हालांकि सुल्तान कोई निश्चित प्रशासन प्रणाली को जन्म नहीं दे सके पर उनके इस प्रयोग का मूल्यांकन करते समय हमें आज के प्रशासकीय आदर्शों के आधार पर उनके प्रशासकीय आदर्शों की तुलना नहीं करनी चाहिये। सही मूल्यांकन तो तब हो सम्भव है जब हम उस समय के विश्व के अन्य इस्लामी देशों के प्रशासन से उनकी तुलना करें।

(ब) मुगलकालीन केन्द्रीय शासन

1526 ई० में जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर और इब्राहीम लोदी के बीच पानीपत का प्रथम युद्ध अनेक कारणों से महत्वपूर्ण था। मुगल वंश की स्थापना इसी युद्ध से हुई जिसने लगभग 325 वर्ष तक यहां शासन किया। अपनी इस विजय को स्थायी बनाने के लिए एक व्यवस्थित शासन की आवश्यकता का अनुभव करना स्वाभाविक था और विशेषकर उन परिस्थितियों में जबकि अफगान लोग पुनः अपने खोये हुये राज्य की प्राप्ति के लिये उत्सुक थे। मुगल बादशाह[1] (सम्राट) इस क्षेत्र में भाग्यशाली थे कि उन्हें पूर्णरूपेण एक नयी शासन व्यवस्था स्थापित नहीं करनी पड़ी क्योंकि सल्तनत काल की जर्जर व्यवस्था किसी न किसी रूप में अब भी विद्यमान थी, और केवल उसे ही समय की मांगों के अनुसार कोई समुचित रूप ही देना था। पूर्वकाल में इस्लामी शासन की स्थापना के कारण उन्हें किसी विकल्प पर विचार करने की अधिक आवश्यकता अनुभव न हुई क्योंकि वे स्वयं भी उसी धर्म के अनुयायी थे जो सल्तनत-कालीन सुल्तानों का भी धर्म था। इसके अतिरिक्त सुल्तानों की अपेक्षा जो कि पूरी तरह से नवागुन्तक थे मुगल सम्राट जाति और नस्ल के रूप भले ही उनसे भिन्न हों, परन्तु धर्म की समरूपता के कारण उन्हें उस विरोध का सामना नहीं करना पड़ा जो एक नव आगुन्तक को सर्वथा विरोधी संस्कृति, विरोधी आचार-विचार वाले देश के निवासियों से करना पड़ता है। स्वयं इस्लाम समर्थक होने के कारण उन्होंने यही अधिक हितकर समझा कि इस्लाम पर आधारित प्रशासक को स्थापित करना ही उनके लिए अधिक उपयोगी और श्रेयकर सिद्ध होगा।

---

1. सल्तनत काल (1206–1526) के शासक सुल्तान और मुगल शासक पादशाह (सम्राट) कहलाते थे। बाबर ने सम्राट की पदवी धारण कर भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली थी अतः उसके उत्तराधिकारी पादशाह ही कहलाते रहे।

   पादशाह शब्द 'पाद' तथा 'शाह' से मिलकर बना है। इसका अर्थ ऐसे सम्राट से है जिसमे इतनी शक्ति हो कि वह किसी के द्वारा पदच्युत न किया जा सके।

कालीन लेखों में गुसलखाने का उपयोग दीवान के व्यक्तिगत कक्ष के रूप में किया गया है। वास्तविकता यह थी कि दीवानखाने और जनानखाने के बीच एक कक्ष जहां अकबर स्नान करने के बाद चुने हुये व्यक्तियों से मन्त्रणा करता था। इस प्रकार से यह क्योंकि गुसलखाने के पास था इसलिये इस कक्ष को गुसलखाने की संज्ञा दे दी गई।) तत्पश्चात् वह शाही बुर्ज में जाता था और वकील से मन्त्रणा करता था। इसी प्रकार से मध्यान्ह के पश्चात् वह शासन-कार्यों में व्यस्त रहता था और ये कार्यवाहियाँ तीनों सम्राटों के काल में रात्रि में काफी समय तक चलती रहती थीं।

अकबर, जहांगीर व शाहजहां ने क्रमशः बृहस्पतिवार, मंगलवार व बुधवार स्वयं न्याय करने के लिये निश्चित कर रखे थे जबकि वे झरोखा-दर्शन के बाद सीधे न्याय करने के लिये चल जाते थे। न्याय विभाग के अधिकारियों तथा कुछ उलेमाओं के अतिरिक्त, जो विद्वता में अद्वितीय थे तथा असाधारण रूप से ईमानदार थे, किसी और का यहाँ प्रवेश निषेध था।

इन तीन मुगल शासकों की दिनचर्या से यह स्पष्ट होता है कि वे इस तथ्य को समझ गये थे कि राजतन्त्र में शासन व्यवस्था इस पर आधारित है कि शासक किसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत करता है। इसी तथ्य की अनुभूति ही उनकी सफलता की कुंजी है। प्रसन्नता और तत्परता से शासन के उत्तरदायित्व को पूरा कर उन्होंने उन अधिकारियों के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत किया जो वास्तविक रूप में शासन चलाने के लिये उत्तरदायी थे। अकबर, जहांगीर और शाहजहां शासन के सूक्ष्मतम विवरणों को स्वयं देखकर प्रजा को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिये प्रयत्नशील रहे। औरंगजेब की नीति भिन्न थी और राज्यकाल के अन्तिम 25 वर्षों में वह इस बुरी तरह दक्षिण में व्यस्त रहा कि शासन-व्यवस्था केवल नाम मात्र की ही रह गई और उसके कमजोर उत्तराधिकारियों के समय में न तो शासक के सम्मुख शासन को व्यवस्थित करने का आदर्श ही रहा और न ही ऐसी परिस्थितियां रहीं जहां व्यवस्थित प्रशासन का प्रयास किया जावे।

इन शासकों की दिनचर्या से एक ओर तो यह स्पष्ट होता है कि वे किस प्रकार से अपनी प्रजा को सुखी बनाने के लिये सदैव व्यस्त जीवन व्यतीत करते थे और दूसरे वे प्रजा को बगैर किसी रोक टोक के स्वयं से मिलने का अवसर देकर विद्रोहात्मक तत्वों का काफी मात्रा में अन्त करने में समर्थ हो पाये थे। गुसलखाने में मंत्रियों तथा विभागाध्यक्षों से मन्त्रणा कर वे उन्हें एक ऐसा अवसर दे सके जबकि वे सम्राट के सम्मुख उन बातों को स्पष्ट कर सकें जो कि वे खुले दरबार में कहने में असमर्थ थे।

सम्राट शासन का प्रधान होने के साथ ही साथ सेना का प्रधान भी था और न्याय-व्यवस्था का भी उद्गम था। ऐसी स्थिति में न्याय की अन्तिम अपील उसी के

सम्मुख प्रस्तुत की जाती थी। राज्य का प्रधान सेनापति होने के नाते सैनिक अभियानों की व्यवस्था के लिये वह पूर्ण रूप से उत्तरदायी था। इसके अतिरिक्त वह इस्लाम का संरक्षक तथा अपनी मुस्लिम जनता का आध्यात्मिक नेता भी था। अकबर का विचार था कि सम्राट और धर्म-गुरु के अलग-अलग होने पर राज्य पर विपत्ति आ सकती है और इसलिये वह राज्य और धर्म दोनों का प्रधान था। अकबर सब धर्मों व जातियों में केवल शान्ति स्थापित करना ही नहीं अपितु उस सार्वभौम धर्म का प्रचार करना चाहता था जो शास्त्र पर आधारित न होकर बुद्धि अथवा तर्क पर आधारित हो।

आध्यात्मिक नेता होने के कारण वह मुसलमानों से जकात वसूल करता था और उसे मुसलमान प्रजा की भलाई तथा मुसलमान साधु-सन्तों और दीनों की सहायता तथा मस्जिदें आदि बनवाने में व्यय करता था।

मुगल सम्राटों के इतने विस्तृत अधिकार तथा मुगल शासन का स्वरूप उदार अथवा निरंकुश राजतन्त्र होने के कारण इन समस्त अधिकारों का उचित रूप से उपभोग करना अकेले व्यक्ति के लिये सम्भव न था इसलिये शासक राजतन्त्री सिद्धान्तों के अनुसार मन्त्री अथवा सलाहकार रखते थे। इस संस्था को प्रचलित भाषा में वजारत की संज्ञा दी गयी थी। मुस्लिम विधिशास्त्रियों ने इसके अन्तर्गत केवल एक शक्तिशाली वजीर की कल्पना की थी। अलमावर्दी के अनुसार वजीर दो प्रकार थे—(अ) असीमित अधिकारों वाले (ब) और सीमित अधिकारों वाले वजीर। अरब विधिशास्त्री एक से अधिक असीमित अधिकारों से सम्पन्न वजीर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते परन्तु राज्य-क्षेत्र की विशालता और कार्य के भार को ध्यान में रखते हुये वे इसकी अनुमति देते हैं परन्तु ऐसी स्थिति में या तो उनका कार्य-क्षेत्र निश्चित हो अथवा वे सम्मिलित रूप में शासन की एक ईकाई के रूप में कार्य करें। सैद्धान्तिक आधार पर ऐसी स्थिति में दूसरे वजीर केवल विभागाध्यक्ष के रूप में वजीर के आधीन काम करते थे।[1]

असीमित अधिकारों वाले वजीर केवल मुसलमानों में से ही चुना जा सकता है। अल-मावर्दी पहला विधिशास्त्री था जिसने दूसरी श्रेणी के वजीर के लिये गैर-मुसलमान की नियुक्ति को भी मान्यता दी। इब्न-ए-खालदून राजनैतिक आधारों पर यद्यपि अलमावर्दी के विचारों का विरोध करता है[2] परन्तु इसके बाद भी मिश्र जैसे इस्लामी राज्य में भी गैर मुस्लिम वजीर के पद पर नियुक्त होते रहे थे।

1. हसन, इब्न—वही, पृष्ठ 112
2. हसन, इब्न—वही, पृष्ठ 117–118

तुर्क जब भारत आये उस समय तक उन्हे वजारत का अच्छा खासा अनुभव था। एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के साथ ही वजारत की सस्था का भी यहाँ विकास हुआ और उसकी महत्ता बढती चली गई।

ऐसे वातावरण मे बाबर ने मुगल साम्राज्य की स्थापना की और परम्परा के अनुसार एक शक्तिशाली वजीर की नियुक्ति की जो सैनिक व प्रशासकीय कार्यों के लिये उत्तरदायी था। निजामुद्दीन, खलीफा तथा हिन्दू बेग क्रमश बाबर और हुमायूँ के आधीन इसी प्रकार के वजीर थे।

अकबर, जहाँगीर और शाहजहा के काल मे वजीर पद वकील अथवा वकील-ए-मुतलक को दिया गया था। बाद के कुछ सम्राटो ने वकील का पद पुनः स्थापित किया जैसे जहांदार शाह ने असद खा को वकील ए-मुतलक बनाया और उसके पुत्र जुल्फिकार को वजीर बनाया।

सैद्धान्तिक आधार पर वकील शासन का प्रधान था और राज्य की समस्त कार्यवाहियों के प्रति उत्तरदायी था। इस आधार पर वह शासक का प्रमुख सलाहकार था और नियुक्तिया, पदोन्नति और पदच्युत करने मे सम्राट को सलाह देता था। यद्यपि वित्तीय व्यवस्था उसके सीधे अधिकार मे नही थी परन्तु फिर भी वह वित्त सबधी लेखे-जोखे कि प्रतिया प्रत्येक विभाग से प्राप्त कर सकता था और उनका सारांश अपने पास रखता था।[1] ऐसी स्थिति मे जब की वकील के पास कोई विशेष अधिकार नही रहे। तब भी राज्य का सर्वोच्च अधिकारी तथा शासक का विश्वासपात्र होने के कारण वह शासन-व्यवस्था की जाच पडताल करने का अच्छा माध्यम था क्योकि उसके द्वारा ही राज्य की समस्त आज्ञायें सम्राट के सम्मुख अन्तिम स्वीकृति के लिये प्रस्तुत की जाती थी।

अकबर ने बैराम खा की सेवाओ को ध्यान मे रखते हुये उसे वकील बनाया। बैराम खा के पाच वर्ष के इस अल्पकाल मे ही अकबर ने अनुभव किया कि राज्य मे समस्त शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथों मे केन्द्रित करना राज्य के लिये हितकर नही है। इसलिये बैराम खाँ के समस्त अधिकार तथा प्रतिष्ठा तीन विभिन्न व्यक्तियो मे विभाजित की। थोडे ही समय मे वकील का पद तीन व्यक्तियो को दिया जाना—शिहाबुद्दीन, अतक खा व मुनीम खाँ—शासक की बढ़ती हुई शक्ति व उसके अधिकार के उपयोग की ओर सकेत था। शासन के आठवें वर्ष मे अकबर ने मुजफ्फर खा को दीवान नियुक्त किया और राजस्व तथापि सम्बन्धी समस्त अधिकार उसे प्रदान किय जो कि वकील के पद तथा प्रतिष्ठा को एक नया आघात था। वकील के पद की प्रतिष्ठा लगातार गिरती चली जा रही थी।

जहागीर ने अपने शासन काल के चौथे साल से लेकर इक्कीसवें साल तक कोई वकील नियुक्त नही किया। अपने शासनकाल के अन्तिम समय म जब वह

1. अबुल, फजल —एन-ए-अकबरी भाग एक, पृष्ठ 4

महावत खां के चंगुल से मुक्ति पा सका तब ही उसने आसफ खां को इस पद पर नियुक्त किया था। आसफ खां शाहजहाँ के शासन काल में भी वकील के पद पर रहा और उसके शासनकाल के पन्द्रहवें वर्ष में उसकी मृत्यु के बाद कोई वकील नियुक्त नहीं किया। पश्चात् दीवान ही कार्य करते रहे।

व्यवहारिक रूप में सम्राट और वकील के व्यक्तिगत सम्बन्धो पर ही वकील की स्थिति निर्भर रहती थी, जैसे अकबर के प्रारम्भिक काल में बैराम खां ने वकील के रूप में अधिकतर अधिकारो को अपने ही अन्तर्गत कर रखा था। वकील के पद से सम्बन्धित अधिकारों में लगातार कमी होती चली गई, और यद्यपि उस पद का सम्मान व प्रतिष्ठा उसी रूप में बनी रही परन्तु वह अधिकार रहित हो गया, यहां तक की कभी-कभी वकील का पद ही रिक्त पड़ा रहा और यदि नियुक्ति की भी गई तो यह केवल एक सम्मानसूचक दिखावा मात्र था। जैसे अब्दुररहीम खानखाना और खान ए-आजम मिर्जा कोका की नियुक्ति केवल प्रतिष्ठा सूचक कार्यवाही ही थी। इसके साथ ही अकबर के समय मे मुजफ्फर खां की तथा जहांगीर के समय मे शरीफ की नियुक्ति इस बात की सूचक है कि यह वकील का पद अमीर वर्ग अथवा निष्ठा पूर्ण सेवा अथवा महत्वपूर्ण सम्बन्धियो के लिये ही सुरक्षित नहीं था।

शक्तिविहीन होने के बाद भी वकील सदैव ही सम्राट के विश्वासपात्र रहे और उचित सम्मान के भागी रहे।

वकील को शक्तिविहीन करने के पश्चात् यह आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि उसके उत्तरदायित्व को किन्ही मंत्रियो को सौंपा जावे जो कि शासन के भार को समालने के बाद भी स्वयं अधिक शक्तिशाली न होने पावें। इसके लिये यह उचित समझा गया कि राज्य कार्य अनेक मंत्रियो में बांटा जावे जो एक दूसरे से स्वतन्त्र होने पर भी शासक के प्रति उत्तरदायी हों। इसी आधार पर वकील के अतिरिक्त चार मंत्री मुगल राज्य म बाबर से अकबर तक थे, जिनकी संख्या औरंगजेब के शासनकाल में 8 हो गई थी। वे इस प्रकार थे —

(1) कोष तथा वित्त राजस्व विभाग (दीवान के आधीन) (2) सैनिको का वेतन तथा जमाखर्च विभाग (मीरबख्शी के आधीन) (3) राजकीय गृह-विभाग (खाने सामान अथवा मीर सामान के आधीन) (4) न्याय विभाग (दीवानी तथा फौजदारी) प्रधान काजी के अधीन (5) धार्मिक धन सम्पत्ति निर्धारण तथा दातव्य विभाग (प्रधान सद्र के आधीन (6) जनता का सदाचार निरीक्षण विभाग (मुहतसिब के आधीन)। इसके अतिरिक्त दो और छोटे छोटे विभाग थे जिन्हें उत्तरकालीन मुगल सम्राटो ने अन्य विभागो के समकक्ष ही बना दिया था। वे विभाग भी थे —
(1) तोपखाना विभाग (मीर आतिश अथवा दरोगा ए तोपखाना के अधीन (2) समाचार तथा डाक विभाग (डाक चौकी के दरोगा के अधीन)।

वजीर जो दीवान-ए-कुल अथवा दीवान-ए-आला भी कहा जाता था राज्य के समस्त वित्तीय प्रशासन का प्रधान था। सैद्धान्तिक आधार पर यद्यपि वह वकील के अधीन था परन्तु व्यवहारिक रूप में वह स्वतन्त्र था[1] सम्राट द्वारा ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति जो वित्तीय मामलो मे किसी प्रकार का दखल रखता हो उसी स्थिति में वह वजीर की कार्यवाहियो का निरीक्षण कर सकता था। कभी-कभी वकील और वजीर के पद मिला दिये जाते थे जैसे कि जहांगीर के समय शरीफ खां को एक साथ दोनो पद दिये गये थे।[2]

वजीर का कार्य बहुत ही दूभर था। उसके कर्तव्य सम्राट से भी अधिक कठिन और क्लिष्ट थे क्योकि सम्राट अपने प्रतिष्ठा रूपी पर्दे के पीछे प्रत्येक कार्य कर सकता है। उसकी प्रतिष्ठा और गौरव के आगे कोई उदन्ड होने का साहस नहीं कर सकता था। वजीर अथवा दीवान के पास ऐसी कोई ढाल नहीं थी। राज्य की स्थिरता शासक का गुण और राज्य का विघटन वजीर की जिम्मेदारी माना जाता था। इसलिये वजीर को दार्शनिक की तरह चतुर, गांव वालो की तरह सादा निश्छल वैश्य की तरह धन खर्च करने मे सतर्क और योद्धा की तरह पराक्रमी होना चाहिये।[3] वजीर की स्थिति कितनी अधिक दुविधापूर्ण थी और किस प्रकार से उसे तलवार की नोक पर चलना पड़ता था, इसका अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि एक ओर तो उसे सम्राट को तथा दूसरी ओर उसे जनसाधारण से दिन-प्रतिदिन सम्पर्क बनाये रखना पड़ता था इसलिये उसमें दोनो के हितो को सन्तुष्ट करने की क्षमता एक अनिवार्यगण था। इसके अतिरिक्त उसे राज्य के स्व-समान अधिकारियो ;से भी व्यवहार करना पड़ता था जो शासक के निकट होने के साथ ही जब साथ रण के भी सम्पर्क में थे। निजाम-उल मुल्क द्वारा वजीर के उत्तरदायित्व को पूरा करने हेतु अपने पुत्र को दी गई सलाह इस सम्बन्ध मे उचित हैं। उसके अनुसार वजीर को चार दिशाओ में अपनी निगाह रखनी चाहिये—ईश्वर, शासक, शासक के निकट आने वाले व्यक्ति तथा जन साधारण। उसको सदैव ही यह ध्यान रखना चाहिये कि वह अपने समस्त कार्यों के लिये ईश्वर के सम्मुख उत्तरदायी है। उसे शासक को प्रसन्न व उसकी मान-मर्यादा को बनाये रखने, शासक के निकट आने वाले व्यक्तियो से स्वय को सुरक्षित करने और जन साधारण की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये तत्पर रहना चाहिये।

वजीर के इन उत्तरदायित्वो के साथ उसके अधिकार भी अत्यन्त विस्तृत थे। यद्यपि यह समझा जाता था कि वह वित्तीय मामलो का सक्षेप वकील को प्रस्तुत

---

1 अबुल फजल-एन ए-अकबरी भाग एक, पृष्ठ 4

2. कुरेशी, आई. एच —द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द मुगल अम्पायर, पृष्ठ 72.

3 हसन, आई—वही, पृष्ठ 113.

करेगा परन्तु वह किसी रूप में भी उसके आधीन नहीं था। अपने निर्णयों के लिये उसे वकील से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं थी और वह अपने समस्त मामले सीधे सम्राट से अन्तिम आज्ञा लेने के लिये प्रस्तुत करता था। सम्राट प्रत्येक महत्वपूर्ण मामले में उसकी सलाह लेता था और ये सत्य है कि सम्राट के लिए उसकी सलाह मायने रखती थी। सादुल्ला खां तथा इतमाउदोला जैसे वजीर सम्राट के पूर्ण विश्वास पात्र थे। सम्राट यद्यपि राज्य के प्रत्येक मामले को बारीकी से देखता था परन्तु उसके बाद भी अनेकों मामले वजीर की सलाह से ही निपटाये जाते थे। विशेषकर राज्य के वित्त सम्बन्धी मामलों में उसकी राय अधिक महत्ता रखती थी। प्रान्तीय गवर्नरों और दीवानों की नियुक्ति उसके अधिकार क्षेत्र में थी यद्यपि सम्राट की इच्छा इसमें अन्तिम रूप से निर्णायक थी। सरदार और परगने के अधिकारी उसी द्वारा नियुक्त किये जाते थे और औपचारिक रूप से सम्राट की अनुमति लेकर उन्हें पदारूढ कर दिया जाता था।[1] सम्भवत वह सम्राट से पहले नियुक्ति करने के पहले अनुमति ले लिया करता था। प्रान्तीय दीवानों पर उसका अंकुश दृढ था और प्रान्त की आय तथा व्यय के सम्बन्ध में उसे विस्तृत विवरण समय-समय पर जाच के लिये भेजे जाते थे।

केन्द्र में वजीर की सहायता के लिए तीन अधिकारी-दीवाने-खालसा, दीवान-ए-तन व मुसतफी होते थे। ये तीनो ही स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने विभागों के प्रधान थे और सम्राट के प्रति उत्तरदायी थे। वजीर उनमें अग्रगण्य था और उनके कार्यों का समन्वय करता था। उन पर उनका अधिकार सम्पूर्ण नहीं था।

दीवान-ए-खालसा राज्य की खालसा भूमि की आय सम्बन्धी अधिकारी था तथा उसकी व्यवस्था करना उसी के अधिकार क्षेत्र में था।[2] दीवान-ए-तन[3] राज्य के कर्मचारियों के वेतन भुगतान के लिए उत्तरदायी था। ये भुगतान नकद अथवा जागीर के रूप में किया जाता था। दीवान-ए-तन यह देखता था कि तनख्वाह के रूप में भोगी को इतनी ही भूमि दी जा रही है जो समुचित रूप से उसके वेतन के बराबर हो जिससे कि न तो वेतन भोगी और न ही राज्य किसी प्रकार हानि के भागी हों। मुसतफी[4] राज्य का लेखा परीक्षक (आडीटर जनरल) था।

राज्य की वित्तीय व्यवस्था को सुचारू और दृढ रूप से चलाने के लिए आवश्यक था कि सम्राट वजीर को उचित प्रोत्साहन दे तथा ढाढस बंधाये। सम्राट

1. कुरेशी, आई. एच.—वही, पृष्ठ 74.
2. सरकार यदुनाथ,—मुगल एडमिनिस्ट्रेशन पृष्ठ 41–45.
3. कुरेशी—वही, पृष्ठ 75; मिर्जा, नोपाल अहमद—लैण्ड रेवेन्यु एडमिनिस्ट्रेशन अण्डर दे मुगल्स पृष्ठ 64.
4. इब्न हसन—वही, पृष्ठ 209.

में एकता बनाये रखने अथवा उसकी व्यवस्था की देखरेख करने के लिए सम्राट सेना के साथ जाता था जैसे शाहजहां करता था, ऐसी स्थिति में मीर बख्शी यात्रा के समय की साधारण जुम्मेदारियों को पूरा करता था। यदि उसे अभियान में किसी विशेष सैनिक टुकड़ी का अधिकारी बनाया हो अथवा अभियान के नेतृत्व की जुम्मेदारी ही सौंप दी गई हो तो ऐसी स्थिति में वह एक साधारण सैनिक अधिकारी अथवा अभियान के नेता के रूप में कार्य करता था। कभी-कभी शहजादे अथवा उच्चतम अमीर के नेतृत्व में भेजे गये अभियान में केवल अप्रासंगिक महत्वपूर्ण अभियानों में अथवा संकटकालीन समय में जब उसकी उपस्थिति अनिवार्य हो उसे भेजा जाता था, जैसे राजा टोडरमल और मिर्जा अजीज कोका के साथ शहबाज खां को और ख्वाजा अब्दुल हसन के साथ जहांगीर को भेजा गया था।[1] इन तीनों ही स्थितियों में सेना की रूपरेखा अथवा नक्शा निश्चित करने में मीर बख्शी का महत्वपूर्ण योग दान रहता था। शाहजहां के समय में सेना के प्रस्थान के पहले ही समस्त योजनायें बनाली जाती थी और उसी के आधार पर समुचित आदेश अथवा हिदायत दे दी जाती थी।

मीर बख्शी मनसबदारों के वेतन के बिल पास करा कर अपने पास रखता था इसलिये उसे पे मास्टर जनरल कहा गया है, परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि वेतन का भुगतान दीवान-ए-तन ही करता था।[2] केवल उस समय जबकि सेना एक लम्बे अभियान पर हो तब ही वह मनसबदारों को अस्थायी रूप में वेतन का भुगतान करता था। अभियान की समाप्ति पर दीवान-ए-तन द्वारा हिसाब करते समय इसको ध्यान में रक्खा जाता था। सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य में केवल एक ही उदाहरण है जब कि शेख फरीद बुखारी ने ऐसा किया था परन्तु बख्शी की यह कार्यवाही अनुचित मानी गई थी और दीवान की भी जिसने इस प्रकार की परिस्थिति पैदा की थी भर्त्सना की गई।[3]

सैनिक विभाग का अध्यक्ष होने के नाते मीर बख्शी महल की चौकीदार करने के लिए मनसबदारों की नियुक्ति करता था। राजधानी में रहने वाले मनसबदारों की नियुक्ति करता था। राजधानी में रहने वाले मनसबदारों को सात भागों में बांटा गया था और प्रत्येक भाग सम्राट के एक निश्चित दिन महल पर तैनात किया जाता था। यद्यपि यह सूची मीर बख्शी के द्वारा तैयार की जाती थी परन्तु सम्राट स्वयं इसे देखता था। अकबर के अंतिम समय में मीर बख्शी शेख फरीद ने इसी अधिकार

---

1 हसन, आई —वही, पृ 222–223
2 आईन-ए-अकबरी ब्लाकमैन भाग I, पृ 161
3 कुरेशी, आई एच —वही, पृ 79

के कारण न केवल अप्रिय घटना से राज्य को बचाया अपितु शहजादे सलीम (जहांगीर) का उत्तराधिकारी बनना सुरक्षित कर दिया।[1]

मीर बख्शी को प्रांतीय बख्शियों द्वारा वहाँ की प्रमुख घटनाओं की जानकारी मिला करती थी जिनमे से वह महत्वपूर्ण घटनाओ को छाट कर सम्राट के सम्मुख प्रस्तुत करता था। युद्ध-क्षेत्र मे वाकया-नवीस का कार्य बख्शी को सौंप दिया जाता था जो सम्राट को समस्त घटनाओ की सूचना भेजता था।

इन समस्त उत्तरदायित्वों को पूरा करना सम्भवतः एक व्यक्ति के लिए अत्यधिक कठिन था इसलिए उसकी सहायता के लिए दूसरे बख्शी भी हुआ करते थे। एन-ए-अकबरी के पृष्ठो मे यद्यपि बख्शियो की निश्चित सख्या नहीं दी गई है परन्तु इतना आभास होता है कि बख्शी एक से अधिक थे जिनमें से एक मीर बख्शी कहलाता था।[2] जहांगीर के राज्यारोहण के प्रथम वर्ष में अहदी सैनिको के बख्शी के अतिरिक्त तीन बख्शी और भी थे। इनके अतिरिक्त जहांगीर के राज्यकाल में ही एक बख्शी-ए-हुजूर व बख्शी-ए-शागिर्द पेशा (घरेलू नौकरों का बख्शी) भी हुआ करता था।[3] शाहजहां के शासनकाल में तीन बख्शी ही थे और उनको प्रथम, द्वितीय व तृतीय बख्शी कहा जाता था। प्रथम बख्शी राजकुमारो और उच्चतम श्रेणी के मनसबदारो से सम्बन्धित मामलो को देखता था। दूसरा बख्शी दूसरी श्रेणी के और तीसरा बख्शी निम्नतम श्रेणी के मनसबदारो से सम्बन्धित मामलो को देखता था।[4]

इस प्रकार से मीर बख्शी प्रशासन मे वजीर के समान ही प्रभावशाली व सम्मानित व्यक्ति था और प्रत्येक एक दूसरे पर अंकुश का कार्य करते थे। इस प्रकार से इनके अधिकारो की व्यवस्था की गई थी कि किसी भी स्थिति में एक दूसरे को गौण स्थितियो मे नही ला सकते थे। मीर बख्शी राज्य के सैनिक विभाग का अध्यक्ष था और इस प्रकार वह मनसबदारो का प्रतिनिधि था परन्तु इस आधार पर न तो कमान्डर-इन-चीफ था और न ही अपने पद के आधार पर किसी अभियान का नेतृत्व करने के अधिकार उसमे निहित थे। स्वयं सम्राट परिस्थितियो के अनुसार अभियान का नेतृत्व निश्चित करता था। अधिकतर विभिन्न बख्शी अभियान के लिए नियुक्त किये जाते थे और यह आवश्यक नही था कि बख्शी के विभाग से अथवा उसकी सहमति से ही नियुक्त किये जावें। युद्ध-क्षेत्र में स्वयं की उपस्थिति अथवा किसी

1. श्रीवास्तव, ए. एल—अकबर द ग्रेट भाग 1, पृ. 487.
2 सरकार जदुनाथ—मुगल एडमिनिस्ट्रेशन पृ. 25.
3. इरविन, आई.—वही, पृ. 229.
4. कुरेशी, आई. एच.—वही, पृ. 78–79.

महत्वपूर्ण अमीर अथवा राजकुमार की नियुक्ति वख्शी पर अंकुश का काम करती थी।

बख्शी के पद के लिए यद्यपि सैनिक गुणों का होना अनिवार्य था परन्तु दरबार में तथा उसके दफ्तर के कार्य के आधार पर बख्शी का सुसंस्कृत होना भी आवश्यक था। मुगल साम्राज्य के अधिकतर बख्शी इन दोनों विशेषताओं के आधार पर ही चुने गये थे। अकबर के अधीन आसफ खां व शेख फरीद इसी प्रकार के व्यक्ति थे। इस प्रकार से बख्शी का पद महत्वपूर्ण था।

बख्शी के बाद तीसरा व्यक्ति खानेसामान अथवा मीरसामान कहलाता था। अकबर के समय में मीरसामान शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता था।[1] अकबरनामे में इस पद के समरूप दूसरे अधिकारियों का वर्णन मिलता है। जहांगीर और शाहजहां के काल में मीरसामान शब्द का प्रयोग किया गया है। औरंगजेब के समय में खानेसामान ही अधिक प्रचलित था। इससे ऐसा अनुभव होता है कि अकबर के शासनकाल में खानेसामान मन्त्री नहीं कहलाता था किन्तु उसके उत्तराधिकारियों के समय में यह पद पूर्णतया सुसंगठित मन्त्री विभागों की तरह ही महत्वपूर्ण हो गया था।[2]

खानसामान केन्द्रीय शासन के कारखाने अथवा बयूतात का प्रधान था जिसमें राज्य की आवश्यकता सम्बन्धी भोजन और भण्डार की समस्त वस्तुएँ रहती थीं। वस्त्र, आभूषण और हीरे-जवाहरात से लेकर सेना के लिए घोड़े, हाथी, तोपें आदि इसी विभाग के अन्तर्गत थीं। इस आधार पर वह राज्य के प्रत्येक मन्त्री के सम्पर्क में आता था। यदि मीर बख्शी सेना की व्यवस्था करता था तो खानेसामान सेना के साज-सामान को जुटाता था। यदि एक उसके शिकार का प्रबन्ध करता था तो दूसरा शिकार के सामान व आवश्यक वस्तुओं को जुटाता था और दोनों ही शासक के साथ जाते थे।

खानसामान केवल बयूतात सम्बन्धी विभाग को सुचारु रूप से चलाने के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के प्रति भी उत्तरदायी था। वह सम्राट के निजी नौकरों एवं दास और घरेलू विभागों का प्रधान था। ऐसे नौकरों का वेतन उसी की सिफारिश पर दिया जाता था। सम्राट, उसके जनानखाने तथा दरबार के लिए जिन-जिन वस्त्रों, आभूषणों तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं की आवश्यकता होती थी उन सब के कारखाने उसी के अधीन थे। जब सम्राट द्वारा कोई भेंट दी जाती थी और यदि वह नकद रूप में न हो तो वही इस भेंट को प्रमाणित करता था तथा उसको कारखाने

1 बेवरिज—अकबरनामा, भाग 3, पृ 877.

2 हसन, आई—वही, पृ 235–238.

आदि से प्राप्त करवाता था। सम्राट को प्राप्त भेंट आदि का लेखा भी वही रखता था और प्रत्येक ऐसी चीज का हिसाब रखता था। राजकुमारों के विवाह से संबन्धित प्रत्येक उत्सव की व्यवस्था करना उसी की जुम्मेदारी थी।[1]

राज्य की सरकारी बागों, दुकानों व मकानों से प्राप्त आय का हिसाब वही रखता था और ऐसी अचल सम्पत्ति जो इजारे पर दी गई हो उसका धन प्राप्त करता था। मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति का हिसाब रखना भी इसका काम था जिससे कि राज को आय प्राप्त हो सके और मृत व्यक्तियों के उत्तराधिकारियों के लिए सम्पत्ति सुरक्षित रखी जा सके।

खानेसामान केवल वित्तीय मामलों में वजीर के अधीन था अन्यथा उसका सम्राट से सीधा सम्पर्क रहता था।[2] वास्तविक रूप में दीवान-ए-बयूतात वजीर के अधीन था और वित्तीय पक्ष से सम्बन्धित बातों में वजीर का प्रतिनिधित्व करता था। खानसामान अपने विभाग के अनुमानित खर्चे का अर्धवार्षिक ब्योरा बनाता था और वजीर तथा सम्राट से उसकी स्वीकृति प्राप्त करता था।[3]

खानेसामान की सहायता के लिए अनेक सहायक अधिकारी होते थे। दीवान-ए-बयूतात विभाग के वित्त सम्बन्धी मामलों को देखता था। प्रत्येक कारखाने के लिये एक दरोगा नियुक्त किया जाता था जो उस कारखाने में कार्य करने वाले कारीगरों को दैनिक कार्य व उनसे सम्बन्धित समस्याओं का समाधान करता था। प्रत्येक कारखाने का तहवीलदार अपने कारखाने से सम्बन्धित नकद और माल का हिसाब रखता था और मुस्तफी उसकी सहायता करता था। खानसामान इन सब के कार्यों की देखभाल करता था।

इस प्रकार खानसामान के अन्तर्गत राज्य के कारखानों ने न केवल सस्ते मूल्य पर राज्य की सभी आवश्यकतायें पूरी की परन्तु साथ-ही-साथ इन कारखानों ने गृह-उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। कारखानों द्वारा निर्मित वस्तुएं कारीगरों के लिए एक आदर्श के रूप में रहीं और स्थानीय कारीगरों को सहज ही में वस्तुओं के नमूने मिल सके। शाहजहां द्वारा पांच लाख रुपये के बदले कारखानों से निर्मित उतने मूल्य की वस्तुओं को बेचकर तथा इनसे प्राप्त लाभ भी मक्का को भेंट करने की आज्ञा से इन कारखानों और इनमें निर्मित वस्तुओं के बारे में अन्दाजा लगाया जा सकता है। शाहजहां के समय में मीर सामान के पद का महत्व इसी आधार पर माना जा

1. सरकार, जदुनाथ—मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ 48–52.
2. अबुल फजल—एन-ए-अकबरी भाग 1, पृ. 4.
3. अबुल फजल—एन-ए-अकबरी भाग 2, पृ. 26.

सकता है कि मीर सामान, मीर जुमलन, का पद 4000 जात व 2500 सवार का था।

चौथा विभाग का न्याय का था जो प्रधान काजी के अधीन था। मुगलों की न्याय-व्यवस्था पूर्णतया मुस्लिम विधिशास्त्रियों के सिद्धान्तों पर आधारित तथा उत्तरी भारत से सुल्तानों के द्वारा स्थापित व्यवस्था थी। यद्यपि मुस्लिम विधिशास्त्रियों के काजी बगैर न्याय करने के सम्बन्ध में विभिन्न विचार हैं परन्तु वे इस बात पर सहमत हैं कि सम्राट को न्याय करने का अधिकार है। न्याय करने के लिए तकनिकी ज्ञान की आवश्यकता है इसलिए ये विश्वास किया जाता है कि सम्राट एक विद्वान उलेमा को काजी का पद देगा। काजी का पद इस आधार पर परमावश्यक है और इसलिए उलेमाओं का एक ऐसा समूह भी होना चाहिए जो कानूनी बारीकियों के बारे में पूरी तरह फतवा दे सके। इस प्रकार से मुस्लिम विधिशास्त्री न्याय के लिए दो माध्यमों को स्वीकार करते हैं—सम्राट तथा प्रधान काजी।

सम्राट अपने काल का खलीफा माना जाता था अतः वही सबसे बड़ा न्यायधीश था और सप्ताह में एक दिन अपनी कचहरी लगाता था।[1] उसका न्यायालय राज्य का सबसे बड़ा न्यायालय था। ऐसा अनुभव होता है कि सम्राट प्रत्येक दिन खुले दरबार में साधारण मुकदमों की सुनवाई करता था परन्तु ऐसे मुकदमे जिनमे गवाहों के बयान, तर्क-वितर्क करना पड़ता था उन्हे सप्ताह में एक दिन ही सुनता था।[2] अबुल फजल के अनुसार अकबर इस दिन लगभग साढे चार घण्टे न्याय करने के लिए बैठता था और जहांगीर प्रतिदिन ही लगभग दो घण्टे न्याय के लिए बैठता था।[3] सम्राट की यात्रा, अभियान आदि में भी न्याय का कार्य इसी प्रकार चलता रहता था। राज्य कार्य में सम्राट की अत्यधिक व्यस्तता के कारण उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि वह सब अपीलों को सुन सके इसलिए एक प्रधान काजी होता था जो प्रधान न्यायधीश कहलाता था।

प्रधान काजी की नियुक्ति स्वयं सम्राट ही करता था और वही उसे पदच्युत भी कर सकता था। सम्राट के जाने-पहचाने व्यक्तियों में से जिनके ज्ञान के बारे में वह सन्तुष्ट हो, केवल वही इस पद पर नियुक्त किये जाते थे। एन-च अकबरी में इस

---

1. अकबर ने बृहस्पतिवार, जहांगीर ने मगलवार व शाहजहां ने बुधवार इसके लिए निश्चित कर रक्खे थे।
2. हुसन, आई —वही पृ. 317.
3. हाकिन्स, डब्ल्यू—ट्रेवल्स पृ. 116.

पद के लिए इस शर्त का भी आभास मिलता है कि व्यक्ति अकबर के धार्मिक विचारो का समर्थक हो।[1] इस आधार पर यह सहज ही मे विश्वास किया जा सकता है कि अकबर के अधीन न्याय-विभाग और उसके अधिकारी न तो किसी प्रकार से स्वतन्त्र विचारो के ही रहे होगे और न ही वे स्वयं को घूसखोरी से बचा सके होगे। बदायूनी के अतिरंजित विवरण को यद्यपि अक्षरक्ष सत्य नही माना जा सकता, परन्तु फिर भी इतना अवश्य निश्चित है कि अकबर कालीन न्याय विभाग के अधिकारी किसी प्रकार के आदर्श न्यायधीश नही थे। अकबर के अन्तिम समय में जब उसे धार्मिक मवाचार मे रुचि कम होने लगी तब ही काजी के कार्य मे हस्तक्षेप भी कम होने लगा और न्याय विभाग की स्वतन्त्रता स्थापित हो सकी। काजी और विशेषकर प्रधान काजी की श्रेष्ठता औरंगजेब के समय में ही स्थापित हो सकी।[2]

प्रधान काजी राज्य के समस्त अर्थात अधीनस्थ काजियो की नियुक्ति करता था। अधिकतर यह मान्यता है कि केवल केन्द्र प्रान्तीय राजधानियो तथा बडे-बडे शहरो मे ही काजी नियुक्त किये जाते थे परन्तु ऐसा उचित नही दिखता। कस्बों तथा परगनो में भी काजियो की नियुक्ति की जाती थी। काजी के अधिकार बहुत थे और वह अत्यधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति होता था किन्तु वह अपने अधिकारो का प्राय दुरुपयोग किया करता था। उसके विभाग मे बहुत भ्रष्टाचार था। सर यदुनाथ सरकार के अनुसार, "मुगल काल में जितने भी काजी थे उनमे से कुछ प्रतिष्ठित अपवादो को छोड़कर सभी घूसखोर थे।"

प्रारम्भ मे प्रधान काजी दीवानी और फौजदारी मुकदमो तथा धर्म सम्बन्धी मुकदमो का फैसला मुस्लिम कानून के अनुसार करता था। समय के अनुसार उसके कार्यों मे बढोतरी होती चली गई और अनेको मुस्लिम परोपकारी संस्थाएँ उसके अन्तर्गत आ गई जैसे वह अनाथों, दिवालियों और पागलो की सम्पत्ति का संरक्षक हो गया। ऐसी विधवायें जिनके हितो को सुरक्षित करने वाला कोई न था उनके पुनर्विवाह आदि की व्यवस्था भी उसी के हाथो मे आ गई।

यद्यपि सद्र का पद मुगल काल मे औरंगजेब के पहले भी था परन्तु उसने उस मन्त्री का रूप दिया था। औरंगजेब मे दूसरे मुगल शासकों की अपेक्षा धार्मिक भावनायें अधिक थी और इसलिए सम्भवत वह शरियत को कठोरता से पालन करना चाहता था जिसके अनुसार मुस्लिम सम्राट का दायित्व न केवल स्वयं सच्चे मुसलमान के रूप मे जीवन व्यतीत करने से समाप्त हो जाता है अपितु वह इसके लिए भी

1 कुरैशी, आई एच —वही, पृ 186
2 मनूची, एन —स्टोरिया डो मोगर डब्ल्यू, इरविन द्वारा अनुवादित भाग दो, पृ 256

उत्तरदायी है कि उसकी समस्त मुस्लिम जनता सच्चे मुसलमान के रूप में जीवन व्यतीत करे। ऐसा ही मुस्लिम सम्राट जो शरियत के आधार पर ही शासन करता है वही 'हाकिम ए-आदिल'' कहलाता है।[1]

दिल्ली सल्तनत के काल में उलेमाओं में से एक व्यक्ति जो अपनी विद्वता व सदाचार के आधार पर सुल्तान को सलाह देने के लिए चुना जाता था उसे 'शेख-उल-इस्लाम' की संज्ञा से पुकारते थे। मुगल काल में यही व्यक्ति 'सदर-अस-सुदूर' के नाम से जाना जाने लगा। मुस्लिम विधिशास्त्रियों के अनुसार सद्र सम्राट और जन-साधारण के बीच एक कड़ी है जो कि उलेमाओं का प्रतिनिधि व शरा का समर्थक था। शासक को उससे प्रत्येक कानूनी व धार्मिक मामलों में सलाह लेनी चाहिये व उसके द्वारा दी गई सलाह को लागू करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं दिखलानी चाहिये। यदि राज्य का कोई अधिकारी उसकी आज्ञाओं के अनुसार कार्य न करें तो सम्राट को उसे उचित दण्ड देना चाहिए।

सद्र धार्मिक धन-सम्पत्ति तथा दातव्य विभाग का प्रधान होता था। सम्राट एवं शाही परिवार के सदस्य, विद्वान उलेमा और साधु-सन्तों की सहायता के लिए जागीर तथा धन-राशि अलग से निश्चित कर दिया करते थे। सद्र का पहला काम था कि वह योग्य व्यक्तियों, ईमानदार और योग्य शिक्षकों, बुद्धिमान व गरीब विद्यार्थियों, उलेमाओं आदि के प्रार्थना-पत्रों की जाँच कर उनको वजीफा अथवा "मदद-ए-माश" दिलवाने की सिफारिश करें।[2] अकबर और जहांगीर के शासनकाल में केवल सम्राट ही सद्र की सिफारिश पर दान आदि स्वयं देता था परन्तु शाहजहां और औरंगजेब के काल में सद्र को भी इस प्रकार से दान में जागीर अथवा नक्द धन देने का अधिकार दिया गया था। इसके अतिरिक्त शाहजहां और औरंगजेब के राज्यकाल में दान आदि की राशि अकबर और जहांगीर से अधिक थी।

सद्र अपने अधीन प्रान्तीय सद्रों की नियुक्ति करता था। कभी-कभी प्रधान सद्र ही प्रधान काजी का भी काम करता था, किन्तु अकबर और उसके उत्तराधिकारियों के काल में इन दोनों पदों पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति ही कार्य करते थे।

अकबर के अधिकतर सद्रों के पास कोई मनसब न थे, केवल भूमि थी। शाहजहां के शासनकाल में मुसवीखान के पास 4000 जात व 750 सवार का मनसब था। सैयद सद्र जलाल के पास 6000 जात व 2000 सवार का मनसब था जो कि किसी सद्र को दिया गया उच्चतम मनसब था।[3]

---

1 हसन, आई —वही, पृ 255

2. कुरेशी, आई एच —वही, पृ 208

3 हसन, आई —वही, पृ 288.

सद्र के बाद जनता का सदाचार निरीक्षक अथवा मुहतसिब यह देखता था कि मुसलमान, पैगम्बर की आज्ञाओं का पालन कर रहे हैं। मुस्लिम जनता को शरियत के विरुद्ध कार्य करने से वह रोकता था। उसका काम खिंची हुई शराब अथवा उत्तेजक जौ की शराब, भांग और मादक द्रव्यों का पीना, जुऐ का खेलना तथा कुछ विशेष प्रकार के मैथुनों को रोकना होता था। वह उन मुसलमानों को दण्ड देता था जो नमाजों तथा रोजों का त्याग करते थे और पैगम्बर की बताई हुई बातों मे विश्वास नहीं करते थे। औरंगजेब के समय में मुस्लिम जनता के सदाचार निरीक्षक के साथ ही वह हिन्दू मन्दिरों को ध्वंस करने वाला अधिकारी भी था। औरंगजेब के काल मे आठ सद्र नियुक्त हुये जिनमें कलीम खां दो बार सद्र बना।[1]

इस प्रकार से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि मुगल सम्राटों मे अकबर ने पहली बार केन्द्रीय शासन-व्यवस्था में परिवर्तन करना प्रारम्भ किया। अकबर ने मुस्लिम विधिशास्त्रियों के एक शक्तिशाली वजीर के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया। इसलिए एक ओर तो उसने इस मुस्लिम परम्परा को त्यागा और दूसरी ओर वजीर की शक्ति पर अंकुश लगाया। इस नीति का सबसे पहला शिकार वकील हुआ। वकील के पद को उसने अवश्य बनाये रक्खा परन्तु वह पद अब केवल दिखावे का पद रह गया।

तत्पश्चात् दीवान (वजीर) की बारी आई। राज्य मे इसके पहले समस्त अधिकारों के भोक्ता दीवान और मीरबख्शी थे। उसने राज्य की समस्त सैनिक और प्रशासनिक सेनाओं को मनसबदारी प्रथा के अन्तर्गत करके उन दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर दिया और अब शासन को कुशलता पूर्वक चलाने के लिए दोनों ही उत्तरदायी ठहराये गये।

शासन के कार्य में यद्यपि इसके बाद भी दीवान का स्तर श्रेष्ठ था परन्तु मीर बख्शी को केन्द्रीय सरकार में अधिक प्रभुत्व प्रदान कर उसने दीवान की शक्ति को संतुलित किया तथा दोनों को ही सीधे शासक के प्रति उत्तरदायी बनाया।

तीसरा मंत्री खानेसामान यद्यपि दूसरे मंत्रियों के समान ही प्रभावपूर्ण था परन्तु उसकी शक्ति को सन्तुलित करने के लिए एक ओर तो दरबार के कार्यों की जिम्मेदारी मीर बख्शी को दी और दूसरी ओर गुसलखाने के दारोगा की नियुक्ति की तथा उस विभाग के दीवान को अधिक महत्व दिया। दीवान खानेसामान की तरह समान अधिकारों का भोक्ता था और उसका वजीर से सीधा सम्पर्क था।

गुसलखाने के दारोगा की नियुक्ति, जो कि शासक के निजी सचिव के रूप में कार्य करता था, अर्ज ए-मुकर्रर जो कि सम्राट की आज्ञाओं को दोहरा कर पुन उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता था और इन दोनों का ही सीधे ही सम्राट के

---

1 सरकार, जदुनाथ—औरंगजेब एन्ड हिज टाइम्स, पृ 433-34

प्रति उत्तरदायी होने तथा इन पदो पर अपने विश्वासपात्रो को नियुक्त करने के कारण तीनों ही मन्त्रियो की शक्ति को नियन्त्रित करने मे सम्राट ने सफलता प्राप्त की।

चौथे मंत्री सद्र की शक्ति को सतुलित करने के लिए उसने प्रान्तीय सद्रों की नियुक्ति की, सद्र के भूमि दान देने अथवा वजीफा देने पर प्रतिबन्ध लगाया और इस प्रकार की व्यवस्था की कि सद्र के द्वारा दान दी गई समस्त भूमि सम्बन्धी कागजात शेष तीनो मन्त्रियो की भी स्वीकृति प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त अकबर की सुलहकुल की नीति ने भी सद्र के अधिकारो पर सबसे कठोर आघात किया। केवल यही नहीं, अपितु सुलहकुल के सिद्धान्त म विश्वास रखना सद्र के पद के लिए एक आवश्यक शर्त बना दी।

इस प्रकार से राज्य की शासन सम्बन्धी शक्तियां चार समान शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण मन्त्रियो मे बाट दी और यद्यपि प्रत्येक अपने विभाग मे स्वतन्त्र था परन्तु फिर भी अनेक अवसरो पर उन्हे एक दूसरे की सहायता लेना अनिवार्य था।

शक्ति सतुलन का यह कार्य केवल चार मन्त्रियो मे शक्ति विभाजन से ही समाप्त नहीं हुआ। कभी-कभी अकबर शासकीय कार्यों के निरीक्षण के लिए दरबार के ऐसे व्यक्तियो की नियुक्ति कर देता था जो राज्य के किसी भी विभाग से सबन्धित नही होते थे, जैसे अपने शासन काल के 35वें वर्ष मे उसने आसफ खा को कश्मीर म इनाम के रूप मे जागीर देने भेजा यद्यपि आसफ खा का दीवान के विभाग से कोई सम्बन्ध नही था। इसी तरह से सम्राट अपनी मजलिस मे मन्त्रियो के अतिरिक्त अनेको अधिकारियो अथवा अमीरो को भी आमन्त्रित कर लेता था। इससे एक ओर तो वह मन्त्रियो की शक्ति को सतुलित करने म समर्थ रहा तथा दूसरी ओर अनुभवी अधिकारियो का लाभ उठा सका। इन सबके अतिरिक्त सम्राट की उपस्थिति, शासन-कार्य की बारीकियो मे उसकी रुचि, राज्य की समस्त कार्यवाहियो पर उसका निरीक्षण स्वय अपने मे ही शक्ति सतुलित करने का सबसे बडा माध्यम था।

6

प्रान्तीय व स्थानीय शासन

(अ) सल्तनत-कालीन

एक वृहत राज्य के लिये एक ही केन्द्र से शासन को सुव्यवस्थित और सुचारु से चलाना नितान्त असम्भव है और विशेषकर मध्ययुग में जबकि आवागमन के साधन नाम मात्र के होने के साथ ही साथ अत्यन्त धीमी गति से चलित थे। यह अव्यवस्था साम्राज्य के बढ़ने के साथ ही साथ और अधिक जटिल होती गई। इस समस्या के निराकरण के लिए आरम्भ से ही केवल एक हल सम्भव रहा और वह था कि राज्यों को विभिन्न प्रान्तों अथवा उससे भी छोटी इकाइयों में विभाजित कर दिया जावे। इसी हल के आधार पर प्रान्तों की शासन-व्यवस्था का उदगम् हुआ जो अलग-अलग समय में और बदली हुई परिस्थितियों के आधार पर भिन्न-भिन्न स्वरूप लेता रहा।

इस प्रकार की व्यवस्था प्राचीन काल से ही भारत में प्रचलित थी और तुर्क शासक भी भारत में आने के पहले इससे परिचित थे। उम्मायिद शासकों ने फारसी नमूने अथवा आदर्श के आधार पर ही अपने राज्य को प्रान्त में बांट रक्खा था और अब्बासिद वंश के लोग भी इससे अपरिचित नहीं थे। खलीफाओं ने अपने वृहत राज्य को प्रान्तों में बांट कर उन्हें विभिन्न अमीरों अथवा आमीलों (गवर्नर) के नेतृत्व में रक्खा था और ये अधिकारी योग्यता तथा शासकों की शक्ति के अनुपात में अधिकारों व सुविधाओं का उपभोग करते थे। स्वाभाविक है कि दूरस्थ प्रान्त के अमीर अधिक अधिकारों का उपभोग करते थे और साधारण रूप से उनका व्यवहार स्वतन्त्र अथवा अर्धस्वतन्त्र शासक के समान होता था। अधिकारों की इस विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए विधि-शास्त्रियों ने गवर्नरों को अलग अलग वर्गों में विभाजित किया। मावर्दी[1] ने इनको तीन वर्गों में विभाजित किया है—सीमित अधिकारों वाले,

---

1 वरन ग्रूदा—ओरियन्ट अण्डर द केलिफस पृष्ठ, 262–76
कुरेशी, आई० एच०—द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द सल्तनत आफ देहली, पृष्ठ 25.

असीमित अधिकारों वाले तथा "डी फेक्टो" अर्थात् स्वतन्त्र शासक गवर्नर जिनको कि वह अनाधिकार ग्राही गवर्नर की संज्ञा देता है।

असीमित अधिकारों वाले गवर्नर के प्रमुख कार्यों की हम इस प्रकार से व्याख्या कर सकते हैं—प्रान्त की सैनिक व्यवस्था का वो सर्वोच्च अधिकारी था और इसके अन्तर्गत वह सैनिकों को विभिन्न स्थानों पर रखने तथा उनका वेतन निश्चित करने के प्रति उत्तरदायी था, प्रान्त में काजियों को मनोनित करने में भी वह सर्वोच्च अधिकारी था, प्रांत में सार्वजनिक सुरक्षा को बनाये रखने तथा ईद और जुम्मे (शुक्रवार) की नमाजों का नेतृत्व करना उसी का कार्य था, वार्षिक हज के लिए हाजियों के साज समान की व्यवस्था करना तथा उन्हें भेजना उसी के अधिकारों के अन्तर्गत आता था। इसी प्रकार में वह नागरिकों के सार्वजनिक-नैतिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए भी जुम्मेदार था, करों को लगाने तथा उनको उगहाने के लिए वह कर-अधिकारियों की नियुक्ति करता था, काफिरों के विरुद्ध युद्ध करना तथा प्राप्त लूट में से राज्य और सैनिकों के हिस्सों का बटवारा करना भी उसी के अधिकारों के अन्तर्गत आता था।

गवर्नर के इन अधिकारों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सर्वशक्तिमान शासक ही थे और उन पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं था। सत्यता का इसमें कुछ अंश अवश्य है परन्तु यह स्वीकार करना कि वे सर्व सत्ता ही थे किसी प्रकार उचित नहीं है। सर्वप्रथम यहा यह जान लेना भी आवश्यक है कि ऐसी व्यवस्था में असीमित अधिकारों वाले गवर्नर न केवल शासन अपितु धार्मिक कार्यों के प्रति भी उत्तरदायी थे क्योंकि जहां उन्हें एक ओर प्रजा के नैतिक जीवन को देखना पड़ता था वहां के हाजियों को सुविधा पहुंचाने के लिये भी उत्तरदायी ठहराये जा सकते थे। उस समय की व्यवस्था में यह सर्वमान्य था क्योंकि उस समय में धर्म निरपेक्ष राज्य की कल्पना का भी जन्म नहीं हुआ था। गवर्नर पर इसके पश्चात् भी अनेकों अंकुश थे। गवर्नर खलीफा के द्वारा निर्धारित सैनिकों के वेतन में कोई बढोतरी नहीं कर सकता था और यदि किसी कारणवश उसने ऐसा किया भी हो तो ये बढोतरी केवल अस्थाई थी जब तक कि खलीफा द्वारा इसकी मान्यता प्राप्त न कर ली जावे। गवर्नर इस बात के लिए अधिकारी था कि वो किसको वार्षिक वृत्ति प्रदान करे अथवा सैनिकों को पारितोषिक के रूप में कुछ धन दे दे। वित्तीय क्षेत्र में गवर्नर को शासन के खर्च बाद बची हुई राशि को खलीफा को अर्पित करनी पड़नी थी परन्तु वास्तविकता यह थी कि प्रान्तों की आय शासन व्यवस्था को चलाने के लिए प्रयाप्त नहीं होती थी इसलिए सदैव ही गवर्नर को खलीफा की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था। इन सबसे बड़ा अंकुश स्वयं उसके कार्यकाल के रूप में था। यदि गवर्नर की नियुक्ति स्वयं खलीफा ने की हो तो ऐसी स्थिति में वह खलीफा की मृत्यु के बाद भी अपने पद पर

प्रासीन रहता था परन्तु यदि उसकी नियुक्ति किसी प्रसीमित अधिकार वाले वजीर के द्वारा की गई हो तो वजीर के अपदस्थ होने पर अथवा उसकी मृत्यु पर गवर्नर को भी अपदस्थ कर दिया जाता था, यदि उसी नियुक्ति की स्वीकृति खलीफा के द्वारा प्राप्त न कर ली गई हो। इन आधारों पर यह अनुमान लगाना कुछ सीमा तक ठीक है कि असीमित अधिकार होने के बाद भी गवर्नर पूरी तरह से स्वतन्त्र नहीं थे और धर्माभाव के कारण वे खलीफा के विरुद्ध कार्य करने में असमर्थ थे। इन असीमित अधिकारों वाले गवर्नरों को "इमारत-ए-खास" की संज्ञा दी गई थी।

सीमित अधिकार वाले गवर्नर इतने विस्तृत अधिकारों का उपभोग नहीं करते थे। न्याय व्यवस्था अथवा करों को लगाने का उनका अधिकार नहीं था और फौजदारी मामलों में भी उनके अधिकार सीमित थे क्योंकि ऐसे समस्त मामले जिनमें धार्मिक कानूनों की अवहेलना की गई हो काजी के अधिकार क्षेत्र में थे। इनके अतिरिक्त फौजदारी मामलों में भी वे तब ही हस्तक्षेप कर सकते थे जब कि कोई पार्टी अपना मुकदमा उनके सम्मुख लाये। अपील सम्बन्धी मामलों में भी उन पर अंकुश था। प्रान्तीय शासन को व्यवस्थित रूप से चलाने, शान्ति व्यवस्था को बनाये रखने तथा प्रान्तीय सैनिक व्यवस्था को बनाये रखना उनके प्रमुख अधिकार थे। वार्षिक हज के लिए हाजियों के साज-समान की व्यवस्था करना भी उनके अधिकारों के अन्तर्गत ही था। इनको "इमारत-ए-आम" की संज्ञा दी गई थी।

इन दो प्रकार के गवर्नरों के अतिरिक्त विधि-शास्त्रियों ने एक तीसरे प्रकार के गवर्नर की ओर भी संकेत किया है और इनको 'इमारत-ए-इस्तिला' की संज्ञा दी है, अर्थात् वे गवर्नर जिन्होंने अनधिकार ग्रहण किया हो और इसके लिए उन्होंने कुछ विशेष शर्तें भी लगाई है। हमारे अध्ययन काल में इस प्रकार के गवर्नरों का कोई विशेष अस्तित्व नहीं रहा क्योंकि ये वो प्रान्त थे जिनमें की स्थानीय सरदारों को अपने प्रदेश पर अधिकार बनाये रखने की आज्ञा दी गई थी और इसके बदले में वे सुल्तान को वार्षिक कर दिया करते थे। ऐसे प्रान्तों में स्वायत्त शासन की व्यवस्था थी सरदार पुरानी परम्पराओं के अन्तर्गत शासन चलाते थे।

ये समस्त वर्गीकरण मोटे रूप में सैद्धान्तिक ही था क्योंकि प्रान्तीय गवर्नर के अधिकार, उनकी व्यक्तिगत योग्यता, खलीफा की शक्तिहीनता तथा केन्द्र से प्रान्त की भौगोलिक स्थिति के अनुपात में, घट बढ़ जाते थे। केन्द्र के निकट होने पर असीमित अधिकारों का उपयोग करना सम्भव नहीं था।

तुर्की सुल्तानों के सम्मुख शासन स्थापित करने सम्बन्धी अनेक कठिनाइयां थी। प्रथमतः वे विदेशी विजेता थे और ऐसी स्थिति में प्रारम्भिक वर्षों में उनकी शासन व्यवस्था केवल सैनिक रूप में ही सम्भव थी। जैसे-जैसे उनकी स्थिति दृढ़ होती चली गई वैसे ही वैसे अत्यधिक धीमी गति से प्रशासन की जुम्मेदारियां बदले

लगी। प्रारम्भिक रूप मे इन सुल्तानो ने अपने मातृ-देश आदि की ही कुछ शासकीय सस्थाओ को नये विजित प्रदेशो पर लागू किया और यहां पर प्रचलित शासन व्यवस्था में कम से कम हस्तक्षेप की नीति अपनाई और केवल ऐसी शासकीय सस्थायें जो कि पूर्णरूपेण विजेताओ के अधिकार क्षेत्र में आती थीं उनमे ही उन्होंने अपने मातृ-देश के आधार पर शासकीय सस्थाओ को लागू किया। इसलिए सल्तनत काल के प्रारम्भिक वर्षों मे विशेषकर प्रान्तीय व स्थानीय शासन मे अथवा भू-राजस्व में विजेताओ ने कोई श्लाघनीय परिवर्तन नहीं किया। समय के अनुसार जैसे-जैसे उनके सबध मातृ-देश के साथ कम होते चले गए और उनकी विजयो ने स्थायी रूप धारण किया तथा उनका क्षेत्र विस्तृत होने लगा वैसे ही वैसे शासन व्यवस्था में परिवर्तन करने की आवश्यकता उन्होंने अनुभव की। इसीलिए ममलुक तुर्कों की शासन व्यवस्था मूलरूप से प्रयोगो की एक शृ खला थी जो शासन मे व्यापक रूप धारण करने मे असमर्थ रही।

इसके अतिरिक्त सल्तनत काल मे राज्य-विस्तार एक निरन्तर प्रक्रिया थी जिसका विकास मुहम्मदगोरी द्वारा पृथ्वीराज को तराइन के दूसरे युद्ध मे पराजित करने के साथ ही प्रारम्भ हुआ। यह प्रक्रिया काफी समय तक चलती रही। मुहम्मद-गोरी ने अपने विश्वासपात्र कुतुबुद्दीन एबक को विजय के अपने अधूरे काम को करने के लिए छोड़ा और स्वय पुनः मध्य एशिया की राजनीति में फँस गया जहां से वह कुतुबुद्दीन के कार्यों का नेतृत्व करता रहा और समय समय पर केवल दुर्जेय शत्रु के विरुद्ध ही उसके लिए सहायता हेतु आना सम्भव हो सका। इल्तुतमिश की राज्य सीमायें भी सीमित ही रहीं और बगाल जैसे दूरस्थ प्रदेश पर अधिकार केवल नाम मात्र का ही रहा। इल्बारी तुर्कों को राज्य विस्तार की नीति का परित्याग करना पड़ा क्योंकि आये दिन उन्हे तुर्की परतन्त्रता को उखाड़ फेंकने के विरुद्ध किये जाने वाले षडयन्त्रो के विरुद्ध अभियान करने पड़ते थे। इसलिए बलबन ने तथाकथित मगोलो के आक्रमण के भय के कारण राज्य विस्तार की नीति नहीं अपनाई और अपने पुत्र बुगरा खाँ को बगाल का गवर्नर नियुक्त करके ही सन्तोष किया अलाउद्दीन के राज्याभिषेक के साथ ही एक नवीन नीति का श्री गणेश किया गया और राज्य विस्तार के अन्तर्गत मालवा, गुजरात, राजपूताना और दक्षिण के कुछ प्रदेशा पर अधिकार किया गया। दक्षिण के सम्बन्ध मे अलाउद्दीन ने इसमे सन्तोष किया कि ये राज्य उसकी आधीनता मानकर उसको वार्षिक कर देत रहे। आन्तरिक शासन में बिलकुल स्वतन्त्र रहे। इस प्रकार से उसके राज्य का बीजकोष (Core) पूर्वी पजाब, मुल्तान और दोआब के प्रदेश ही रहे। राजपूताना और दक्षिण राज्य केवल करद-राज्य थे और मालवा के प्रदेश केन्द्र द्वारा नियुक्त गवर्नरो के आधीन थे। बगाल और बिहार स्वतन्त्र राज्य थे।

तुगलक शासकों के समय में दक्षिण को पूर्ण रूप से राज्य के प्रभाव-क्षेत्र में करने के जो असफल प्रयास किये गये उनके कारण दक्षिण में और अधिक अव्यवस्था फैली और उनकी करद राज्यों की स्थिति भी समाप्त हो गई। फिरोज तुगलक ने असफल बंगाल-अभियान के पश्चात् शेष राज्य पर अपना अधिकार बनाये रखकर ही संतोष किया केवल पंजाब, मुल्तान और दोआब के प्रदेश ही शेष रहे।

इस आधार पर हम यह परिणाम निकालते हैं कि शासन व्यवस्था के लिए सल्तनत काल में केवल तीन प्रकार के ही प्रान्त थे (अ) मुल्तान, पंजाब व दो आब का प्रदेश। (ब) दूरस्थ प्रदेश जैसे गुजरात, मालवा, बंगाल व बिहार (स) करद राज्य जो नाममात्र के लिये आधीन थे। क्योंकि करद राज्यों की शासन व्यवस्था के लिए सुल्तान उत्तरदायी नहीं थे और इन प्रदेशों के राज्य स्वायत्त राज्य थे इसलिए हमारे अध्ययन काल में केवल दो ही प्रकार के ही प्रान्त थे।

सल्तनत काल में अधिकतर छोटे ही प्रान्त थे जिन पर सुल्तानों का पूर्ण प्रभुत्व था। 13 वीं शताब्दी में दोआब के प्रदेशों को मेरठ, बारां और कोल नामक प्रान्तों में विभाजित किया गया था और अलाउद्दीन ने इन तीन प्रान्तों को केन्द्र के राजस्व विभाग के आधीन ही रखा था।[1] इसके बाद कन्नौज और कड़ा के प्रान्त थे। गंगा नदी से लगे अमरोहा व सम्भल के प्रान्त थे जिनके उत्तर में बदायूं का प्रान्त था। बदायूं के पूर्व में अवध और अवध के दक्षिण-पूर्व में जौनपुर का प्रान्त था। गंगा का दक्षिण-पश्चिम में महोबा और उसके बाद बयाना का प्रान्त था। दिल्ली के पश्चिम में सरहिंद, समाना और हांसी थे और उसके पश्चात् लाहौर दिपालपुर व मुल्तान के प्रान्त थे। कुछ समय के लिए राजपूताना में चितौड़ को भी प्रान्त बनाया गया था। मोटे रूप में यही केन्द्र के बीजकोष थे। परन्तु इन प्रान्तों की सीमाओं को कोई स्पष्टीकरण नहीं था इसलिए दो प्रान्तों से लगे सीमाओं के गावों की उचित व्यवस्था नहीं हो पाती थी।[2]

दूसरे प्रकार के वे प्रान्त थे जो केन्द्र से दूर स्थित थे और जो वास्तविक रूप में राज्य के अन्तर्गत राज्य थे। बंगाल, दक्षिण और गुजरात के प्रान्त इसी श्रेणी में आते हैं। अलाउद्दीन के समय में बंगाल एक ऐसा दण्डात्मक प्रान्त माना जाता था जहां ऐसे व्यक्तियों को भेजा जाता था जिनका केन्द्र के निकट रहना खतरनाक था। ज़फर खां को अलाउद्दीन ने इसी आधार पर बंगाल भेजने का विचार किया था।[3] इसी प्रकार गयासुद्दीन तुगलक के समय में लखनौती का अधिकारी नासिरुद्दीन था।

1. बरनी पृ० 323
2. वही पृ० 50
3. वही पृ० 254.

सभी बंगाल के मुक्ति सुल्तान की उपाधि भी धारण कर लिया करते थे जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनकी स्थिति दूसरे मुक्तियों की स्थिति से असाधारण थी। बलबन ने अपने पुत्र बुगरा खां को बंगाल में एक सह-स्वतन्त्र शासक के अधिकारों का उपभोग करने की आज्ञा भी दे दी थी।

बलबन और मुहम्मद तुगलक के समय में बंगाल का प्रान्त तीन उपभागों में विभाजित था—सतगाँव, सुनारगाव व लखनौती जिसमें लखनौती इन उपभागों का केन्द्र थी। लखनौती का अधिकारी शेष दो प्रान्तों के अधिकारियों में श्रेष्ठ था। इसी प्रकार दक्षिण भी कई उपभागों में विभाजित था। सुल्तान अलाउद्दीन के समय में ये स्वायत्त राज्य थे परन्तु मुहम्मद तुगलक के समय में दक्षिण के प्रदेशों को चार भागों में विभाजित कर दिया गया था और इन चारों भागों के लिए मुल्क-उल-मुल्क मखलिस-उल मुल्क, युसूफ बघरा व अजीज कमर को नियुक्त किया था तथा देवगिरी को इन चारों भागों का केन्द्र बनाया गया था जिसका अधिकारी एक वायसराय के समरूप था।

समकालीन इतिहासकारों ने राज्य के विभाजन को 'इक्ता' अथवा 'विलायत' की संज्ञा दी है। शाब्दिक रूप में 'इक्ता' का अर्थ एक शासकीय विभाजन है जो सम्भवतः मध्य ऐशिया में प्रचलित था जिसको कि तुर्कों ने अपना लिया था। रैवर्टी ने इस शब्द का प्रयोग 'जागीर' के रूप में किया है जो कि उचित नहीं है[1] क्योंकि जागीर व्यवस्था में जागीरदार अपने प्रदेश में वास्तविक रूप से स्वतन्त्र होता है जबकि 'इक्ताओं' पर सुल्तानों का अधिकार प्रभावपूर्ण था।

निजाम-उल-मुल्क तुसी ने 12 वीं शताब्दी में मुक्तियों के पथ प्रदर्शन के लिए कुछ नियम प्रतिपादित किये थे।[2] मुक्ति केवल शान्ति पूर्ण ढंग से उचित कर (माल-ए-हक) लेने के अधिकारी है और उनका जनता के जीवन, सम्पत्ति व परिवार पर कोई अधिकार नहीं है। यदि कोई नागरिक सुल्तान के सम्मुख सीधी अपील करना चाहे तो मुक्ति को उसे इससे रोकना नहीं चाहिये। यदि मुक्ति इन नियमों का उल्लंघन करता है तो उसे दण्डित व सेवा मुक्त कर देना चाहिये। प्रत्येक तीन-या चार वर्ष बाद मुक्तियों का तबादला कर देना चाहिये जिससे कि वे अधिक शक्तिशाली न हो सकें। मुक्तियों के सेना, राजस्व अथवा न्याय के सम्बन्ध में अधिकार तथा उत्तर-दायित्वों का वर्णन निजाम-उल-मुल्क ने नहीं किया है।

---

1 हबीबुल्ला, ए बी एम —द फाउन्डेशन आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया पृ 252

2 निजाम-उल-मुल्क—सियासत नामा, पृ. 37.

ठीक इन्ही पर आधारित व्यवस्था सुल्तानो ने अपने समय मे अपनाई थी। मुल्तान ही मुक्ति की नियुक्ति करता था और वही उसे अपनी इच्छानुसार अपदस्थ, दण्डित तथा स्थानान्तरित कर सकता था। परन्तु अधिकतर क्योंकि इस प्रकार का स्थानान्तरण मुक्तियो के द्वारा अपमानजनक ही माना जाता था इसलिये सुल्तानो को अपनी आज्ञाओ का पालन करवाने में बल प्रयोग करना पड़ता था। गुलामवंश के समय मे केवल कबीर खाँ और किशलू खा को इल्तुतमिश तथा बलबन के द्वारा दण्ड देकर दूसरे इक्ताओ मे भेजने का वर्णन मिलता है। इल्तुतमिश ने कबीर खा का मुल्तान से स्थानान्तरण किया था और 1253 मे किशलू खाँ को नागौर इक्ते से कड़ा भेजा गया था। सल्तनत काल मे मुक्ति वे ही लोग थे जो उच्च वर्गों के थे तथा जिन्होंने अपनी सैनिक योग्यता प्रमाणित कर दी थी। डा० डे० का मत है कि साधारण रूप में मुक्ति का पद केवल सैनिक अधिकारियो के लिये ही सुरक्षित होता था।[1]

साधारणतया प्रत्येक मुक्ति अपने अपने इक्ता मे ही रहता था परन्तु राजधानी के निकट इक्ताओं म मुक्ति अनुपस्थित हो रहता था और इक्त की व्यवस्था उसके नायब के द्वारा चलाई जाती थी जो कभी-कभी केन्द्र के द्वारा नियुक्त किया जाता था।[2] बलबन जो अमीर ए हाजिब व बाद मे नायब-ए मामलीकत के पद पर रहा उसने अपने इक्ता, हासी व सिवालिक, के प्रदेशों की व्यवस्था अपने नायब द्वारा करवाई थी। उसके अादृश्य किये जाने पर हासी का इक्ता महमूद के नाबालिग पुत्र का दिया गया था और स्वाभाविक रूप से उसके लिए एक नायब की नियुक्ति की गई होगी।[3] यद्यपि छोटे इक्ताओ में नायब की नियुक्ति कभी-कभी केन्द्र द्वारा भी की जाती थी परन्तु बड़े इक्ताओ मे स्वय मुक्ति ही नायब की नियुक्ति कर देता था।

मुक्तियो के वेतन का विवरण नहीं मिलता है परन्तु इतना निश्चित है कि उसे इक्ता के राजस्व का निश्चित भाग मिलता रहा होगा। सल्तनत काल मे अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब मुक्ति पास के हिन्दु राज्यो को जीत कर अपने इक्ता का क्षेत्र बढ़ाते थे अथवा निकट स्थिति इक्ताओं को जीतने का प्रयास करते थे जिससे यह सम्भावना होती है कि मुक्तियों का वेतन उनके राजस्व के अनुपात मे होता था। इस अनुपात का अनुमान लगाना नितान्त असम्भव है। गयासुद्दीन तुगलक ने ये आदेश दिये कि यदि कोई मालिक अथवा अमीर अपने पद के अनुलाभ के अतिरिक्त इक्ता अथवा विलायत के राजस्व का 1/10, 1/11, 23 अथवा 2/11 भाग को हथिया

---

1 डे० यू० एन०—द गवर्नमेंट आफ द सल्तनत पृ. 73.
2. बरनी पृ. 38
3. मिनहाज-उल-सिराज —तबकात ए नासिरी पृ 151–58

लता है तो उसे इस आधार, पर दण्डित न किया जाये। इसका यह अर्थ हुआ कि तुगलक सुल्तान मुक्तिश्रों के निश्चित धन के बाद भी उन्हें ऊपर दिए गये अनुपात में धन देने को तैयार थे। इसी प्रकार मुहम्मद तुगलक भी राजस्व का 1/20 भाग दलाली के रूप में मुक्तिश्रों को देता था।[1]

समकालीन लेखकों के वर्णन से यह बात स्पष्ट नहीं है कि मुक्ति इक्ते की आय से शासन तथा सैनिक व्यय निकाल कर अतिरिक्त धन केन्द्रीय कोष में जमा करता था या नहीं परन्तु अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे मुक्ति द्वारा अतिरिक्त धन कोष में जमा करने की सम्भावना होती है। 1204 ई० में लाहोर और मुल्तान के मुक्तियों को ये आदेश दिए गये थे कि वे राजस्व का बकाया जमा करें।[2] इसी प्रकार से बरनी के अनुसार[3] बलबन का ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद प्रत्येक वर्ष स्वयं अतिरिक्त आय को बलबन के पास लाता था। अलाउद्दीन ने भी जलालुद्दीन खलजी से प्रबंध की अतिरिक्त आय में से देवगिरी पर आक्रमण करने के लिए सेना को सुसज्जित करने की आज्ञा मांगी थी। मुक्ति द्वारा जो आय व्यय का वार्षिक ब्यौरा भेजा जाता था उसकी दीवान ए वजारत द्वारा लेखा परीक्षा (आडिट) की जाती थी और वे मुक्ति जो उचित रूप से इस ब्यौरे को नहीं भेजते थे उनके साथ कठोर कार्यवाही की जाती थी। गयासुद्दीन तुगलक के द्वारा इस सम्बन्ध में दिए गये आदेश इसकी पूर्ति करते हैं।

मुक्ति के अनेकों कर्तव्य थे। साधारणतया वह एक सैनिक टुकड़ी रखता था जिससे इक्ता में शान्ति व्यवस्था बनाये रक्खे तथा अपनी सीमाओं की रक्षा कर सके। केन्द्रीय सरकार के द्वारा उसकी ये सैनिक टुकड़ी किसी भी समय सेवा के लिए बुलाई जा सकती थी और मुक्ति के द्वारा इसकी पूर्ति न करने पर यह केन्द्र के विरुद्ध विद्रोह समझा जाता था। यद्यपि यह ठीक है कि प्रत्येक मुक्ति सैनिक सेवा करने का बद्ध था परन्तु वास्तविकता यह है कि केवल देहली के आसपास के प्रदेशों के मुक्तियों को ही इसके लिए बुलाया जाता था।

बरनी के लेखों से यह अनुभव होता है कि तुगलक सुल्तानों ने मुक्ति की सेना की संख्या, उनका वेतन तथा उनकी साज सज्जा निश्चित की थी जिनमें मुक्ति किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता था।[4] परन्तु ऐसा लगता है कि इस प्रकार की व्यवस्था प्रथम बार तुगलक सुल्तानों के अन्तर्गत ही की गयी थी क्योंकि हमें बरनी के विवरण से मालूम पड़ता है कि बलबन ने अपने पुत्र बुगरा खां को जो सामना व

हबीबुल्ला ए बी एम —वही पृ 260

2 तबकात ए-नासिरी (अनु०) रेवर्टी पृ० 482

3 बरनी—वही, पृ 57

4 बरनी—वही, पृ 431

सुनम का मुक्ति था, यह अधिकार दिया था कि वह नयी भर्ती कर अपनी सैनिक संख्या को दुगनी करदे तथा उनका वेतन भी बढा दे।[1]

साधारण रूप से फीरोज तुगलक के समय गवर्नर अथवा मुक्ति की नियुक्ति के समय दिए गए आदेशों के आधार पर उसके अधिकारों व उत्तरदायित्वों की जानकारी करना सहज है। फीरोज तुगलक के आदेशों के अनुसार वह कार्यपालिका का अध्यक्ष, राज्य में कानूनों को बनाये रखने तथा उनकी श्रेष्ठता को स्थापित करने, जनता की सुरक्षा करने तथा उनके स्वार्थों की रक्षा करने, विद्वानों और उलेमाओं को उचित सम्मान देने सेना को सन्तुष्ट रखने, वित्त की व्यवस्था करने, कृषकों की अनुचित करों के विरुद्ध रक्षा करने और सार्वजनिक अधिकारियों के काम की देख-भाल करने के लिए उत्तरदायी था।[2] जिहाद अथवा धार्मिक युद्धों को करने में पूर्णतया कुरान की आज्ञाओं का पालन करना अनिवार्य था और केवल ईश्वरीय आज्ञाओं के पालन-हेतु ही इस प्रकार के युद्ध करना मान्य थे। न्याय के क्षेत्र में उसे शीघ्रता से बचने और गवाही को पूरी तरह तोल कर बगैर किसी आक्रोश के निष्पक्ष न्याय करने के आदेश थे।

इस प्रकार के विवरण से ऐसा अनुभव होता है कि मुक्ति अथवा गवर्नर के अधिकार असीमित थे परन्तु यह केवल सैद्धांतिक थे। वास्तविक रूप में अधिकारों का उपभोग मुक्ति के व्यक्तित्व तथा सुल्तान के शक्तिशाली अथवा अशक्त होने पर अधिक निर्भर करता था। इक्ताओं की केन्द्र से दूरी अथवा निकटता भी इसके लिए एक उत्तरदायी तत्व था।

गवर्नर की सहायता के लिये अनेकों सहायक अधिकारी थे। वित्तीय व्यवस्था की देखभाल 'साहिब-ए-दीवान' करता था जो कि वजीर की सिफारिश पर सुल्तान के द्वारा नियुक्त किया जाता था। उसकी सहायता के लिए मुतसरिफ व कारकून हुआ करते थे। ख्वाजा नामक अधिकारी भी होता था परन्तु उसके कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में मतभेद है। सेना सम्बन्धित कार्य आरिज के अधीन था। न्याय के लिए काजी की नियुक्ति की जाती थी जो प्रान्तीय मुख्यालय के काजी के अधीन था। न्याय व्यवस्था के अतिरिक्त वह शिक्षा और मस्जिदों को भी देखता था।

प्रान्तीय न्याय व्यवस्था के अन्तर्गत प्रान्तीय-मुख्यालय परगनों में न्यायालय तथा गांवों में पंचायत होती थी। गांव शासन की सबसे छोटी इकाई थी और यहां की व्यवस्था स्थानीय लोगों के अधिकार-क्षेत्र में थी। अनेकों गांवों की एक पंचायत

---

1 बरनी—वही, पृष्ठ80

2. रिजवी, सैयद ए० ए०—तुगलक कालीन भारत भाग दो, पृ 374.

के भ्राधीन कर रक्खा था जिसमें पाच व्यक्ति हुआ करते थे। सरपच की नियुक्ति मुक्ति भ्रथवा फौजदार करता था। पचायत भ्रपने क्षेत्र में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के भ्रतिरिक्त दीवानी, भ्रौर फौजदारी मुकदमे सुना करती थी। पचायतो के निर्णय के विरुद्ध गवर्नर भ्रथवा काजी-ए-सूबा की भ्रदालत में भ्रपील की जा सकती थी।

पचायतो के ऊपर परगने का न्यायालय था जिसमे काजी-ए-सूबा व कोतवाल न्याय का कार्य करते थे। फौजदार भी छोटी-मोटी शिकायतो की सुनवाई करता था। परगने के ऊपर प्रान्तीय मुख्यालय का न्यायालय था जिसके भ्रन्तर्गत गवनर, काजी-ए-सूबा, दीवान-ए-सूबा व सदर-सूबा के न्यायालय थे। गवर्नर का न्यायालय प्रान्त में सर्वोच्च था तथा दीवान-ए-सूबा राजस्व सम्बन्धित मामलो के प्रति उत्तरदायी था।

सेना सम्बन्धी व्यवस्था मे इक्ता की सैनिक टुकडियाँ हुम्रा करती थी जिनकी सख्या उनके क्षेत्र तथा केन्द्र से दूरी के भ्राधार पर निर्भर थी। यह नियम सीमा के इक्ताभ्रो के लिये लागू न था क्योंकि वहा पर सुरक्षा की समस्या भ्रधिक गहन थी। इक्ता के भ्रधिकारी सुल्तान के भ्रादेश पर भ्रपनी सैनिक टुकडियाँ केन्द्र को भेजते थे तथा उनको भ्रादेश दिये गये थे कि वे न तो सैनिको को कम वेतन दें भ्रौर न ही उनके वेतन मे से किसी प्रकार की कटौती ही करें।

भू राजस्व के सम्बन्ध मे सुल्तान द्वारा यह भ्रादेश दिए गये थे कि किसानो से निश्चित किये हुए राजस्व के भ्रतिरिक्त कोई धन वसूल न किया जाय। केवल भ्रलाउद्दीन के समय को छोडकर जबकि दिल्ली के भ्रासपास के प्रदेशो को केन्द्रीय राजस्व के भ्राधीन कर लिया गया था भ्रौर भ्रधिक राजस्व वसूल किया जाता था, समस्त सल्तनत काल मे यही व्यवस्था लागू रही।

गवर्नर भ्रादि की गतिविधियो पर ध्यान रखने के लिए 'बरीदो' की नियुक्ति की गई थी जो सुल्तान को प्रत्येक घटना की जानकारी देने के लिए उत्तरदायी थे। सुल्तान बलबन ने भ्रपने द्वितीय पुत्र, बुगरा खा, को समाना के गवर्नर के पद पर नियुक्ति करते समय बरीदों की नियुक्ति की थी।

गवर्नरो की शक्ति पर भ्रनेक भ्रकुश थे। बरीदो तथा गुप्तचरो की नियुक्ति, सुल्तान के द्वारा उनके भ्रपदस्थ भ्रथवा स्थानान्तरण करने का भ्रधिकार गवनरो को भ्रपने कार्यों के प्रति सचेत रखता था। वास्तविक रूप मे ये शक्तिशाली भ्रकुश थे भ्रौर गवर्नरो को ईमानदारी के साथ कार्य करने के लिए प्रेरित करते थे। वित्तीय मामलो मे क्योंकि प्रान्तीय दीवान केन्द्र के प्रति उत्तरदायी था इसलिए गवर्नर के लिए सम्भव न था कि वह वहा की भ्राय का दुरुपयोग कर सके, जो स्वय मे एक भ्रकुश था। गवर्नर इस बात से भी डरते थे कि वे भ्रपने क्षेत्र में भ्रप्रिय न होने पावें क्योंकि ऐसी स्थिति मे लोग उसके कुशासन के विरुद्ध सीधे सुल्तान के सम्मुख भ्रपनी शिकायतें रख सकते थे। भ्रन्त में क्योंकि प्रान्तीय भ्रन्चलो के विरुद्ध भ्रपीलें केन्द्र के

न्यायालयों में की जा सकती थी इसलिए गवर्नर अपने कार्यों के प्रति सजग रहते थे। इस प्रकार से गवर्नरों के अधिकारों को सीमित करने के लिए प्रबन्ध किया गया था।

प्रान्तों को अन्य इकाईयों में विभाजित किया गया था, जिनमें सबसे छोटी इकाई गाँव थी। सल्तनत काल में गांवों के शासन में कोई परिवर्तन नहीं आया। मुकद्दम, खूत और चौधरी व्यवस्था बनाये रखते थे। यद्यपि यह सत्य है कि अलाउद्दीन के द्वारा लागू किए गये नियमों से चौधरी, खूत, और मुकद्दमों के राजस्व सम्बन्धी अधिकारों और उनके अनुलाभों पर आघात पहुँचा था परन्तु फिर भी ये गांव में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी थे। कई गांवों को मिलाकर एक परगना बनता था। परगने के सम्बन्ध में अत्यधिक कम जानकारी है क्योंकि एक ही समकालीन इतिहासकारों ने परगने और कस्बे को पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया है और दूसरे कोई विशेष नियम न थे जिनके आधार पर परगनों का निर्माण किया जाता हो। इब्नबतूता के वर्णन में ऐसा आभास होता है कि सम्भवतः एक परगने में एक सौ गांव होते थे।

समकालीन इतिहासकारों के विवरण में हमें विलायत, शिक व इक्ता शब्दों का भी प्रयोग मिलता है जो विभिन्न अधिकारियों को दिए गये प्रदेशों के सूचक हैं। विलायत प्रान्तों के समान ही भू प्रदेश थे। शिक एक प्रकार का प्रशासनिक भाग था जो कि प्रान्त का उप भाग था और कई परगना को मिलाकर बनाया जाता था। समकालीन इतिहासकारों ने इक्ता शब्द का प्रयोग बड़े ही मुक्त ढंग से किया है और राज्य के किसी भी भू-भाग के लिए इस संज्ञा का प्रयोग किया है। बरनी के विवरण से ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रथम बार यह उप-विभाजन सुल्तान बलबन के शासन के उत्तरार्द्ध में किया गया था और उसके बाद यह व्यवस्था इसी प्रकार चलती रही। फीरोज तुगलक के अन्तिम वर्षों तक शिक और विलायत शब्दों का प्रयोग प्रशासन के छोटे और बड़े भागों के रूप में किया जाने लगा था। शिक के अन्तर्गत कई परगने और शिक का मुख्यालय होता था। लोदियों के समय में शिकदार शब्द का प्रयोग खालसा भूमि के परगनों तथा शहरों के लिए उपयोग किया जाने लगा और फौजदार एक सैनिक अधिकारी मात्र रह गया। इसी समय से जब शिक के स्थान पर सरकार शब्द का प्रयोग किया जाने लगा तब इसके प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी को शिकदार-ए-शिकदारान के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

परगने में शान्ति व्यवस्था को बनाये रखने के अतिरिक्त शिकदार का कर्त्तव्य था कि वह ग्रामीणों को राजस्व उगाने में सैनिक सहायता दे तथा विद्रोही दल और मुकद्दमों को दबाये, ऐसे व्यक्ति जिनको राज्य की ओर से इनाम की भूमि प्राप्त हुई हो उनके अधिकारों को सुरक्षित रक्खे। ऐसा अनुभव होता है कि **शिकदार** को

सैनिक टुकड़ी रखने के लिए राजस्व का कुछ भाग मिलता था परन्तु यह भाग कितना होता था इसकी कोई जानकारी नहीं है। परगने में सहायक अधिकारियों के रूप में आमील, मुशरिफ, खजानदार, काजी आदि होते थे। आमील मुख्य रूप से राजस्व वसूल करता था, मुशरिफ हिसाब रखता था और खजानदार, जैसा कि उसके नाम से मालूम पड़ता है, खजाने का अधिकारी था। काजी न्याय सम्बन्धी कार्य करता था।

(ब) मुगल कालीन

सल्तनत काल की तुलना में मुगल काल में प्रान्तीय व्यवस्था की जानकारी के साधन अधिक उपलब्ध हैं इसलिए इस काल का समुचित रूप से अध्ययन करना सहज है। प्रथम मुगल सम्राट बाबर मूल रूप से एक सैनिक था और भारत की उस समय की परिस्थितियाँ बाबर की प्रकृति के अनुकूल थी तथा वह इस अवसर को खो देने वाला शासक न था। परन्तु एक बार विजय के पश्चात् उस विजय को व्यवस्थित करने का प्रश्न जब उसके सम्मुख आया तो बाबर स्वयं को उसके अनुरूप सिद्ध नहीं कर सका और पुर्सत के समय को शासन को, समुचित रूप से व्यवस्थित करने की अपेक्षा अपने पसन्द के भवनों को बनवाने में लगाया और इसलिये वह अफगानों की पुरानी और लुप्त-प्राय व्यवस्था को अपनाकर ही सन्तुष्ट रहा। अपने विश्वसनीय तुर्की सरदारों को उसने राज्य में विद्यमान प्रान्तों में नियुक्त किया और उन्हें स्वयं अपनी ही शक्ति पर निस्सहाय रूप में छोड़ कर अपने साधनों और शक्ति के आधार पर इन प्रान्तों से राजस्व वसूल करने तथा शान्ति व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व छोड़ा। इस प्रकार राज्य का 1/5 भाग उन पुराने जमींदारों को दिया जिन्होंने उसकी आधीनता स्वीकार कर स्वामिभक्ति का वचन दिया था शेष 4/5 भाग उसने अपने अनुयायियों को सौंप दिया। बाबर ने इन प्रान्तीय तुर्की सरदारों से सम्पर्क बनाये रखने के लिए केवल अर्ध-व्यवस्थित डाक व्यवस्था का प्रबन्ध भी किया। इसके अतिरिक्त उसके समय में कोई दूसरे सुधार सम्भव न हो सके। हुमायूँ ने भी प्रान्तीय व्यवस्था के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाया। अपने राज्यकाल के उत्तरार्द्ध में उसने पूर्वकालीन मुस्लिम व्यवस्था से अलग एक नई व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया परन्तु यह केवल अल्पकालीन सिद्ध हुई और उसे इतना समय न मिल पाया कि वह इन प्रयोगों को स्थायी रूप दे सके।[1]

इस प्रकार से प्रथम दो मुगल सम्राटों का प्रान्तीय व्यवस्था में योगदान नगण्य ही रहा। क्योंकि तुर्की सरदारों और सैनिकों की संख्या अत्यधिक कम थी

---

1 अर्सकिन, डब्ल्यू —हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया अण्डर द फर्स्ट टू स वरेन्स ग्राफ द हाउस ग्राफ तैमूर, भाग 2, पृ 520–23.

इसलिए अधिकतर प्रदेश पुराने अफगान सरदारों के ही अधीन रहे। वे यह अनुभव करते थे कि उनके परम्परागत अधिकारों पर किसी भी समय आंच आ सकती है और अनेकों बार उनकी इस उद्धत प्रवृत्ति के विस्फोटक प्रमाण भी मिले। यद्यपि यह ठीक है कि मुगल सम्राट उनको युद्ध-स्थल में पराजित करने में समर्थ हुए थे परन्तु वो कोई ऐसा उपाय ढूंढ निकालने में असमर्थ रहे जिससे कि वे इन विद्रोही अफगानों को बदली हुई परिस्थिति में अभ्यस्त करा सकें और नई व्यवस्था के अन्तर्गत शान्ति-पूर्ण ढंग से जीवन-यापन करने के लिए तत्पर कर सकें। ऐसी परिस्थिति में जन-जीवन आतंकित व आस्थाहीन ही बना रहा और उनके विश्वास को पुनः प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया गया।[1] प्रान्तीय सरदार और अधिकारी पहले की तरह ही स्वच्छन्दता से जीवन बिताते रहे और केन्द्रीय शक्ति न तो उनकी गतिविधियों पर अंकुश ही लगा सकी और न ही अपनी इच्छाओं और आज्ञाओं को उन पर लागू करने में समर्थ हो सकी।

शेरशाह ने अप्रत्यक्ष रूप से इस क्षेत्र में कुछ सुधार किए। अफगानों की शासक से समानता और उसी के अनुरूप समझने की प्रवृत्ति पर वह कुछ सीमा तक अंकुश लगाने में सफल हुआ और अपने कठोर, सतर्क व व्यक्तिगत परिश्रम से अफगान सरदारों को साल दर साल समय पर प्रान्तीय गवर्नर अथवा जागीरदार पर समर्पण कर सका। इस सुधार से शांति और व्यवस्था की स्थापना हुई तथा साधारण जीवन सम्पन्न हुआ। यद्यपि अफगान सरदार अब भी शासक के बराबर होने का दम्भ भरते रहे परन्तु वे अब शासक के प्रति अधिक निष्ठावान हो गए। शेरशाह ने उनकी समानता की भावनाओं को चोट पहुंचाये बगैर अपने कठोर परन्तु उदार सौजन्य तथा नम्रता पूर्ण व्यवहार से उन पर अंकुश लगाने में सफलता प्राप्त की। उसका सम्पूर्ण राज्य अफगान सरदारों को जागीर के रूप में दिया गया था परन्तु उसने इन सरदारों को ये अनुभव करा दिया कि उनको इस शक्ति तथा सौभाग्य के साथ ही उनके कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का अभिन्न सम्बन्ध जुड़ा हुआ है और वे इसका उपभोग केवल उसी समय तक कर सकेंगे जब तक कि वे अपने कर्तव्यों तथा उत्तर-दायित्वों का पालन करते हैं।[2] कर्तव्य के प्रति इस प्रकार की भावना को स्थापित करना उसकी कोई नगण्य प्राप्ति नहीं कही जा सकती।

शेरशाह के इन प्रयासों के बाद भी अकबर के समय के पहले व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में प्रांतीय शासन व्यवस्था का उदय न हो सका। राजपूतों मंगोलों और विद्रोही अमीरों को दबाने में केन्द्रिय शक्ति इतनी व्यस्त थी कि प्रान्तीय

1. शरण, पी—द प्रोविंशियल गवर्नमेन्ट ऑफ द मुगल्स, पृष्ठ 147
2. वही, पृ 151.

व्यवस्था को उचित रूप देने का उसको समय ही नही मिला। उस काल में अमीर के पास यदि कोई ऐसा भू भाग हो जिसमे एक विशिष्ट दुर्ग हो तो उसे ही साधारण रूप मे एक प्रान्त की संज्ञा दे दी जाती थी।[1] ऐसी स्थिति मे प्रान्तों की संख्या और उनका क्षेत्रफल प्रायः दिन बदलता रहता था। प्रान्तीय अधिकारी अपनी बुद्धिमता और साधनो के आधार पर इसकी व्यवस्था करते थे और शासक यदा-कदा ही हस्तक्षेप कर पाता था यद्यपि यह ठीक है कि शेरशाह ने इस व्यवस्था को सुधारने का प्रयास किया था परन्तु फिर भी कोई दूरगामी सुधार न हो सके। इसीलिए डा० कानूनगो का यह मत है कि सम्भवत शेरशाह प्रान्तो को शासन की इकाई के रूप का समाप्त करना चाहता था और उसके शासन की प्रमुख इकाई परगना थी। डा० पी० शरण ने इस मत का विरोध कर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि शेरशाह के समस्त शासन-काल मे प्रान्तो की व्यवस्था थी परन्तु वे य अवश्य स्वीकार करते हैं कि शेरशाह ने साधारणत प्रान्तीय व्यवस्था मे कोई नवीन सुधार लागू नही किया। डा० त्रिपाठी का यह मत अधिक न्यायसंगत है कि शेरशाह के राज्यकाल मे बड़े प्रान्त भी थे परन्तु साथ ही बंगाल जैसा प्रान्त भी था जिसका प्रान्तपति नाम-मात्र का था।

अकबर को प्रान्तीय व्यवस्था की स्थापना मे अपनी ही सूझ-बूझ से कार्य करना पड़ा। उसने निश्चय किया कि प्राकृतिक सीमाओं और शासकीय सुविधा के आधार पर समान क्षेत्रफल के प्रान्तो का निर्माण किया जावे व केन्द्रीय शासन के समरूप ही वहां शासन व्यवस्था स्थापित की जाय। 1581 ई० में उसने राज्य को 12 सूबो मे बांटा और इनके प्रमुख शहर के आधार पर ही इनका नामकरण किया।[2] य सूबे काबुल, लाहौर, मुल्तान, देहली, आगरा, अजमेर, इलाहबाद, अवध, बिहार, बंगाल मालवा व गुजरात थ। जब नये प्रदेशो को विजित किया गया तो काश्मीर व कन्धार के प्रदेश काबुल, उड़ीसा का प्रदेश बंगाल और सिन्ध का प्रदेश मुल्तान के सूबो मे मिला दिये गये। दक्षिण की विजय क बाद खानदेश, बरार और अहमदनगर के नये सूबे बनाये गये और इस प्रकार सूबो की कुल संख्या 15 हो गई।[3] जहांगीर के राज्यकाल मे भी सूबो की संख्या इतनी ही रही। शाहजहां के शासनकाल मे निजामशाही राज्य के शेष प्रदेशो पर भी अधिकार कर लिया गया और अहमदनगर के सूबे को दो भागों में बांट दिया गया। 1638 ई० मे जब कन्धार को विजय

1. त्रिपाठी आर पी —वही, पृष्ठ 304
2 श्रीवास्तव, ए एल —अकबर, भाग 2, पृ 113
3 पाण्डे ए बी —वही पृष्ठ 103

किया गया तो उसको एक भिन्न सूबे का रूप दिया गया। काबुल, मुल्तान और बंगाल के सूबों से क्रमश: काश्मीर, थट्टा और उड़ीसा को अलग कर नये सूबे बनाये गये क्योंकि ये सूबे आवश्यकता से अधिक बड़े थे। इस प्रकार से शाहजहां के शासन काल में सूबों की संख्या 20 हो गई। कुछ समय के लिये बलख और बदख्शा भी उसके अधिकार में थे इसीलिए अब्दुल हमीद लाहौरी ने सूबों की संख्या 22 दी है परन्तु जब ये दोनों सूबे तथा कन्धार शाहजहां के आधीन नहीं रहे तो सूबों की कुल संख्या 17 मात्र रह गई। औरंगजेब ने गोलकुण्डा और बीजापुर को जीत कर हैदराबाद व बीजापुर के नये सूबे बनाये, तेलंगाना और दौलताबाद सूबों के नाम बदल कर बीदर और औरंगाबाद रखे गये। इस प्रकार से सूबों की संख्या 21 हो गई। औरंगजेब के समय में सूबों की संख्या 22 दी गई है परन्तु यह उस समय तक ठीक नहीं है जब तक कि आसाम की अस्थायी विजय को भी इसमें न मिलाया जावे।[1]

प्रत्येक करद राज्य को अपने क्षेत्रफल और महत्व के आधार पर सरकार या परगने के समान समझा जाता था। इस प्रकार से अकबर के समय से साम्राज्य का छोटे से छोटा हिस्सा भी किसी सूबे का भाग था और प्रत्येक सूबे की व्यवस्था साधारणतया एक समान थी। केवल कुछ अवस्थाओं में एक से अधिक सूबों के लिए एक ही सूबेदार नियुक्त किया जाता था, जैसे अकबर के समय में सम्पूर्ण दक्षिण के लिए एक ही सूबेदार नियुक्त किया गया जो नायब सूबेदार की सहायता से शासन चलाता था। कभी-कभी एक ही व्यक्ति को एक से अधिक सूबों के दीवानी अधिकार दे दिए जाते थे जैसे मुर्शिद कुली खां को बंगाल व उड़ीसा के दीवानी अधिकार दे दिए गए थे। इस प्रकार से अनुपस्थित सूबेदारों की प्रथा आरम्भ हुई जो बाद में मुगल साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई।

मुगल शासन व्यवस्था का स्वरूप आज के समान व्यापक नहीं था। शासन का समस्त कार्य कुछ निर्धारित विभागों में बटा हुआ था और यद्यपि शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य का कोई विभाग नहीं था परन्तु इसके बाद भी इनकी कार्य विधि और कार्य शीलता में कोई बाधा नहीं आई।[2] स्कूलों की कोई कमी नहीं थी और प्रत्येक मस्जिद अथवा मन्दिर एक स्कूल था जहां शिक्षा मुफ्त दी जाती थी। अधिकतर प्रमुख शहरों में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी जहां दर्शनशास्त्र, विज्ञान व ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। इसी प्रकार से जनसाधारण के स्वास्थ्य की

---

1. वही पृ 204.
2. शरण पी —द प्रोविन्शियल गवर्नमेंट आफ द मुगल्स, पृ 156.

व्यवस्था के लिये राजकीय सहायता से औषधालय स्थापित किए गये थे जहां आयुर्वेद और यूनानी पद्धति से इलाज किया जाता था।

अकबर के समय मे सूबे के अधिकारी को शासकीय आधार पर सिपहसालार के नाम से पुकारते थे।[1] साधारणतया उसे सूबेदार अथवा सूबा-साहब भी कहते थे। अकबर के उत्तराधिकारियो के समय मे उसे नाजिम कह कर पुकारने लगे थे। वह सूबे मे सम्राट का स्वरूप ही था। उसके बाद दीवान का पद था परन्तु वह किसी तरह से सिपहसालार के अधीन नही था। वस्तुत सूबे की शासन व्यवस्था की सपूर्ण जुम्मेदारी इन्ही दो अधिकारियो के बीच बटी थी। सिपहसालार राज्य मे कार्यपालिका, सुरक्षा, फौजदारी व्यवस्था व साधारण कार्यों की देखभाल करता था और दीवान मुख्यत राजस्व विभाग के प्रति उत्तरदायी था। इन दो अधिकारियो की सहायता के लिए बख्शी-सदर, काजी, कोतवाल, मीर बहार व वाकया नवीस नामक अधिकारी थे। इन अधिकारियो के अतिरिक्त कभी-कभी प्रान्त मे अमीन नामक अधिकारी भी नियुक्त किया जाता था। यद्यपि इसके कार्य-क्षेत्र और स्वरूप की जानकारी नही है क्योकि समकालीन इतिहासकार इस सबन्ध म मौन हैं परन्तु इतना अवश्य है कि 17वी शताब्दी में वह सूबे के दीवान के अधीन राजस्व अधिकारी था और 18वी तथा 19वी शताब्दी के आरम्भ म वह न्यायिक अधिकारी था। इन अधिकारियो के अतिरिक्त सम्राट प्रचलित प्रथा के अनुसार अनेक अमीरो को प्रान्त मे जागीर देकर सूबेदार की सहायता के लिए भेजता था। ये अनौपचारिक रूप से महत्वपूर्ण विषयो में उसकी सहायता करते थे और समय-समय पर वह इनसे सलाह ले सकता था।

अधिकतर अनुभवी और जुम्मेदार व्यक्ति ही सूबेदार बनाये जाते थे परन्तु राजकुमारो और महत्वपूर्ण अमीरो के लडको के सम्बन्ध म इसका कठोरता स पालन नही किया जाता था। जब कभी सूबेदार के पद पर राजकुमारो आदि की नियुक्ति की जाती थी तब निश्चित रूप से अतालीक (परामर्शदाता) नामक अधिकारी की भी नियुक्ति की जाती थी जो अपने अनुभव, उत्तरदायित्व के आधार पर राजकुमारो को शासन चलाने मे सहयोग देता था और उनको यह आदेश था कि वो उसकी सलाह को मानें।[2] वास्तविकता यह है कि कभी-कभी युवक राजकुमारो के लिए अतालिक ही वास्तविक रूप मे सूबे का अधिकारी था। कभी कभी यह भी होता था कि सूबेदार किसी कारणवश अपनी नियुक्ति पर न पहुँच सके तो ऐसी स्थिति मे सम्राट से आज्ञा लेकर अपनी इच्छानुसार कुछ समय के लिए किसी व्यक्ति को भेज देता था जो उसके

---

1 लोदी और सूरो के शासनकाल मे उसे 'हाकिम' कहते थे।

2. शरण, पी —वही, पृ 159.

नाम से शासन व्यवस्थित करता था। इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं जैसे महावत खां ने 1663 ई० में दौलताबाद की सूबेदारी प्राप्त करने पर अपने स्थान पर नसरत खां को भेजा था।

सूबेदार की नियुक्ति वजीर की सलाह से शाही फरमान द्वारा की जाती थी जिसे 'फरमान-ए-सब्ती' कहते थे। साधारणतया वह उच्च श्रेणी का मनसबदार होता था और नियुक्ति के समय उसका मनसब और भी बढ़ा दिया जाता था। अपने उच्च मनसब के कारण वह काफी वेतन लेता था और कभी-कभी उसे अतिरिक्त भत्ता भी मिलता था। इसलिए वो बड़ी शान-शौकत से रहता था। विदेशी यात्री इनकी शान-शौकत को देखकर आश्चर्यचकित थे क्योंकि यूरोप में यह सब सम्भव नहीं था। सूबे में कोई दूसरा व्यक्ति उसकी सम्पदा और महत्व के सामने फीका पड़ता था।

उसकी नियुक्ति अथवा पदोन्नति के सम्बन्ध में कोई नियम न थे और न ही समकालीन लेखकों के विवरण में उनकी छुट्टी, पेन्शन आदि के कोई नियम मिलते हैं। सैद्धान्तिक आधार पर सारे ही उच्च अधिकारियों की नियुक्ति सम्राट की इच्छा पर थी परन्तु वास्तविक रूप में वह नियुक्ति के पहले मंत्रियों अथवा योग्य व्यक्तियों की सलाह लेता था और केवल योग्यता ही नियुक्ति की सबसे बड़ी कसौटी थी। उदाहरण के लिए सूबेदार और दीवान के पद भिन्न-भिन्न योग्यता के लोगों को दिये जाते थे। कभी भूले-भटके ही ऐसा उदाहरण मिलता है जबकि दीवान, सूबेदार अथवा एक सूबेदार, दीवान के पद पर नियुक्त किया गया हो। केवल टोडरमल को छोड़कर जो योग्य दीवान के साथ ही योग्य सूबेदार भी था हमें मुगलकाल में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है, जब एक को दूसरे की जगह पर नियुक्त किया गया हो। बीरबल को एक कठिन मुहिम पर नियुक्त करने की गलती सम्भवतः अपने में ही एक उदाहरण है और इसके पीछे सम्राट की बीरबल के प्रति अत्यधिक स्नेह की भावना है अन्यथा योग्यता और स्वामिभक्ति ही नियुक्ति के प्रमुख आधार थे।

यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि सूबेदार कितने समय के लिए एक सूबे में नियुक्त किया जाता था परन्तु ट्रेवर्नियर के विवरण से ऐसा आभास होता है कि सम्भवतः तीन वर्ष में उसका तबादला कर दिया जाता था।[1] पीटर मुण्डी के विवरण से भी यही परिणाम निकलता है[2] परन्तु अधिकतर शासन की आवश्यकता को ध्यान में रख कर तबादले शीघ्र ही किये जाते थे।[3]

---

1. ट्रेवर्नियर, जे. बी.—ट्रेवल्स इन इण्डिया, पृ. 63.
2. पीटर मुन्डी—भाग 2, पृ 75
3. शरण, पी.—वही, पृ 164.

सूबेदार, सूबे के शासन की धुरी था। सूबेदार की नियुक्ति के समय सम्राट उसे मोहर आदि प्रदान करता था तथा उसे कुछ निर्देश देता था। आईन-ए-अकबरी में इस प्रकार के निर्देश आईन-ए-सिपहसालार के नाम से मिलते हैं।[1] उसका प्रमुख कार्य सूबे में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के अतिरिक्त सूबे के सहयोगी, अधिकारियों के काम की देखभाल करना था। इसके लिए वह नम्रता परन्तु दृढ़ता से काम लेता था और समय पर उनके गुणों के सम्बन्ध में तथा उनकी पदोन्नति के बारे में सम्राट को सिफारिश करता था। परन्तु आलसी, बेईमान और षड्यन्त्रकारी अधिकारियों के विरुद्ध भी उनकी सेवाओं को समाप्त करने के लिए शासक को सिफारिश करता था। साधारणतया बढ़ोतरी अथवा दण्ड के सम्बन्ध में शासक उसकी सिफारिशें मान लेता था। इस आधार पर सूबेदार अपने क्षेत्र में अनुशासन बनाये रखने में समर्थ था। स्थानीय जमींदारों की भावनाओं के प्रति वह सजग रहता था और उदण्डों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करता था। अधिकतर वह व्यक्तिगत सबन्धो, भेंटों तथा अपनी शक्ति के आधार पर उन पर अंकुश रखता था। उसकी यह जुम्मेदारी थी कि वह ऐसा वातावरण अपने क्षेत्र में बनाये रक्खे जिससे पूरा राजस्व वसूल किया जा सके और आवश्यकता पड़ने पर दीवान को सैनिक सहायता दे सके। स्वयं सूबेदार ऐसे जमींदारों से राजस्व वसूल करने के लिए भी जुम्मेदार था जो राजस्व सम्बन्धी मामलों के लिये उसके सूबे में शामिल कर दिए गये हों परन्तु ऐसे प्रदेश जिनका सीधा सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार से हो उनमें सूबेदार कोई हस्तक्षेप नहीं करता था।

वह प्रत्येक पखवाड़े अपने क्षेत्र सम्बन्धी रिपोर्ट केन्द्र को भेजता था और इस समस्त पत्र-व्यवहार के लिए केन्द्र में अपना एक प्रतिनिधि रखता था। उसी की बुद्धिमत्ता पर उसकी सफलता आधारित थी इसलिए वह उसके चुनाव के प्रति अधिक सतर्क रहता था। कभी-कभी कुछ सूबेदार अपने ही मन से युद्ध आरम्भ कर देते अथवा सम्राट के लिए काम में आने वाली शब्दावली का प्रयोग करते, उच्च अधिकारियों के साथ व्यक्तिगत चाकरों जैसा व्यवहार करते थे, ऐसी स्थिति में सम्राट हस्तक्षेप करता था। जब इस्लाम खां के व्यवहार को जहांगीर ने आपत्तिजनक समझा तो उसके विरुद्ध आदेश निकाले। औरंगजेब को भी इसी आधार पर गाजीउद्दीन फिरोज जंग के विरुद्ध कार्यवाही करनी पड़ी थी।

प्रजा की खुशहाली पर साम्राज्य की स्थिरता आधारित थी इसलिए उसे यह आदेश थे कि वो किसानों को प्रोत्साहन देकर कृषि के क्षेत्र में विस्तार करे तथा किसानों की सुविधा के लिए सिंचाई के साधनों को जुटाये।[2] वह किसानों से सबकुछ

---

1 आईन-ए-अकबरी—जेरेट व सरकार द्वारा अनुवादित, भाग 2, पृ 37-39.

2. शरण, पी.—वही, पृ. 186.

ऐंठने की कोशिश न करे क्योंकि एक बार किसानों की स्थिति दयनीय होने के बाद उसको ठीक स्तर पर लाना काफी कठिन है। किसानों से केवल उतना ही लिया जावे जो राज्य को देय है।

शासक की तरह उसे भी किसी धर्म के मामले में हस्तक्षेप करने की आज्ञा न थी। उस आदेश था कि वह विद्वानों और धार्मिक लोगों का आदर करे तथा उनको पठन-पाठन में प्रोत्साहन दे। शाहजहाँ और औरंगजेब के काल में धार्मिक नीति में परिवर्तन के कारण सूबेदार को दिये गये निर्देशों में भी परिवर्तन हुए परन्तु बाद के मुगल सम्राटों के समय में इस नीति में पुन. परिवर्तन आ गया।

सूबेदार के लिये अपने उत्तरदायित्व को निभाने हेतु जासूसों को नियुक्त करने के आदेश थे परन्तु उन्हें इस बात से आगाह कर रखा था कि वे एक ही जासूस पर निर्भर न रहें तथा कई जासूस रखें। गलत सूचना पर जासूसों को दण्डित करें तथा उनकी सूचनाओं का सतर्कता से उपयोग करें।

सूबेदार के कार्यों में न्याय प्रशासन भी था और उसे निर्देश दिये गये थे कि वह मुकदमों में बगैर अनुचित देर किए हुये यथाशीघ्र निर्णय दे। तथ्यों तक पहुँचने के लिए उसे स्वयं जाँच-पड़ताल करनी चाहिये और केवल गवाहों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। दण्ड देते समय उसे नर्म और क्षमाशील होने के निर्देश थे और भिन्न भिन्न स्तर के लोगों को भिन्न-भिन्न दंड देने का सुझाव दिया था। अपील के मुकदमों का निर्णय सूबेदार तथा प्रान्तीय काजी मिलकर करते थे। प्रान्तीय दीवान व काजी के मुकदमों की अपील उसी की अदालत में आती थी। ऐसे मुकदमे जिनमें मृत्यु-दण्ड की सम्भावना होती थी वह केन्द्रीय न्यायालय को भेज देता था क्योंकि उसे मृत्यु-दण्ड देने का अधिकार न था।

सूबेदार के बाद प्रान्तीय दीवान का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था। उसका चयन केन्द्रीय दीवान करता था और केन्द्र के द्वारा हस्व-उल-हुक्म नामक सनद से उसकी नियुक्ति होती थी तथा वो प्रान्तीय सूबेदार के किसी प्रकार से आधीन नहीं होता था। 1576 ई० में अकबर ने आदेश निकाला था कि प्रत्येक प्रान्तीय दीवान केन्द्रीय दीवान के सुझावों के अनुसार सम्राट को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत किया करे। दीवान की सहायता के लिए अनेक सहकर्मचारी होते थे।

उसका प्रमुख काम सूबे की वित्तीय व्यवस्था को अक्षुण्ण रखना तथा सरकारी राजस्व को समय पर वसूल करना था। यह उसका कर्तव्य था कि वह ग्रामीण और

तहसीलदारों की कार्य विधियों के प्रति सजग रहे जिससे कि वे न तो किसानों को दु खी करें और न ही राज्य के धन का दुरुपयोग करें। आवश्यकता पड़ने पर वह किसी भी भ्रष्ट अधिकारी को सेवा-मुक्त करने की सिफारिश कर सकता था। वह इस बात से भी सतर्क रहता था कि सहायक अधिकारी किसी प्रकार के 'नाजायज अबवाब' (निषिद्ध कर) वसूल नही करते हैं और इसलिए वह उनके कागजों का कठोरता से निरीक्षण करता था। समय समय पर उपज बढ़ाने के लिए वह किसानों को प्रोत्साहन देता था तथा बजर भूमि को खेती योग्य बनाने के लिए ऋण भी देता था। फसलों के खराब हो जाने की स्थिति में वह राजस्व भी कम कर सकता था। यदि किसी कारणवश राजस्व बकाया रह जाता था तो वह प्रत्येक फसल पर बकाया का 5 प्रतिशत वसूल करता था जिससे कि न तो किसानों को अधिक भार सहन करना पड़े और सरकार भी धीरे-धीरे अपना बकाया कर वसूल कर सके। राजस्व इकट्ठा करने का समय समाप्त होने पर वह सूबे के खजाने मे उसे जमा करवा कर केन्द्र को भेजने की व्यवस्था करता था। प्रत्येक पखवाड़े वो राजस्व वसूली और खर्चे की रिपोर्ट के साथ ही सूबे की साधारण स्थिति के बारे में केन्द्र को अपनी रिपोर्ट भेजता था।

प्रान्तीय दीवान न्यायिक कार्य भी करता था। वह राजस्व सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय करता था तथा परगनों से आई हुई राजस्व सम्बन्धी अपीलों की सुनवाई करता था। उसके निर्णय के विरुद्ध केन्द्र मे दीवान ए-आला के सम्मुख अपील की जा सकती थी।

यद्यपि यह ठीक है कि दीवान और सूबेदार के बीच अधिकारों के विभाजन से एक द्वयात्मक शासन की स्थापना की गई थी परन्तु वास्तविकता यह है कि सूबेदार की तुलना मे दीवान की स्थिति गौण थी। सम्भवत इसका उद्देश्य यही रहा होगा कि सूबे के उच्चतम अधिकारी एक दूसरे के कार्यों पर अंकुश रखें तथा केन्द्र इससे सूचित रहे। इसका यह अर्थ कदापि नही था कि दोनों अधिकारियों के बीच चिर-स्थायी रूप से शासन चलाने मे शंका और तनाव के बीज बो दिये जावें अपितु शासन को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए दोनों के बीच सहयोग अत्यधिक आवश्यक शर्त थी। जब कभी केन्द्र को इस प्रकार की सूचना मिलती कि सूबे के दीवान और सूबेदार के बीच तालमेल समाप्त हो रहा है अथवा वे एक दूसरे के सहयोग से काम करने में असमर्थ हैं तब ही एक अथवा दोनों को वापिस बुला लिया जाता था। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि यद्यपि दीवान किसी प्रकार से सूबेदार के आधीन नहीं था परन्तु फिर भी वह उसकी बराबरी करने में असमर्थ था। सूबेदार एक ओर तो कार्यपालिका का अध्यक्ष था और दूसरी ओर उसका पद अधिक सम्मानित था इसलिए साधारण रूप से जनता में वह अधिक सम्मान प्राप्त करने में समर्थ था।

सूबे में बख्शी का पद भी महत्वपूर्ण था। उसकी नियुक्ति केन्द्रिय बख्शी की सलाह से तथा उसकी मोहर से हुआ करती थी। वो सूबे के सैनिकों की देखभाल करता था। सेना की भर्ती, उनकी आवश्यकताओं एवं साज-सज्जा की पूर्ति, घोड़ों को दगवाना तथा सेना के नियमों को लागू करना उसीकी जुम्मेदारी थी। वह राज की आज्ञाओं का पालन करवाने के प्रति भी उत्तरदायी था। वह सूबे के समस्त अधिकारियों के वेतन का हिसाब रखता था और यह देखता था कि युद्ध के समय अथवा वार्षिक निरीक्षण के समय प्रत्येक मनसबदार व जागीरदार उचित रूप में निश्चित सख्या प्रस्तुत करते हैं। बख्शी के प्रमाण-पत्र के आधार पर ही मनसबदार प्रान्तीय दीवान से वेतन प्राप्त करते थे। मनसबदारों को छुट्टी के लिए भी बख्शी को प्रार्थना-पत्र भेजना पड़ता था। बिना छुट्टी के अनुपस्थित रहने वाले मनसबदारों को बख्शी 'भगोड़ा' घोषित करता था तथा इस आधार पर वे दण्ड के भागी होते थे।[1]

मनसबदार की मृत्यु पर बख्शी उसकी जागीर को अपने कब्जे में कर लेता था तथा इसकी सूचना अपने उच्च अधिकारियों को दे देता था। मनसबदार का हिसाब साफ हो जाने पर राज्य के आदेशानुसार वह पुनः जागीर मनसबदार को दे देता था।

बख्शी प्रान्त में 'वाकियानवीस का भी काम करता था। इस आधार पर वह प्रत्येक पखवाड़े सम्राट को प्रान्त की सभी महत्वपूर्ण घटनाओं की सूचना देता था जिसमें मालगुजारी की वसूली, प्रान्त की शान्ति व्यवस्था, सैनिक व्यवस्था मुख्य थे। वह गुप्तचरों के द्वारा इस प्रकार की सूचनायें प्राप्त करता था। गुप्तचर अनेक प्रकार के थे। इनमें वाकियानिगार व खुफीयानवीस प्रमुख थे। पहले वाले गुप्तचर सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्ध में सूचना देते थे परन्तु अवसर इनको सूचनायें पूरी तरह नहीं नहीं होती थीं इसलिए दूसरे गुप्तचर सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त सभी घटनाओं की सूचना भेजने के लिए नियुक्त किए गये थे। सेना के लिए अलग गुप्तचर थे। इन गुप्तचरों के होते हुए यदि बख्शी किसी प्रकार की सूचना सम्राट से छिपाना भी चाहे तो वह असमर्थ था। सम्राट द्वारा बख्शी को दोषी पाने पर उसे दण्ड दिया जाता था। इस समानान्तर गुप्तचर व्यवस्था से प्रान्त के समस्त अधिकारी सतर्क रह कर कुशलता से कार्य करते थे। गुप्तचर विभाग की कार्य-कुशलता का वर्णन जहांगीर ने अपनी आत्मकथा में किया है। वह लाहौर के निकट एक आकस्मिक तूफान का वर्णन इन्हीं गुप्तचरों की सूचना के आधार पर करता है। विदेशी यात्री भी गुप्तचरों से अत्यधिक प्रभावित थे।

---

1. श्रीवास्तव, ए. एल.—वही, भाग 2, पृ 122.

• प्रान्त के अन्य अधिकारियों में सद्र प्रमुख था जिसकी नियुक्ति केन्द्र के सद्र-अस-सुदूर की संस्तुति से बादशाह करता था।[1] वह सद्र-अस सुदूर के अधीन कार्य करता था और अपने क्षेत्र में इस्लाम धर्म के हित के लिए उत्तरदायी था। इसके अन्तर्गत उसका प्रमुख काम धार्मिक, शैक्षणिक अनुदान तथा भूमि (मदद ए-माश तथा आयाम) अनुदानों को देना था। परन्तु अकबर ने उनके इस अधिकार पर काफी अंकुश लगा दिया था। प्रान्तीय सद्र अपने क्षेत्र के व्यक्तियों के वजीफे के लिए प्रमुख सद्र को सिफारिश भेजता था। औरंगजेब के समय में उसकी धार्मिक प्रवृत्ति के कारण ही प्रान्त के सद्र की शक्ति काफी बढ़ गई थी। कभी-कभी प्रान्तीय सद्र तथा काजी ए सूबा एक ही व्यक्ति को बना दिया जाता था, जिससे सद्र को न्यायिक अधिकार भी मिल जाते थे।

काजी ए सूबा की नियुक्ति बादशाह द्वारा काजी-उल कुजात की संस्तुति पर किया जाता था। वह दीवानी और फौजदारी दोनों ही प्रकार के मुकदमों को सुनता था। उसके सहायकों के रूप में मीर अब्दुल मुफ्ती काजी आदि थे। काजी-ए-सूबा मुसलमानों के वैवाहिक तथा सम्पत्ति सम्बन्धी मुकदमों का फैसला भी करता था।

मीर अदल नाम का अधिकारी पहली बार अकबर के समय में न्यायपालिका का अधिकारी था। उसका काम था कि वह न्यायालय में पहुँचे हुए सभी मुकदमों की जाँच पड़ताल करे और या तो वह स्वयं उनका निर्णय करे अन्यथा अपनी सिफारिशों के साथ काजी को भेज दे जिसके आधार पर फैसला किया जा सके।[2] इससे यह अनुभव होता है कि वह तथ्यों की छान-बीन करने वाला अधिकारी था जिसके आधार पर फैसले किये जाते थे।

बड़े-बड़े नगरों, प्रान्तीय राजधानियों में कोतवाल नाम का अधिकारी रहता था। आईन-ए-अकबरी में कोतवाल के कार्यों का वर्णन मिलता है।[3] वह मुख्यतया नगर की पुलिस का प्रधान था और नगर की व्यवस्था, सुरक्षा और शान्ति के अतिरिक्त राजाज्ञाओं का पालन करवाने के प्रति उत्तरदायी था। अबुल फजल ने लिखा है कि इस पद के लिए उपयुक्त व्यक्ति वही हो सकता है जो शक्तिशाली, क्रियाशील व विचारवान हो।

कोतवाल अपने कार्यों को पूरा करने के लिए समस्त नगर को अलग अलग भागों में विभाजित कर देता था और प्रत्येक के लिए एक अधिकारी नियुक्त करता था। यदि नगर में कोई फेरी होती तो वह यह देखता था कि नाविक यात्रियों से

---

1 श्रीवास्तव, ए० एल—अकबर द ग्रेट, भाग 2, पृ 124

2 वही

3 सरकार, जदुनाथ—मुगल एडमिनिस्ट्रेशन पृ 69

उचित किराया लेते हैं तथा सरकारी अधिकारी कोई राहदारी वसूल नहीं करते हैं। नगर की सूचनाओं के लिए वह अनजाने आदमियो को गुप्तचर के रूप मे नियुक्त करता था। मनुची ने औरगजेब के समय का वर्णन करते हुए लिखा है कि कोतवाल जासूसी के लिए महतरो का उपयोग करते थे जो दो बार सफाई के लिए घरो में जाते थे।[1]

कोतवाल नगर मे आने जाने वालो की जानकारी रखता था और उनके ठहराने की व्यवस्था करता था। वह भिन्न भिन्न वर्ग के व्यक्तियो की आय पर ध्यान रखता था। वह कसाईयो, शिकारियो, मेहतरो को अलग अलग भागो म बसाता था। नगर को चोरो आदि से सुरक्षित रखने के लिए वह रात को घोड़े पर गश्त लगाता था।

समय समय पर राज्य द्वारा दी गई आज्ञाओं को वह पालन करवाता था। आईन-ए-अकबरी के अनुसार उसे ऐसे आदेश निकालने की आज्ञा थी जिससे वह यह देख सके कि लोगो से निर्धारित कर के अतिरिक्त और कोई कर नहीं वसूल किया जाता है। बाजार का मूल्य नियन्त्रण करने, तौल-माप के बाटो का परीक्षण करने, पुरुषों-स्त्रियों के लिए अलग-अलग कुआ और घाटो की व्यवस्था करने का कार्य उसी का था। लावारिस मरे हुए व्यक्तियो की सम्पत्ति की समुचित व्यवस्था करना जिससे कि भविष्य मे उनके उत्तराधिकारियो को वे सम्पत्ति मिल जावे, उसी का काम था।

अकबर ने कोतवालो का आदेश दे रखा था कि वे अपनी सीमाओं में गुलामो का क्रय-विक्रय न होने दें और न ही किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध सती होने दिया जावे। वे अपने क्षेत्र मे घोड़ो, ऊटो, बैलो, भैसो का वध न होने दें।[2] औरगजेब के समय में कोतवाल का कर्तव्य था कि वह शराब का आसवन न होने दे, वैश्याओं को नगर में न रहने दे तथा शासन द्वारा निषेध कोई भी कार्य न होने दे।[3]

इन कार्यों के अतिरिक्त कोतवाल दण्डाधिकारी भी था। उसकी कचहरी को चबूतरा कहते थे। मनूची उसे सम्पूर्ण नगर का दण्डाधिकारी मानता है।[4] नगर क्षेत्र में पकड़े गये अपराधो को कोतवाल की कचहरी मे प्रस्तुत किया जाता था और वहाँ उसके अपराध के सम्बन्ध में प्रारम्भिक जाच पड़ताल करता था। शरीयत सम्बन्धी

---

1. मनूची—वही, भाग 2, पृ. 240–41.
2. श्रीवास्तव, ए. एल.—अकबर द ग्रेट भाग 2, पृ 125–26
3. सरकार, जदुनाथ—मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 70.
4. मनूची, निकोलो—स्टोरिया दो मोगोर भाग 2, 292. (इर्विन द्वारा अनुवादित)

अपराध होने पर उसे काजी की कचहरी में भेज दिया जाता था। यदि अपराध राजस्व सम्बन्धी होता तो अपराधी को सूबेदार या दीवान की अदालत में भेज दिया जाता था। ट्रेवनियर ने लिखा है कि "कोतवाल का दफ्तर एक प्रकार की चौकी थी जहाँ दडाधिकारी के रूप में वह स्थानीय विवादों पर निर्णय देता था।"[1] थेविनो ने भी लिखा है कि "फौजदारी के मुकदमें कोतवाल के न्यायाधीन थे।"[2] यदि किसी को उसके विरुद्ध शिकायत होती तो काजी की कचहरी में मुकदमा पेश हो सकता था। इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मुगल काल में नगर प्रधिकारियों में कोतवाल का महत्वपूर्ण स्थान था और क्योंकि उस काल में उच्च वर्ग नगरों में ही रहता था इसलिए कोतवाल का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता था।

मुगलों ने प्रान्तीय सूबेदार तथा उसके मन्त्रियों पर नियन्त्रण रखने के लिए अनेकों उपाय निकाल रखे थे। प्रथमत सूबेदारों को एक ही सूबे में अधिक समय तक नहीं रहने दिया जाता था और उनका तथा उनके मन्त्रियों का तबादला कर दिया जाता था। यदि शासक को यह जानकारी मिलती कि वे अयोग्य अथवा अत्याचारी है तो उन्हें तुरन्त ही वापस बुला लिया जाता था अथवा दन्डित किया जाता था। मानसिंह जैसा प्रभावशाली व्यक्ति भी काबुल से वापिस बुला लिया गया क्योंकि शासन को ये जानकारी मिली थी की वो तथा उसके सहयोगी राजपूत लोगों के साथ कठोरता का व्यवहार कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त राज्य में गुप्तचर विभाग का जाल बिछा हुआ था जिसमे कि सरकारी अधिकारी अपने कार्यों के प्रति सतर्क रहते थे।

बख्शी भी वाक्यानवीस की हैसियत से केन्द्र को प्रत्येक पखवाड़े सूबे की समस्त जानकारी देता था जिससे सूबे के अधिकारी सतर्क रहते थे। सूबे में द्वैध शासन भी था जो स्वयं अपने आप में उच्च अधिकारियों पर एक अंकुश था। इसके अतिरिक्त शासक की किसानों के प्रति सजगता और सरकारी दौरे भी अधिकारियों को नियन्त्रण में रखते थे। 1572 ई० में सम्राट अकबर के पंजाब के दौरे के समय के समय उसे लोगों से जानकारी मिली की शाहकुली महराम, सूबेदार, आततायियों को दण्डित नहीं कर रहा है जिससे न्याय का उचित प्रबन्ध नहीं है, अकबर ने उसे अत्यधिक फटकारा।[3] इसके अलावा मुगल शासक ऊंचे अधिकारियों को नियुक्त कर सूबों का निरीक्षण करवाते थे। अकबर ने 1573 ई० में आसफ खां को नियुक्त कर कश्मीर के प्रशासन, सैनिक व्यवस्था तथा वहाँ की जनता की कठिनाइयों का ब्यौरा

---

1. ट्रेवनियर—ट्रेवल्स, पृ. 92.
2. थेविनो—भाग 3, पृ 19-20.
3. अबुल फजल—आईन-ए-अकबरी भाग 3, पृ 247.

लिया। इसी प्रकार टोडरमल को बंगाल भेजा गया।[1] इन सबके अतिरिक्त शासकों द्वारा झरोखा दर्शन को अपनाने से, जो कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला था, राज्य का कोई भी नागरिक शासक से न्याय पाने हेतु अपनी कठिनाई सामने रख सकता था।

इस व्यवस्था के आधार पर हम यह परिणाम निकालते हैं कि केवल कुछ छुट-पुट मामलों को छोड़कर जहां कठोरता और अव्यवस्था रही होगी अधिकतर मुगल काल में शान्ति व्यवस्था बनी रही और लोग प्रसन्न व सन्तुष्ट रहे।

प्रत्येक सूबे को सरकार में, और सरकार को परगनों अथवा महलों में बांट रखा था। परगना राज्य के शासन की सबसे छोटी इकाई थी जिससे नीचे गांव की पंचायत होती थी। आईन-ए-अकबरी के अनुसार 1576 ई० में सरकारों की संख्या 105 व परगनों की संख्या 2737 थी परन्तु यह संख्या नये प्रदेशों को जीतने अथवा पुनर्व्यवस्था के आधार पर बदलती रहती थी।

मोरलैण्ड का यह कथन की सूबे को साधारण शासन की सुविधा के लिए सरकार के अतिरिक्त किन्हीं भागों में बांट रखा था उचित नहीं है। डा. शरण का मत है कि सूबे को ही सरकारों में बांटा गया था और उसके अधिकारियों में फौजदार तथा अमल गुजार प्रमुख थे।[2] शेरशाह के समय में सरकार के इन अधिकारियों को शिकदार-ए-शिकदारान व मुन्सिफ-ए-मुन्सिफान कहते थे। मुगल राज्य में फौजदार व अमल गुजार के अतिरिक्त काजी तथा कोतवाल होते थे जो न्याय और धार्मिक विभागों के अधिकारी थे। यहां यह जान लेना अधिक उपयुक्त होगा कि फौजदार को सरकार में कोई न्यायिक अधिकार न थे और इसलिए वह सरकार में गवर्नर का केवल शांति व्यवस्था बनाये रखने में ही प्रतिनिधित्व करता था।[3] न्यायिक अधिकार कोतवाल का क्षेत्र था और वह केवल सरकार के मुख्यालय का ही नहीं अपितु सरकार में समस्त कस्बों का भी अधिकारी था।

फौजदार का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था इसलिए सम्भवत: उसकी नियुक्ति फरमान-ए-सबती द्वारा होती रही होगी। साधारणतया यह एक उच्च मनसबदार होता था। सरकार में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना उसकी जुम्मेदारी थी। उसके आधीन एक सैनिक टुकड़ी रहती थी जो व्यवस्था को बनाये रखने व उपद्रवियों को दण्डित करने में उसकी सहायता करती थी। असाधारण स्थिति में वह सूबेदार से सहायता की प्रार्थना कर सकता था।

---

1 अब्दुल कादर बदायूंनी—मुन्तखब-उत-तवारीख, पृ. 365.
2 शरण, पी.—वही, पृ. 172–73.
3 शरण, पी.—वही, पृ. 175.

अपराध होने पर उसे काजी की कचहरी में भेज दिया जाता था। यदि अपराध राजस्व सम्बन्धी होता तो अपराधी को सूबेदार या दीवान की अदालत में भेज दिया जाता था। ट्रेवर्नियर ने लिखा है कि "कोतवाल का दफ्तर एक प्रकार की चौकी थी जहाँ दंडाधिकारी के रूप में वह स्थानीय विवादों पर निर्णय देता था।"[1] थेविनो ने भी लिखा है कि "फौजदारी के मुकदमें कोतवाल के न्यायाधीन थे।"[2] यदि किसी को उसके विरुद्ध शिकायत होती तो काजी की कचहरी में मुकदमा पेश हो सकता था। इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मुगल काल में नगर अधिकारियों में कोतवाल का महत्वपूर्ण स्थान था और क्योंकि उस काल में उच्च वर्ग नगरों में ही रहता था इसलिए कोतवाल का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता था।

मुगलों ने प्रान्तीय सूबेदार तथा उसके मन्त्रियों पर नियन्त्रण रखने के लिए अनेकों उपाय निकाल रखे थे। प्रथमतः सूबेदारों को एक ही सूबे में अधिक समय तक नहीं रहने दिया जाता था और उनका तथा उनके मन्त्रियों का तबादला कर दिया जाता था। यदि शासक को यह जानकारी मिलती कि वे अयोग्य अथवा अत्याचारी हैं तो उन्हें तुरन्त ही वापस बुला लिया जाता था अथवा दन्डित किया जाता था। मानसिंह जैसा प्रभावशाली व्यक्ति भी काबुल से वापिस बुला लिया गया क्योंकि शासन को ये जानकारी मिली थी की वो तथा उसके सहयोगी राजपूत लोगों के साथ कठोरता का व्यवहार कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त राज्य में गुप्तचर विभाग का जाल बिछा हुआ था जिसमें कि सरकारी अधिकारी अपने कार्यों के प्रति सतर्क रहते थे।

बख्शी भी वाकयानवीस की हैसियत से केन्द्र को प्रत्येक पखवाड़े सूबे की समस्त जानकारी देता था जिससे सूबे के अधिकारी सतर्क रहते थे। सूबे में द्वैध शासन भी था जो स्वयं अपने आप में उच्च अधिकारियों पर एक अंकुश था। इसके अतिरिक्त शासक की किसानों के प्रति सजगता और सरकारी दौरे भी अधिकारियों का नियन्त्रण [illegible] रखते थे। 1572 ई० में सम्राट अकबर के पंजाब के दौरे के समय के समय उसे लोगों से जानकारी मिली की शाहकुली महराम, सूबेदार, आतताइयों को दण्डित नहीं कर रहा है जिससे न्याय का उचित प्रबन्ध नहीं है, अकबर ने उसे अत्यधिक फटकारा।[3] इसके अलावा मुगल शासक उच्च अधिकारियों को नियुक्त कर सूबों का निरीक्षण करवाते थे। अकबर ने 1573 ई० में आसफ खां को नियुक्त कर कश्मीर के प्रशासन, सैनिक व्यवस्था तथा वहाँ की जनता की कठिनाइयों का ब्योरा

---

1 ट्रेवर्नियर—ट्रेवल्स, पृ 92
2 थेविनो—भाग 3 पृ 19–20
3. अबुल फजल—आईन ए अकबरी भाग 3 पृ 247

लिया। इसी प्रकार टोडरमल को बंगाल भेजा गया।[1] इन सबके अतिरिक्त शासकों द्वारा झरोखा दर्शन को प्रचलन से, जो कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला था, राज्य का कोई भी नागरिक शासक से न्याय पाने हेतु अपनी कठिनाई सामने रख सकता था।

इस व्यवस्था के आधार पर हम यह परिणाम निकालते हैं कि केवल कुछ छुट-पुट मामलों को छोड़कर जहां कठोरता और अव्यवस्था रही होगी अधिकतर मुगल काल में शान्ति व्यवस्था बनी रही और लोग प्रसन्न व सन्तुष्ट रहे।

प्रत्येक सूबे को सरकार में, और सरकार को परगना अथवा महलों में बांट रक्खा था। परगना राज्य के शासन की सबसे छोटी इकाई थी जिससे नीचे गांव की पंचायत होती थी। आईन-ए अकबरी के अनुसार 1576 ई० में सरकारों की संख्या 105 व परगनों की संख्या 2737 थी परन्तु यह संख्या नये प्रदेशों को जीतने अथवा पुर्नव्यवस्था के आधार पर बदलती रहती थी।

मोरलैंड का यह कथन की सूबे को साधारण शासन की सुविधा के लिए सरकार के अतिरिक्त किन्हीं भागों में बांट रक्खा था उचित नहीं है। डा शरण का मत है कि सूबे को ही सरकारों में बांटा गया था और उसके अधिकारियों में फौजदार तथा अमल गुजार प्रमुख थे।[2] शेरशाह के समय से सरकार के इन अधिकारियों को शिकदार-ए शिकदारान व मुंसिफ-ए मुंसिफान कहते थे। मुगल राज्य में फौजदार व अमल गुजार के अतिरिक्त काजी तथा कोतवाल होते थे जो न्याय और धार्मिक विभागों के अधिकारी थे। यहां यह जान लेना अधिक उपयुक्त होगा कि फौजदार को सरकार में कोई न्यायिक अधिकार न थे और इसलिए वह सरकार में गवर्नर का केवल शांति व्यवस्था बनाये रखने में ही प्रतिनिधित्व करता था।[3] न्यायिक अधिकार कोतवाल का क्षेत्र था और वह केवल सरकार के मुख्यालय का ही नहीं अपितु सरकार में समस्त कस्बों का भी अधिकारी था।

फौजदार का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था इसलिए सम्भवतः उसकी नियुक्ति फरमान एवं सनदों द्वारा होती रही होगी। साधारणतया वह एक उच्च मनसबदार होता था। सरकार में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना उसकी जुम्मेदारी थी। उसके आधीन एक सैनिक टुकड़ी रहती थी जो व्यवस्था को बनाये रखने व उपद्रवियों को दण्डित करने में उसकी सहायता करती थी। असाधारण स्थिति में वह सूबेदार से सहायता की प्रार्थना कर सकता था।

---

1 अब्दुल कादर बदायूनी—मुन्तखब उत-तवारीख, पृ 365
2 शरण, पी —वही, पृ 172–73
3 शरण, पी —वही, पृ 175

सरकार के फौजदारों के अतिरिक्त सीमाओं पर भी फौजदारों की नियुक्ति की जाती थी। यद्यपि यह जानकारी सम्भव नहीं है कि सीमाओं पर कितने फौजदार नियुक्त थे परन्तु समकालीन लेखकों के विवरण से इतना स्पष्ट है कि इन फौजदारों के अधीन अनेकों थाने थे। इनमें अटक के निकट का फौजदार, कांगड़ा, आसाम व बरेली के फौजदार प्रमुख थे।

इनकी प्रमुख जुम्मेदारी सीमाओं की निगरानी रखना व उपद्रवी व विद्रोही जमींदारों को दण्डित करना था। समय-असमय पर पहाड़ी जमींदारों द्वारा राज्य के प्रदेशों पर आक्रमण करने तथा उन्हें उजाड़ने के जो प्रयत्न किये जाते थे उनको दण्डित करना फौजदार का ही उत्तरदायित्व था। पहाड़ी जमींदारों से जिन्होंने की आधीनता स्वीकार कर ली थी उनसे वार्षिक खिराज वसूल करना और नये प्रदेशों को अधीन करना इन्हीं के कार्यक्षेत्र में आता था और क्योंकि खिराज बगैर जबरदस्ती के वसूल करना सम्भव न था इसलिए फौजदारों को इस आधार पर कार्य काफी करना पड़ता था।

सरकार के फौजदार का प्रमुख काम अपने क्षेत्र में शांति व्यवस्था बनाये रखना था। इसको ध्यान में रखते हुए सरकार को अनेक थानों में बांट दिया गया था और प्रत्येक थाने के लिए एक कोतवाल की नियुक्ति की गई थी। थाने का कोतवाल सरकार के कोतवाल के आधीन कार्य करता था। सरकार के कोतवाल की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती थी। आईन ए अकबरी में दिए गये आईन-ए कोतवाल से उसके कार्यों की जानकारी प्राप्त करना सहज है। इनको हम इन पांच भागों में बांट सकते हैं–(1) अपने क्षेत्र की निगरानी करना तथा शांति व्यवस्था बनाये रखना, (2) बाजार पर नियन्त्रण रखना (3) लावारिस सम्पत्ति की देखभाल करना तथा उसका बंद निपटारा करना, (4) लोगों के आचरण का ध्यान रखना तथा अपराधों को रोकना, (5) सामाजिक कुरीतियों जैसी सती आदि की रोकथाम करना तथा बूचड़खाने, श्मशान आदि की व्यवस्था बनाये रखना।[1]

सफलतापूर्वक अपने कार्यों को पूरा करने के लिए कोतवाल को ये आदेश थे कि लोगों की पहुँच उसके पास सरलता से हो जिससे कि बगैर किसी देरी के अत्याचारी को दण्डित किया जा सके। इसके लिए गुप्तचरों की नियुक्ति के अतिरिक्त उसे अपने क्षेत्र को विभिन्न मोहल्लों में बांट कर प्रत्येक के लिए एक मुखिया नियुक्त करने का आदेश दिया गया था जो कि अपने मोहल्ले की प्रत्येक अप्रिय घटना की सूचना उसे दे। वह अपने क्षेत्र में हुई प्रत्येक चोरी अथवा डकैती के लिए उत्तरदायी था और अगर वह अपराधियों को ढूंढने में असमर्थ होता तो उसे

1 शरण, पी —वही, पृ 216.

स्वयं नुकसान की पूर्ति करनी पड़ती थी।[1] विदेशी यात्रियों के वर्णन से स्पष्ट है कि कोतवाल इस प्रकार की चोरी अथवा डकैती के लिए उत्तरदायी था। थेविनो ने वर्णन किया है कि किस प्रकार से कोतवाल के सहायक रात में तीन बार अपने अपने मोहल्लों की गश्त लगाते थे।[2] बाजारों में नाप-तौल का ध्यान रखना तथा जबरदस्ती सती की जाने वाली स्त्री को बचाना, कन्या वध को रोकना तथा साल में निषेध महीनों अथवा दिनों में पशु-वध को रोकना उसके प्रमुख कार्य थे। इन सब कार्यों को पूरा करने के लिए उसे अपने अधीन सहायकों को नियुक्त करने की आज्ञा दी गई थी। सर जदुनाथ सरकार का मत है कि सारी जुम्मेदारियों के बाद भी इसमें कोई शंका नहीं है कि कोतवाल अपनी जुम्मेदारियों को पूरा करने में कोई कठिनाई अनुभव न करता था।[3]

सरकार के अन्य अधिकारियों में अमलगुजार काजी-ए-सरकार बितक्ची व कर्ज़ानदार प्रमुख थे। सरकार में दीवान-ए-सूबा का समकक्ष अमलगुजार था। यद्यपि उसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती थी परन्तु वह प्रान्तीय दीवान के अधीन काम करता था। खालसा, जागीरदारी व मदद-ए-माश की भूमि, सरकार में उसी के आधीन थीं। किसानों को खेती करने के लिए प्रोत्साहन देना, अधिक से अधिक भूमि को खेती योग्य बनाना, भूमि की पैमाइश करना और समय पर मालगुजारी वसूल करना उसी के कार्य थे। दूसरी ओर उसे बेईमान और उपद्रवी किसानों के साथ सख्ती का व्यवहार करने के निर्देश भी दे रखे थे। वह निश्चित समय के अन्दर मालगुजारी वसूल कर केन्द्र में भेजता था। साधारणतया उसके वेतन का चौथाई भाग बकाया मालगुजारी वसूल होने तक रोक लिया जाता था और जब वह उसे वसूल करके भेज देता था तो उसे बाकी वेतन दे दिया जाता था।

काजी-ए-सरकार की नियुक्ति काजी-ए-सूबा की संस्तुति पर सद्र-उस-सुदूर करता था। वह मुसलमानों के धर्म, उत्तराधिकार विवाह आदि से सम्बंधित मुकदमों का निर्णय इस्लामी कानून के अनुसार करता था। इस्लामी कानून की व्याख्या के लिए मुफ्ती उसका सहायक था। न्यायाधिकारी का कार्य करने के कारण उसे शरीअत-पनाह भी कहते थे।[4] वह इसके अतिरिक्त मस्जिदों की देखभाल भी करता था और जुम्मे (शुक्रवार) और ईद की नमाज का नेतृत्व भी करता था। औरंगजेब के समय में उसे जकात और जजिया वसूल करने के अधिकार भी दे दिये

---

1 मनूची—एन भाग दो पृष्ठ 421 (स्टोरिया डो मोगोर इरविन डब्ल्यू द्वारा अनुवादित)
2 थेविनो जे डे—भाग तीन पृ 20 (सेन एस एन द्वारा सम्पादित)
3 सरकार जे एन—मुगल एडमिनिस्ट्रेशन पृ 68–69
4 बशीर ए—एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस इन मेडिवल इंडिया, पृ 156

गये थे ।[1] राज्य की ओर से सरकार को जो भूमि धार्मिक कार्यों के लिए दी जाती उसके वितरण की जुम्मेदारी भी उसी की थी ।

बितकची मुगल काल में भूमि सम्बन्धी आंकड़े रखता था । प्रत्येक गाव की अनुमानित मालगुजारी, प्रत्येक किसान द्वारा देय रकम व किसान की भूमि का विवरण वही रखता था । उसी के द्वारा तैयार किए हुए आंकड़ों के आधार पर अमलगुजार मालगुजारी वसूल करता था । किसानों पर बकाया रकम का लेखा-जोखा भी वही तैयार करता था जिसकी एक प्रति अमलगुजार को तथा दूसरी दरबार को प्रेषित करता था । अपने क्षेत्र को वह उसी स्थिति में ही छोड़ता था जबकि अमलगुजार उसके कार्य से पूर्ण सन्तुष्ट हो जावे ।

सरकार के कोष के अधिकारी को खजानदार कहते थे । वह किसानों से लगान वसूल कर उसकी रसीद उनको देता था तथा रोज के हिसाब का मिलान कर अमलगुजार के दस्तखत करवाता था । बिना प्रान्तीय दीवान की आज्ञा के वह कोई बड़ी रकम का भुगतान नहीं कर सकता था । खजाने पर अमलगुजार व खजानदार दोनों के ताले लगते थे जिससे कि दोनों की सहमति के बगैर खजाने से धन नहीं निकाला जा सके ।

इस प्रकार से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मुगल काल में प्रान्तीय व स्थानीय शासन की व्यवस्था पूरी तरह उचित थी और मुगल शासकों को ये श्रेय था कि वे इस व्यवस्था को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने में सफल हुए ।

---

1. वही, पृ. 154

7

भू-राजस्व

(1206–1556 ई०)

समस्त मुस्लिम स्मृतिज्ञों (Jurists) के राजस्व सम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार-भूत स्रोत यद्यपि एक ही है परन्तु फिर भी कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर इनके सिद्धान्त एक दूसरे से भिन्न हैं। भारत में समस्त मुस्लिम काल में हनाफी विचारधारा ही प्रबल रही और इसी के सिद्धान्त राज्य की नीति निर्धारित करने के आधार बने रहे।

मुस्लिम स्मृतिज्ञों ने सरकार की आय के दो प्रमुख साधन माने हैं—(1) धार्मिक (2) लौकिक। धार्मिक कर को जकात की संज्ञा दी गई है जो सम्पत्ति का 40वां भाग होता था। धार्मिक करों के अतिरिक्त खिराज, जजिया व खम्स कर प्रमुख थे। खिराज भू-राजस्व था जिसका अर्थ किसी भूमि के टुकड़े से कर वसूल करना था। खिराज को दो भागों में बांटा गया है—(1) अनुपातिक (2) स्थिर। अनुपातिक का अर्थ था किसी भूमि से उपज का $\frac{1}{3}$, $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{5}$ भाग। स्थिर खिराज इसके विपरित किसी भूमि के प्रति एकड़ या प्रति वृक्ष पर निश्चित कर लेने की व्यवस्था को कहते थे। इसका अर्थ था कि कर निर्धारण की दो पद्धतियाँ थीं जिसके अन्तर्गत कर या तो उपज के अनुपात में अथवा जोती हुई भूमि की नाप के आधार पर लिया जाता था। जरीब के द्वारा नाप की पद्धति से जोती गई भूमि का क्षेत्रफल की जानकारी कर ली जाती थी और भूमि की प्रकृति का अनुमान मुख्यतः तीन आधारों पर निश्चित कर लिया जाता था—प्रथम वह भूमि जो तुलनात्मक आधार पर कम अथवा अधिक उपज देती थी, द्वितीय की भूमि पर कौन सी फसल बोई जाती है क्योंकि प्रत्येक बोई हुई फसल का मूल्य एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होता था, और तृतीय कि भूमि प्राकृतिक अथवा कृत्रिम सिंचाई पर निर्भर है। नकद कर देने की स्थिति में इस पर भी ध्यान दिया जाता था कि भूमि तथा शहर अथवा बाजार के बीच कितनी दूरी है क्योंकि ऐसी स्थिति में किसान को भू-राजस्व देने के लिए अपनी उपज को बाजार अथवा शहर में बेचना आवश्यक था। कोई व्यक्ति चाहे वो स्त्री हो अथवा पुरुष, व्यस्क अथवा अव्यस्क, दास अथवा स्वतन्त्र व्यक्ति, हिन्दू

हिंदू सरदारों को दबाने में व्यस्त रहने के साथ ही युद्ध-अभियानों में अधिक लगा हुआ था इसलिए वो भू राजस्व व्यवस्था में किसी प्रकार के सुधार करने में असमर्थ था। बलबन के समय की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए हम यह परिणाम निकाल सकते है कि इल्तुतमिश ने अपने सैनिकों और अमीरों उनके वतन के बदले में कुछ भू प्रदेश बाटे थे जिनको इक्ता की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था।

बलबन जो 13वीं शताब्दी में अधिकतर समय में सुल्तान रहा उसे मंगोल आक्रमणों की समस्या का सामना करना पड़ा जिसके कारण उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपनी सैनिक शक्ति को दृढ़ करे तथा अपनी विजय-नीति को त्यागे। इस आधार खम्स से प्राप्त आय पूरी तरह समाप्त हो गयी और दूसरी ओर सेना का खर्च अत्यधिक बढ़ गया। बलबन ने स्वयं कहा था कि, "मैंने अपना समस्त राजस्व सेना को शक्तिशाली बनाने तथा उनको शस्त्रों से सुसज्जित करने में खर्च कर दिया है और मेरी सेना सदैव मंगोलों का सामना करने के लिए तत्पर है।"[1] बलबन ने इसलिए समस्त राजस्व व्यवस्था का सर्वेक्षण किया और देखा कि इक्तादारों में अत्यधिक भ्रष्टाचार व्याप्त है। विशेषकर दो आब में इक्ता का अधिकार वंशानुगत हो गया है और मूल इक्ता दारों की मृत्यु पर उनकी विधवायों और कभी कभी दासों ने इन इक्ताओं को अपने अधिकार में ले लिया हैं और राज्य की किसी प्रकार की सेवा अथवा सैनिक सेवा किये बगैर वे राजस्व का उपभोग कर रहे हैं यह स्पष्टतः इनाम कानूनों के विरुद्ध था तथा राज्य के लिए अहितकर था। बलबन ने इसलिए उनकी जानकारी कर ऐसे इक्ताओं को जिनके स्वामी मर चुके थे अथवा सैनिक सेवा के लिए अयोग्य हो गये थे उन्हें खालसा भूमि में मिलाने का प्रयास किया। बलबन विधवाओं और अनाथों का इक्ताओं के बदले में उनकी आवश्यकताओं के लिए कुछ धन देने को तत्पर था। साथ ही वह उन इक्ताओं को खालसा भूमि में मिलाना नहीं चाहता था जिनके इक्तादार सैनिक सेवा के योग्य हो। परन्तु बलबन के इस सुधार का विरोध इस आधार पर किया गया कि इक्तादारों को इक्ता इनाम के रूप में दिये गये थे और उनसे इनको वापिस लेना उनके सर्वनाश को आमन्त्रित करना था। बलबन दिल्ली के कोतवाल फकरूद्दीन की प्रार्थना पर कोई सक्रिय परिवर्तन करने में असमर्थ रहा परन्तु जैसा कि डा त्रिपाठी का मत है कि 'सुल्तान का ये रवैया दूसरे इक्तादारों के लिए एक चेतावनी सिद्ध हुई और सम्भवतः कुछ समय के लिए इक्ता के वंशानुगत होने की नीति पर रोक लगा दी।' इस प्रयास में असफल होने पर बलबन ने शासन को दृढ़ करने के लिए आय की राशि और उसके स्रोतों पर कठोर नियन्त्रण रखने की नीति अपनाई। उसने ऐसे अधिकारियों का निकाल

1 इलियट एण्ड डाउसन भाग 3 पृष्ठ 102

दिया जिन पर उसे विश्वास न था और उनके स्थान पर विश्वासपात्र और स्वामि-भक्त सेवकों की नियुक्ति की। इल्तुतमिश के उदाहरण को सामने रखकर उसने राज्य के प्रमुख प्रान्त को अपने पुत्रों के आधीन रक्खा। इस प्रकार मुल्तान समाना, अवध और बंगाल के प्रदेश उसके अपने पुत्रों के आधीन थे। इसके अतिरिक्त उसने प्रमुख इक्ताओं में 'ख्वाजा' नाम के अधिकारी की नियुक्ति की ख्वाजा वजीर की सिफारिश पर सुल्तान के द्वारा नियुक्त किये जाते थे। वे इस प्रकार से केन्द्रिय सरकार के प्रति उत्तरदायी थे और मुक्ति के कार्यों पर अंकुश का कार्य करते थे। यद्यपि मुक्ति इक्ता का प्रमुख अधिकारी था और 'ख्वाजा' उसके आधीन था परन्तु क्योंकि वह केन्द्रिय सरकार के प्रति उत्तरदायी था। इसलिए वो मुक्ति की मनमानी पर रोक लगाने में समर्थ था। इस तरह से बलबन ने बड़े ही सीमित रूप में इक्ताओं में द्वैध शासन लागू किया था।

ख्वाजा तथा मुक्ति में किसी प्रकार से ऐक्य को रोकने के लिए बलबन ने गुप्तचरों की नियुक्ति भी की जो सदैव ही घूम-घूमकर वित विभाग अथवा मुल्तान को सूचनायें पहुँचाते रहते थे।

इक्ताओं के अतिरिक्त 'खत्त' तथा 'कस्बा' नाम के छोटे भाग भी थे जिनमें कारकून, मुतसर्फ, चौधरी या मुकद्दम नाम के अधिकारी थे। मुतसर्फ व कारकून राजस्व तथा दफ्तर के काम से सम्बन्धित अधिकारी थे और ऐसा अनुभव होता है कि वे प्रत्यक्ष रूप से किसानों के सम्पर्क में नहीं थे। चौधरी तथा मुकद्दमों के माध्यम से वो किसानों से सम्पर्क रखते थे।

भूमि कर आंकने के लिए बलबन के सम्मुख तीन पद्धतियां थीं—(1) नपाई (2) बटाई और (3) कनकूतिया। हमें यह निश्चित रूप से जानकारी है कि अलाउद्दीन के पहले भूमि को नपवाने का प्रयास नहीं किया गया।[1] इसलिए बलबन के समय में इस आधार पर लगान निर्धारित करना सम्भव नहीं था। हमें यह भी जानकारी है सल्तनत काल में 'इक्ता' साधारण रूप से विद्यमान थे और इसके अधिकारियों को मुक्ति कहते थे। मोरलैंड के अनुसार इक्ता भूमि का वह टुकड़ा था जो सैनिक सेवा के लिए दिया गया हो।[2] मोरलैंड इक्ता को एक ऐसी भूमि का टुकड़ा भी स्वीकार करते हैं जो लगान के सम्पर्ण(जमोग Assignment)में दिया गया है।[3] दोनों ही परिभाषाओं को एक साथ पढ़ने से हम यह परिणाम निकालते हैं कि इक्ता भूमि काऐसा टुकड़ा था जिसका राजस्व प्राप्तकर्त्ता के वेतन के बराबर होता था। इसके

1 त्रिपाठी, आर —पृ. 261
2 मोरलैंड डब्ल्यू एच —दी ऐग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इण्डिया पृ 27
3 वही, पृ 273.

अधिकार को स्थापित किया।"[1] क्योंकि इस प्रकार की भूमि केवल मुसलमानों के पास ही थी। इसीलिए उनका इस नीति से प्रभावित होना स्वाभाविक है परन्तु बर्नी का यह कथन भी उनकी स्थिति दयनीय हो गई थी केवल मात्र अतिशयोक्ती ही लगती है। इस सुधार से राज्य की खालसा-भूमि में निश्चित ही वृद्धि हुई और साथ ही भूमि अब उचित व्यक्तियों के अधिकार में रही जिनके लिए सुल्तान के प्रति स्वामी भक्त रहना आवश्यक शर्त बन गई और साथ ही साथ एक नव वर्ग का निर्माण कर अनुपातिक पुराने सरदारों का प्रभाव क्षीण हो गया।

तत्पश्चात् अलाउद्दीन का ध्यान हिन्दू जमींदारों की शक्ति को, जिन्होंने राज्य की भूमि को एक निश्चित राशि देने का वचन देकर प्राप्त की थी, उनकी ओर आकृष्ट हुआ। ये वो वर्ग था जो सरकार और कृषकों के बीच में राजस्व एकत्रित करने में मध्यस्त अथवा पञ्च थे अथवा स्वयं कृषक थे। सल्तनत कालीन भारत में इन्हें खूत, मुकद्दम, चौधरी आदि संज्ञाओं से सबोधित किया है। ये अधिकारी सरकार के लिए राजस्व एकत्रित करते थे जिसके बदले में उन्हें विशेष सुविधायें प्राप्त थीं। एकत्रित की हुई राशि में से यथाविधि धन लेने के पश्चात् भी उन्हें राज्य से भूमि व चरागाह भी दिये गये थे। क्योंकि इन अधिकारियों की नियुक्ति वंशानुगत थी तथा वे ही भूमि के सम्बन्ध में गूढ़ जानकारी रखते थे इसलिए अपनी इन विशेषताओं का लाभ उठाकर तथा अपने व्यक्तिगत प्रभाव व शक्तिहीन केन्द्र का लाभ उठाकर वे अधिक से अधिक धन अवैध रूप से अधिकार में कर लेते थे और इस प्रकार व्यक्तिगत लाभ के आधार पर राज्य को हानि थी। वे राज्य को खराज, जजिया, करी व चराई आदि कर देना भी टाल देते थे और इसलिए उनकी स्थिति सम्पन्न थी। बर्नी ने लिखा है कि, "वे अच्छे घोड़ों पर सवार होते थे, अच्छे वस्त्र पहनते थे, ईरानी धनुषों का प्रयोग करते थे, शिकार करने तथा आपस में युद्ध करते थे और शराब की तथा उत्सव-सम्बन्धी दावतें करते थे[2]" अलाउद्दीन ऐसी स्थिति को सहन करने के लिए तत्पर नहीं था और विशेषकर ऐसी स्थिति में जब उसने बगैर किसी हिचकिचाहट के मुसलमानों के अधिकारों को रद्द कर दिया था तो कोई कारण नहीं था कि वो हिन्दुओं को किसी प्रकार की विशेष सुविधायें दे। राजस्व में कमी के साथ ही हिन्दुओं के आपस के झगड़े राजनैतिक अव्यवस्था के लिए भी उत्तरदायी थे। आर्थिक व राजनैतिक कारणों के आधार पर अलाउद्दीन ने समस्त खूत, मुकद्दम और हिन्दू लगान अधिकारियों के विशेषाधिकारों को तथा खराज कर देने में जो सुविधाओं को वे अनुचित रूप से उपभोग करते चले आ रहे थे उन्हें समाप्त कर दिया। इस प्रकार से हिन्दू तथा मुसलमान अनुपातिक उपभोग के रूप में इस भू-राजस्व सुधार से

1. त्रिपाठी डॉ. आर पी —सम आस्पेक्टस ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन पृष्ठ 256.
2. बर्नी, जियाउद्दीन—तारीख-ए-फिरोजशाही पृष्ठ 291.

प्रभावित हुए। क्योंकि अधिकतर हिन्दू ही इस प्रकार की सुविधाओं का उपभोग करते चले आ रहे थे इसलिए उनकी स्थिति अधिक दयनीय हो जाना स्वाभाविक था। सर वूल्जले हेग ने ठीक ही लिखा है कि, "सम्पूर्ण राज्य में हिन्दुओं को निर्धनता तथा पीडा के निम्नतर स्तर पर पहुँचा दिया और यदि कोई एक वर्ग अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक दयनीय स्थिति में था तो वह पैतृक आधार पर निर्धारित करने और उसे वसूल करने वाले पदाधिकारियों का था जो पहले सबसे अधिक सम्मानित थे।" हिन्दुओं की सम्पन्नता नष्ट हो गई परन्तु फिर भी बरनी का यह कथन कि, "निर्धनता के कारण धन कमाने के लिए खूतो और मुकद्दमों की स्त्रियाँ मुसलमानों के घरों में कार्य करने जाने लगी" ठीक नही लगता है।

अलाउद्दीन ने न तो इक्ता' और न ही 'कोठी' पद्धति को समाप्त किया और न ही इनको समाप्त करके किसी दूसरी पद्धति को लागू करने की सम्भावना ही थी खूत आदि अपने अनुपातिक धन को पहले ही समान प्राप्त करते रहे परन्तु इसके पश्चात् वे साधारण किसानों की तरह अतिरिक्त कर देने के लिए बाध्य कर दिये गये।

अलाउद्दीन ने अपने समय में अनेकों करों को समाप्त कर दिया और इसलिए राजस्व में कमी हुई होगी। एक ओर राजस्व प्राप्ति में कमी और दूसरी ओर राज्य की बढती हुई सैनिक-व्यय की मांगों ने अलाउद्दीन को भूमि कर बढाने के लिए न केवल प्रोत्साहित किया अपितु प्रेरित भी किया। उसने पैदावार का आधा भाग कर के रूप में वसूल करना आरम्भ किया। पिछले सुल्तानों के समय में भूमि कर कितना था इसकी प्रमाणिकता प्राप्त नही होती। अनुमान के आधार पर यह उपज का $\frac{1}{3}$ भाग होती थी। अलाउद्दीन ने शरियत द्वारा निर्धारित सीमा के आधार पर इसे $\frac{1}{2}$ कर दिया जो कि समस्त पहले सुल्तानों से अधिक था। इसका औचित्य सम्भवत. इसी में था कि समय की यही माग थी और शासन के अनुरूप थी।

भू-राजस्व के क्षेत्र में अलाउद्दीन दिल्ली सल्तनत का प्रथम शासक था जिसने पैमाइश (नाप) के आधार पर कर-निर्धारित करने की नीति को लागू किया।[1] यद्यपि निश्चित रूप से यह पद्धति दक्षिणी भारत में प्रचलित थी परन्तु उत्तरी भारत के सम्बन्ध में समुचित जानकारी नहीं है। कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर जलालुद्दीन खलजी तक के शासकों ने इस क्षेत्र में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया था और आमील, कारकुन आदि कर्मचारियों की सहायता से राजस्व वसूल किया जाता था। अलाउद्दीन ने 'विस्वा' को इकाई मान कर भूमि कर वसूल करना आरम्भ किया। परन्तु यह

1. लाल, डॉ. के. एस —खलजी वंश का इतिहास पृष्ठ 179.
त्रिपाठी, डॉ आर. पी.—सम आस्पेक्टस ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन पृष्ठ 261.

मानना कि यह व्यवस्था सम्पूर्ण राज्य पर लागू की गई थी उचित नही है। भूमि को नाप कर किसानो से सरकारी कर्मचारियो द्वारा लगान वसूल करने की व्यवस्था दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रो मे ही लागू की गयी थी। निचला दोआब, अवध गोरखपुर, बिहार, बगाल, मालवा पश्चिमी पजाब गुजरात और सिंध इस व्यवस्था मे सम्मिलित नही थे। जिन प्रदेशो पर यह व्यवस्था लागू की गई वहा पर सरकार जमीदारो, कृषको व कर उगाहने वालो की कार्यवाहियो पर अकुश लगाने मे समर्थ रही।

पूर्व प्रचलित राजस्व व्यवस्था में यह एक दोष था कि कृषको पर राजस्व का बकाया धन काफी मात्रा मे रह जाता था। क्योंकि इस समय तक राजस्व व्यवस्था का स्वरूप समुचित रूप से निश्चित नही था इसलिए इस प्रकार का बकाया रह जाना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय शासन के निम्नतम अधिकारियो में घूस व बेईमानी अधिक मात्रा मे फैली हुई थी जिससे राजस्व वसूल करना और अधिक दुश्वार कार्य हो गया था। अलाउद्दीन न अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत इन कमियो को दूर करने के लिए एक अलग विभाग 'दीवान-ए-मुसतखराज' स्थापित किया और आमिल, मुशरिफ, मुहस्सिल, गुमाश्ता, नवसिन्दा और सरहग नाम के पदाधिकारियों की नियुक्ति की। भू-राजस्व विभाग मे रिश्वत व बेईमानी को समाप्त करने के लिए पहले तो उसने लगान अधिकारियो के वेतन में वृद्धि की जिससे कि वे समुचित रूप से जीवन-यापन कर सकें परन्तु जब इनसे कोई लाभ न हुआ तो उसने उनको कठोरतम दण्ड भी देने प्रारम्भ किये। बरनी ने लिखा है कि, "पाँच सौ अथवा एक हजार टका के लिए लगान अधिकारी को वर्षों तक जेल मे रहना पडता था और कोई अधिकारी किसी से भी एक टक रिश्वत के रूप मे लेने का साहस नही कर सकता था। प्रजा भी इतनी भयभीत हो गई थी कि एक साधारण लगान अधिकारी बारह खुत और चौधरियो को पीटकर उनसे लगान वसूल कर सकता था। साधारण व्यक्ति लगान-अधिकारियो से इतनी घृणा करते थे कि कोई भी व्यक्ति अपनी पुत्री का विवाह उनसे करने को तैयार नही था।"[1] अलाउद्दीन की इस नीति से रिश्वत और बेईमानी काफी सीमा तक रुक गई जिससे प्रत्यक्ष रूप से सरकारी कोष की आय बढ गई।[2]

अलाउद्दीन ने पटवारियो के पत्रो (वही) को भी देखा जिससे कि वह यह जानकारी प्राप्त कर एकत्रित करने वाले अधिकारी के क्षेत्र मे कितनी भूमि है। अलाउद्दीन यह मानता था कि पटवारियो के लेखे ही समुचित रूप से भूमि तथा उससे प्राप्त राजस्व की सही जानकारी दे सकते हैं।

1 बरनी—पृष्ठ 296
2 बरनी—पृष्ठ 287, 289, 292.

कर-वसूली के सम्बन्ध में अलाउद्दीन नकद कर लेने के लिए इच्छुक नहीं था। अलाउद्दीन ने बाजार-नियन्त्रण की व्यवस्था की थी और इसकी सफलता के लिए आवश्यक था कि कृषक भूमि कर उपज के रूप में दें इसीलिए वह इसका समर्थक था। उसने आदेश निकाले कि दो आब में स्थित समस्त खालसा भूमि का लगान उपज के रूप में वसूल किया जावे तथा शहर-ए-नूर और उसके समीपवर्ती प्रदेशों से लगान का आधा भाग उपज के रूप में ही वसूल किया जावे[1] परन्तु डा. आर. एन. त्रिपाठी का मत है कि दो आब व शहर-ए-नूर में स्थित समस्त खालसा भूमि से भूमि कर उपज के रूप में ही वसूल किया जावे।

अलाउद्दीन ने भूमि कर के अतिरिक्त 'आवास-कर' व 'चराई-कर' भी लगाये। बरनी का कहना है कि सुल्तान ने समस्त दुधारू पशुओं पर चराई कर लगाया था परन्तु फरिश्ता के अनुसार दो जोड़ी बैल, एक जोड़ी भैंस, दो गायें तथा दस बकरियाँ कर से मुक्त थे।[2] चराई-कर लगाने से मास के भावों में समाचित वृद्धि हुई होगी और अलाउद्दीन ने इसलिए पशुओं पर लगने वाले कर को रद्द कर दिया। इस रद्दिकरण का वन मुसलमान नागरिकों ने स्वागत किया जो व्यापार आदि के लिए अनेकों पशु पालते थे और इस कारण इस से थोड़ी सुविधा प्राप्त कर सके। चराई-कर की अपेक्षा पशु-कर को रद्द करने का सम्भवतः यह कारण था कि अलाउद्दीन इस आधार पर कृषि योग्य भूमि को चरागाह के रूप में परिवर्तित होने से बचा सकता था। यह बेईमान खूत और मुकद्दम आदि किया करते थे और इस प्रकार भूमि-कर देने से बच जाया करते थे और अलाउद्दीन इस बेईमानी को रोककर राज्य की भूमि से प्राप्त आय को बढ़ाना चाहता था।

अलाउद्दीन की इस भूमि-व्यवस्था की बरनी ने कठोर आलोचना की है। कृषक, जमींदार इससे प्रभावित हुए। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहाँ भूमि-कर ही राज्य की आय का प्रमुख साधन था, उस कर में बढ़ोतरी स्वाभाविक रूप से कृषकों व जमीदारों को प्रभावित करती। परन्तु बरनी का यह कहना कि इस भू-राजस्व की बढ़ोतरी कर वह हिन्दुओं की कमर तोड़ना चाहता था केवल एक अतिशयोक्ति है। समस्त वर्गों पर ही इस बढ़े हुए भू-राजस्व का प्रभाव पड़ा और क्योंकि कृषक व जमींदार अधिकतर हिन्दू ही थे इसलिए इस वर्ग पर इसका कुप्रभाव अधिक पड़ना एक साधारण परिणाम ही था। इसके अतिरिक्त क्योंकि खूत और मुकद्दम हिन्दू ही थे इसलिए उनकी स्थिति भी दयनीय हो जाना स्वाभाविक थी। परन्तु भू-

1. बरनी पृष्ठ 305-306।
   त्रिपाठी, आर. एन.—पृष्ठ 263.
2. फरिश्ता तारीख-ए-फरिश्ता पृष्ठ 109.

राजस्व को बढ़ाना भी आवश्यक था क्योंकि आन्तरिक विद्रोहो और बाहरी आक्रमणो को रोकने के लिए अथवा सुरक्षा के लिए प्रत्येक वर्ग को यह मूल्य चुकाना अवश्यम्भावी था। इसके विपरित यह भी मत कुछ अंशो तक स्वीकार किया जाता है कि इन करो में बढ़ोतरी के पश्चात् भी कृषको की भौतिक स्थिति पर कोई प्रभाव न पड़ा क्योकि इसके बाद भी न तो कृषक की भूमि छोड़कर भागे और न ही कर-बढ़ोतरी के विरुद्ध कोई विद्रोह ही हुये। अप्रत्यक्ष रूप से कृषक कुछ सीमा तक इस आधार पर सन्तुष्ट थे कि उन पर अत्याचार करने वाले खूत और मुकद्दमो की स्थिति और अधिक दयनीय हो गई है। परन्तु यह सन्तुष्टि केवल मनोवैज्ञानिक है और उसका स्थायी रूप से बने रहना सम्भव नही। कृषक जो भूमि कर के रूप मे अपनी उपज का पचास प्रतिशत कर के रूप में देते थे और उसके पश्चात् भी उन्हें अनेको कर देने पडते थे ऐसी स्थिति मे उनके पास भरण पोषण के लिए नाम-मात्र का ही धन बचता होगा। ऐसी स्थिति में भौतिक कठिनाइयो को अनुभव करते हुए मनो-वैज्ञानिक आधार पर सन्तुष्ट रहना अधिक समय के लिए सम्भव नही था। अत यह मानना अधिक ठीक है कि बढी हुई कर व्यवस्था जन-साधारण के हित में नही थी और उससे स्थायी लाभ प्राप्त न हो सके। डा. ताराचन्द का मत अधिक न्याय-सगत है कि यह यदि आत्मघातक सिद्ध हुई क्योकि इसने सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी को ही मार दिया। इसने उत्पादन-वृद्धि और कृषि मे सुधार के लिए कोई प्रोत्साहन नही छोडा। सम्भवत अलाउद्दीन के कठोर नियम उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गये क्योकि इन नियमो मे जनता की सहानुभूति न थी और न ही इनमे उनको सम्पन्न रखने के गुण थे। इसलिए अलाउद्दीन की भू राजस्व व्यवस्था यद्यपि उसके राज्य काल मे उसके उद्देश्यो को पूरा करने मे समर्थ रही परन्तु वह स्थायी न रह सकी।

गयासुद्दीन तुगलक के राज्याभिषेक के पहले भू-राजस्व की ओर कोई ध्यान न दिया गया। उसने समय और परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर यह उचित न समझा कि वह मुबारक शाह की नीति मे कोई आमूल चूल परिवर्तन करे। क्योकि उसने राज्य सैनिको की सहायता से ही प्राप्त किया था इसलिए आवश्यक था कि वह सैनिको और सामन्तो को प्रसन्न रक्खे। ऐसा न करने पर पुन विद्रोह और अशान्ति फैलने की सभावना थी। इसलिए उसने पुन उन्हे इक्ता प्रदान किये तथा राजस्व वसूल करने मे भी अनुग्रह दिखाया। उसने अलाउद्दीन के द्वारा सुरक्षित रक्खे हुए प्रदेश मे भी इक्ता प्रदान कर दिये। सम्भवत यह भी हो सकता है कि गयासुद्दीन प्रमुखत एक सैनिक था वह अलाउद्दीन की कठोर नीति की अपेक्षा सयम तथा किफायत की नीति का पोषक था।

इस साधारण नीति के पालन मे तथा सार्वजनिक सहानुभूति प्राप्त करने हेतु उसने अलाउद्दीन की नीति मे महत्वपूर्ण परिवर्तन किय। अलाउद्दीन की नीति का

सबसे बड़ा दोष था कि वह बगैर किसी consideration के नियमित व निश्चित राजस्व एकत्रित करने पर बल देता था। गयासुद्दीन ने इस नीति को पक्षपात-पूर्ण माना और उन्हें ये आदेश दिया कि फसलो के आकस्मिक खराब हो जाने अथवा कोई प्राकृतिक प्रकोप की स्थिति मे उचित छूट देना उचित है। गयासुद्दीन के इस न्यायोचित कदम से एक ओर तो वह कीर्ति का भागी हुआ तथा राज्य को प्राप्त होने वाले भू राजस्व मे न्यनतम अप्राप्य धन की सम्भावना को कम से कम कर दिया। डा. आर. एस. त्रिपाठी का मत है कि गयासुद्दीन की यह नीति ने सल्तनत-कालीन भू राजस्व नीति को उपयोगिता के उस उच्चतम शिखर तक पहुँचा दिया जो कि सूर अथवा मुगल वंश मे भी प्राप्त न हो सकी। यदि गयासुद्दीन ने पुनः इक्ता प्रणाली न प्रारम्भ की होती अथवा मुक्ताओ के प्रति शिथिलता अथवा उदासीनता न दिखाई होती और नाप की पद्धति को अपनाया होता तो सम्भवतः उसकी नीति सर्वश्रेष्ठ होती। परन्तु इन कमियो के होते हुए भी उसकी नीति राजकीय राजस्व नीति की दिशा में एक महत्वपूर्ण योगदान था।

गयासुद्दीन भी भू-राजस्व को बढ़ाने की आवश्यकता को अनुभव करता था परन्तु इस दिशा मे वह उत्तरोत्तर बढोत्तरी के पक्ष मे था परन्तु इसका ये अर्थ नही कि उसने भू-राजस्व के रूप मे मूल उपज का केवल $\frac{1}{10}$ अथवा $\frac{1}{11}$ भाग लेना ही स्वीकार किया। एक ऐसा सुल्तान जिसको परिस्थितिवश एक विशाल सेना का पालन आवश्यक हो तथा साथ ही साथ राज्य के सैनिक अमीरो को भी सन्तुष्ट रखना एक आवश्यक शर्त हो वो इस प्रकार भू-राजस्व की दर को इतनी कम कर केवल पतन को ही आमन्त्रित कर सकता है। यह अधिक सम्भव हो सकता है कि उसने ये आदेश दिये हो कि किसी एक वर्ष मे एक इक्ता के राजस्व में $\frac{1}{10}$ या $\frac{1}{11}$ प्रतिशत से अधिक वृद्धि न हो। यह सम्भावना इसलिए और अधिक मान्य दिखती है कि उसकी नीति भू-राजस्व मे उत्तरोत्तर बढ़ोत्तरी की थी न कि अत्यानुपिक बढोत्तरी की। इसके अतिरिक्त गयासुद्दीन के समय मे भू राजस्व व्यवस्था इक्ता पद्धति पर आधारित थी और साधारण रूप से प्रत्येक मुक्ति अपने इक्ता पर एकदम बढोत्तरी की नीति का समर्थक नही हो सकता था क्योकि ऐसी स्थिति म उसकी आय बढोत्तरी के अनुपात मे कम हो जाती जो उसके स्वय के स्वार्थों के प्रतिकूल थी।

गयासुद्दीन ने इसके अतिरिक्त अधिकारियो को आदेश दिया कि भू-राजस्व की माग पूर्णतया 'हासिल' पर आधारित हो। इसके पहले सरकारी मांग केवल अनुमानित उपज पर अथवा राज्य मे प्राप्त आकड़ो पर आधारित होती थी जो समय के अनुसार न केवल अनुपयोगी अपितु हानिकारक भी थी। इस सुधार से वित्त विभाग और इक्ता के स्वामियो को अधिक सुविधा हो गई तथा वे अनुमानित उपज के आधार पर जो अधिक राजस्व देते थ उसकी चिन्ता से मुक्त हो गये।

गयासुद्दीन अलाउद्दीन के समान खूत और मुकद्दमों के प्रति कठोर नीति का पोषक नहीं था। इन लोगों को पुराने अधिकार पुनः दे दिए गये और उन्हें कर-मुक्त भूमियों के अतिरिक्त चरागाह कर से भी मुक्त कर दिया इस आधार पर कि वे जन-साधारण से राज्य द्वारा मान्य करों के अतिरिक्त कोई दूसरा कर वसूल नहीं करेंगे। उसका यह विचार था कि इन अधिकारियों के साथ यदि साधारण जनता के समान व्यवहार किया जावेगा तो वे अपने कार्य में कोई विशेष रुचि न दिखायेंगे। इसके अतिरिक्त क्योंकि इनके उत्तरदायित्व महत्वपूर्ण हैं इसलिए इनको राज्य की ओर से कुछ सुविधायें उचित है। हिन्दू लगान अधिकारियों को उनके पुराने अधिकार देने के बाद भी उसने सरकारी कर्मचारियों को ये आदेश भी दे रखा था कि वे इस बात का ध्यान रक्खें कि राज्य में हिन्दू अधिक धनवान न हो जावें। कर्मचारियों को किसानों की भलाई के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। यदि कोई अधिकारी किसानों से बहुत अधिक कर वसूल कर लेता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था परन्तु साधारण कठोरता करने पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। अपनी इस उदार व मध्यम मार्ग की नीति से गयासुद्दीन ने किसानों, लगान अधिकारियों और सरकारी कर्मचारियों को सुखी और सन्तुष्ट बनाये रखने में सफलता प्राप्त की। राज्य के भू-राजस्व प्राप्ति में वृद्धि हुई, कृषि योग्य भूमि में वृद्धि हुई है और इसी वृद्धि के आधार पर गयासुद्दीन अपने साम्राज्य विस्तार की नीति को कार्यान्वित करने में समर्थ हुआ।

गयासुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् मुहम्मद बिन तुगलक के समय में भू राजस्व व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही तथा अलाउद्दीन व गयासुद्दीन के समय में लागू किया हुआ बना रहा। मुहम्मद तुगलक स्वयं ने राज्य के कामों में रुचि दिखाकर अनेकों नियम तथा अध्यादेश लागू किये। उसने सर्वप्रथम सूबों की आय व्यय के हिसाब का एक रजिस्टर बनवाया और सभी सूबेदारों को आदेश दिया कि वे नियमित रूप से अपने अपने सूबे का हिसाब भेजा करें। उसका उद्देश्य था कि सम्पूर्ण साम्राज्य के एक समान ही भू-राजस्व लागू रहे तथा कोई गाँव लगान देने से छूट न जावे। परन्तु यह पता नहीं चलता कि इस रजिस्टर का क्या लाभ हुआ और सुल्तान ने किस प्रकार विभिन्नता क्योंकि अधिक दूर किया।

उसके राज्यकाल के प्रारम्भ में राजस्व विभाग का कार्य इतनी सरलता से चलता रहा कि बंगाल और गुजरात जैसे दूरस्थ प्रदेशों से राजस्व नियमित रूप से सरकारी कोष में जमा होता रहा। जियाउद्दीन बरनी स्वयं इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है और कहता है कि ऐसा अनुभव होता था जैसे केन्द्रिय राज्य व इन दूरस्थ प्रदेशों की दूरी समाप्त हो गयी हो।[1] स्वयं मुहम्मद तुगलक अपने वित्तीय विभाग से

1 बरनी—पृष्ठ 468—69

पूर्णतया सन्तुष्ट था और इसी से प्रभावित होकर उसने भारत के बाहर अपने राज्य विस्तार की योजना बनाई जिस हेतु उसने यह उचित समझा की राजस्व में और विशेषकर भू राजस्व की दरों में बढ़ोतरी की जावे और वे प्रदेश जो दूसरे की तुलना में अधिक उपजाऊ है उन पर भू राजस्व बढ़ाया जावे।

इसके लिए उसने दोआब के प्रदेश को चुना सम्भवतः इसलिए कि एक तो ये अधिक उपजाऊ था तथा राजधानी के निकट स्थित था। डा आर एस त्रिपाठी के अनुसार सुल्तान अपनी आय में 5 से 10 प्रतिशत की बढ़ोतरी करना चाहता था और क्योंकि भूमि पहले से ही अत्यधिक कर का भार वहन कर रही थी इसलिए उसने ये उचित समझा कि पुराने करों को पुनः लागू किया जाय। इस आधार पर मकान-कर व चरागाह-कर लागू किये गये।[1] बरनी के अनुसार बढ़ाया हुआ कर है दस से बीस गुना अधिक था और फरिश्ता उसे तीन या चार गुना मानता है। परन्तु आधुनिक इतिहासकारों का यह मत है कि वह कृषकों से पैदावार का पचास प्रतिशत लेता था। कर बढ़ाने के सम्बन्ध में डा. मेंहदी हुसैन और डा ईश्वरी प्रसाद ने अलग ही कारण दिये हैं। डा मेंहदी हुसैन के अनुसार सुल्तान को बाध्य होकर कर बढ़ाना पड़ा था क्योंकि खुरासान की विजय के लिए संगठित सेना को खत्म करने की वजह से कृषकों की संख्या में अत्यधिक बढ़ोतरी हो गई थी। डा ईश्वरी प्रसाद के अनुसार कर मे वृद्धि नवीन योजनाओं को और विशेषतया कारजाल के अभियान के लिए धन संचित करने के की गई थी।

इतिहासकार बदायूनी कर की वृद्धि का कारण दोआब की प्रजा को दण्ड देने के लिए मानता है क्योंकि दोआब के धनी हिन्दू सदैव ही मुसलमान शासकों का विरोध किया करते थे। इसलिए उनको नियन्त्रण में रखने के लिए यह कई बार लागू किया गया था। वास्तविकता कुछ भी हो परन्तु इतना निश्चित है कि कर में वृद्धि हुई थी। समकालीन इतिहासकार बरनी का कथन इतना अधिक अस्पष्ट है कि उससे यह निकालना कि कर की वृद्धि किस रूप में की गई नितान्त असम्भव है।

कर की वृद्धि से स्वाभाविक रूप से दोआब के किसानों की स्थिति दयनीय हो गई और सरकारी कर्मचारियों ने जिस कठोरता से करों को वसूल किया उससे कृषकों में और अधिक अधिरता उत्पन्न हुई। सम्पन्न कृषक भी दरिद्रता की स्थिति में आ गये। स्थिति गम्भीर से गम्भीरतर हो गयी जब इसी समय दोआब में भयंकर अकाल पड़ा और इस भीषण स्थिति में भी सरकारी कर्मचारियों ने कर वसूली में कोई शिथिलता न बर्ती। राज्य कर्मचारियों के अत्याचार से पीड़ित हो किसान अपने खेत व ग्राम छोड़-छाड़कर भाग गये और सुल्तान की राजकोष आय बढ़ाने की

1 तारीख ए मुबारक शाही, पृ 34.

योजना पूर्णतया विफल दिखाई देने लगी। सुल्तान इस विफलता से अत्यधिक क्रोधी था और जैसा बरनी ने लिखा है कि, "लगान वसूली की असफलता से रूष्ट होकर सुल्तान ने हिन्दुओ का जगली जानवरो की तरह शिकार किया जिसमे हजारो व्यक्ति मारे गये।"

सुल्तान को जैसे ही अकाल की विभिषिका की जानकारी हुये उसने किसानो के कष्टो को दूर करने का प्रयास किया। किसानो को बीज, बैल आदि के लिये धन दिया गया परन्तु ये असहायक सिद्ध हुये क्योकि प्रमुख समस्या अनावृष्टि से उपस्थित पानी की अत्यधिक कमी थी। सुल्तान ने इसके पश्चात् एक फरमान निकाल कर कुए खुदवाने का आदेश दिया। उसने यह भी विकल्प दिया कि पीड़ित परिवार सकट के समय के लिए दूसरे प्रदेशो मे निवास हेतु चले जावें और यदि आफीक के कथन को स्वीकार किया जावे तो सुल्तान ने राहत हेतु दो करोड के धन-राशि खर्च की। निश्चित ही ऐसी कुसमय मे राजकोष कोष पर और अधिक भार पडा होगा तथा अलाउद्दीन के समय से सचित अनाज भी सम्भवतः समाप्त हो गया होगा।

मुहम्मद तुगलक इस अकाल की विभीषिका से अत्यन्त पीड़ित था और उसने यह अनुभव किया कि किस प्रकार से केवल इस उपजाऊ प्रदेश पर निर्भर रहना भयकर भूल है इसलिये उसने अन-उपजाऊ भूमि को प्रत्यक्ष सरकारी देखरेख के अन्तर्गत कृषि-योग्य बनाने की योजना बनाई। इस हेतु उसने 'दीवानेकोही' नाम के नये विभाग की स्थापना की। वास्तविकता यह थी कि इस विभाग के स्थापना से दो-आब के रुग्ण किसानो की सहायता के लिये उसने पहला इसका प्रयोग साठ वर्ग मील की भूमि पर किया गया और दो वर्ष मे इस पर सत्तर लाख टक खर्च किये गये। परन्तु सुल्तान का ये प्रयोग असफल रहा। तत्पश्चात् उसने भूमि अन्य लोगो को बाटी तथा उनकी देखभाल के लिये सरकारी कर्मचारी भी नियुक्त किये परन्तु यह प्रयोग भी असफल रहा। असफलता के लिए अनेको कारण उत्तरदायी थे—जैसे कि यह प्रयोग उस युग मे बिलकुल नया था; इस प्रयोग के लिए चुनी गई भूमि उपजाऊ नही थी; तीन साल का काल इस प्रयोग के लिये कम था और अन्त मे सरकारी कर्मचारियो ने बेईमानी से काम किया तथा किसानों ने इस धन का उपयोग अपनी गिरी हुई स्थिति को सुधारने मे किया।

अलाउद्दीन की तरह मुहम्मद तुगलक भी नपाई की पद्धति मे विश्वास करता था। यह पद्धति किसानो को रुचीकर नहीं थी परन्तु फिर भी मुहम्मद तुगलक ने इस पद्धति को लागू किया। बरनी के विवरण से यह स्पष्ट नही है कि उसने इस पद्धति को त्यागा अथवा नही।

जहाँ तक भू-राजस्व एकत्रित करने का प्रश्न था मुहम्मद तुगलक ने प्रचलित परम्परा के अनुसार इक्ता प्रदान किये। प्रमुख प्रान्तो में शासन के प्रतिनिधि के रूप

मे एक 'नायब' नियुक्त किया जाता था और वजीर समस्त वित्तीय व्यवस्था की देखरेख करता था। राज्य के छोटे प्रदेशो मे एक 'वली' अथवा 'हाकिम' तथा एक 'अमीर' होता था। कई वलियो के अधिकार मे 1500 ग्राम तक थे। इनसे छोटी इकाइयो मे 'मुक्ति' या 'आमील' नियुक्त किये जाते थे और इनसे नीचे छोटी इकाइयो मे 'शिकदार' हुआ करते थे।

मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के समय राज्य की आर्थिक स्थित शोचनीय थी। राज्य-कर्मचारियो की लूट खसोट, प्राकृतिक प्रकोप और करो की मात्रा अधिक होने से कृषक अधिक पीडित थे और इसलिए फीरोज तुगलक ने प्रारम्भ म ही कृषको के प्रति उदार नीति का अवलम्बन किया जिससे कि उनमे राज्य के प्रति पुन विश्वास व स्वामीभक्ति उत्पन्न हो जावे। इस आधार पर फीरोज ने समस्त ऋण जो तकावी के रूप दिया गया था और जो लगभग दो करोड टक के करीब था उसे माफ कर दिया। यह कहना ठीक है कि सम्भवत वह त्रस्त किसानो से इस ऋण को वसूल करने मे असमर्थ रहता पर तु उसके बाद भी यह फीरोज के लिये प्रशसनीय है कि उसने दूरदर्शिता से काम लेकर राज्य की असमर्थता को एक वरदान के रूप में बदल दिया। स्वाभाविक रूप से इसमे किसानो मे सन्तोष बढ़ा और वे राज्य के प्रति अधिक सहानुभूति रखने लगे। अपनी इसी उदार नीति के अन्तर्गत उसने वजीर के द्वारा दी गई समस्त भेटों को, जो उसने मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद जनता व अधिकारियो को मुहम्मद तुगलक के पुत्र का राज्यारोहण का पक्ष लेने के लिये बाटे थे, माफ कर दिये। सुल्तान ने इसी तरह अपने अधिकारियो का वेतन भी बढा दिया तथा हिसाब किताब अथवा 'मतालबा', देते समय जो उनको शारीरिक यातनायें दी जाती थी अथवा उन्ह जिस प्रकार से असम्मानित किया जाता था उसे भी बन्द कर दिया। फीरोज के इन प्रारम्भिक कार्यों ने साधारण जनता और अधिकारी वर्ग मे उसके प्रति सहानुभूति पैदा कर दी।

फीरोज ने उलेमा वर्ग को भी सन्तुष्ट करने का सफल प्रयास किया। पिछले पचास वर्षों म उलेमाओ के प्रति अत्यन्त उदासीनता की नीति अपनाई गई थी और क्योकि इस वर्ग का प्रजा पर सक्रिय प्रभाव था इसलिये फीरोज ने इस वर्ग को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। इसलिये वह समस्त भूमि जो इस वर्ग की खालसा म परिणित कर ली गई थी पुन उन्हे लौटा दी गई तथा समस्त भूमि जो इनसे छीन ली गई थी उसे पुन उन्ह अथवा उनके उत्तराधिकारियो को दे दी गई। फीरोज के पहले प्रान्त के राजस्व अधिकारी जब प्रान्त की आय-व्यय का लेखा प्रस्तुत करने आते थे तो सुल्तान द्वारा उन पर आय बढ़ाने का दबाव डाला जाता था। इसके अतिरिक्त इन राजस्व अधिकारियो को समय समय पर सुल्तान को भेंट देनी पडती थी जिसका भार अप्रत्यक्ष रूप से किसानो पर ही पडता था, फीरोज ने इन प्रथाओ का अन्त कर दिया।

यद्यपि यह सत्य है कि फीरोज के ये सुधारवादी कार्य राजनैतिक दृष्टिकोण से उपयोगी थे परन्तु वित्तीय दृष्टिकोण से ये इतने अधिक उपयोगी नहीं थे। फीरोज के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या अव्यवस्था और अशान्ति को समाप्त कर साधारण जनता में पुनः राज्य के प्रति आस्था स्थापित करनी थी और फीरोज इसमें सफल हुआ। डा. त्रिपाठी का यह मत पूर्णतया उस समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये उचित प्रतीत होता है।

इन सुधारों को करने के पश्चात् फीरोज ने राजस्व मामलों की ओर ध्यान देकर यह निश्चय करना चाहा कि राज्य की कुल आय कितनी है जिससे कि इसी के अनुरूप खर्च चलाने और बढ़े हुए खर्चों में कटौती करने के उपाय ढूँढ निकाले जायें। ख्वाजा हिसामुद्दीन को उसने इसके लिये नियुक्त किया। उसने 6 वर्ष के अथक परिश्रम के बाद अपने निरीक्षण के आधार पर आय 6 करोड़ 75 लाख टंक निश्चित की।[1] राज्य की आय निश्चित करने में भूमि की नाप तोल की अपेक्षा अनुमान की पद्धति को आधार बनाया गया था और लगान विभाग के पुराने लेखे जोखे की सहायता ली गई थी। यद्यपि ये पद्धति वैज्ञानिक नहीं थी परन्तु फिर भी फीरोज के सम्पूर्ण राज्य काल में यही पद्धति लागू रही। इस आधारभूत दोष के बावजूद लगभग स्थायी रूप से भूमिकर निश्चित करना फीरोज की एक महान सफलता थी।[2]

फीरोज के समय में लगान, पैदावार का 1/5 से 1/2 भाग तक लिया जाता था और इस लगान को एकत्रित करने में उसने मुहम्मद तुगलक की नीति की अपेक्षा गयासुद्दीन की नीति को अधिक उपयोगी समझ कर लागू किया। उसने आदेश दिये कि लगान 'हासिल' के आधार पर वसूल किया जावे और उसके अतिरिक्त किसानों से कोई दूसरी माँग न की जावे। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण योगदान फीरोज द्वारा सिंचाई के लिए नहरों का निर्माण था। सम्भवतः गयासुद्दीन तुगलक प्रथम शासक था जिसने नहरों के निर्माण के सम्बन्ध में कदम उठाया था परन्तु उसकी नीति अत्यधिक सीमित थी। फीरोज ने इसे भू राजस्व नीति का आधार बनाया। फीरोज ने पाँच बड़ी नहरों का निर्माण करवाया। इनमें से एक 150 मील लम्बी नहर यमुना से हिसार तक बनायी गयी थी। दूसरी 96 मील लम्बी सतलज से घग्घर तक जाती थी। तीसरी नहर सिरमोर की पहाड़ियों के निकट से प्रारम्भ होकर हाँसी तक जाती थी। चौथी घग्घर से फिरोजाबाद तक और पाँचवी यमुना से फीरोजाबाद तक जाती थी। इन नहरों का महत्व इसी से स्पष्ट हो जाता

1 अफीफ तारीख-ए-फीरोज शाही पृ 94-100

2 श्रीवास्तव, डॉ ए एल,-दिल्ली सल्तनत पृ 203

है कि केवल रजीवा और अलगखानी नहरों से ही लगभग 160 मील का भूमि का क्षेत्र लाभान्वित हुआ था। फीरोज ने उलेमाओं की स्वीकृति से सिंचाई कर भी लगाया जो उन कृषकों को देना पड़ता था जो अपने खेतों की सिंचाई के लिये सरकारी नहरों से पानी लेते थे और ये कर उपज का $\frac{1}{10}$ भाग हुआ करता था। यदि फरिश्ता की बात को स्वीकार किया जावे तो फीरोज ने सिंचाई की सुविधा के लिए विभिन्न नदियों पर 50 बांध और 30 झील अथवा जल को संग्रह करने के लिए तालाबों का निर्माण करवाया था।

फीरोज के ये सुधार लाभदायक सिद्ध हुये। कृषि योग्य भूमि में वृद्धि हो गई, व्यापारिक सुविधायें बढ़ी और सिंचाई-कर के रूप में राज्य की आय में वृद्धि हुई। परन्तु इनके अतिरिक्त नहरों के किनारों पर अनेकों नयी आबादियाँ बस गईं। यहाँ तक की अकेले दोआब में ही लगभग 52 नई आबादियाँ दिखाई देने लगी। अफीफ ने लिखा है कि, "एक गाँव भी अब उजाड़ नहीं रहा और न ही एक वर्ग गज भूमि बगैर जुती रही"[1] अफीफ ने आगे लिखा है कि, "जीवन की आवश्यकताएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं और फीरोज के सम्पूर्ण शासन-काल में बिना किसी प्रयत्न के अनाज के मूल्य अलाउद्दीन के समय के समान ही सस्ते रहे।"

फीरोज ने इन नहरों से प्राप्त पानी के आधार पर पूर्वी पंजाब के प्रदेश को उपजाऊ बना दिया और किसानों को श्रेष्ठतर फसलें जैसे गेहूँ, गन्ना आदि की खेती करने के लिये प्रोत्साहित किया।

फीरोज कि इस सिंचाई व्यवस्था का डॉ. त्रिपाठी के अनुसार एक और लाभ यह हुआ कि उसने दिल्ली प्रदेश को खाद्यान्न के मामले में आत्म-निर्भर बना दिया जिससे कि वो संकट के समय अपनी आवश्यकताओं की स्वयम् पूर्ति कर सके[2] और इस प्रकार से उसने मुहम्मद तुगलक के समय में पड़े हुये अकाल की पीड़ा को पुन. दोहराने से बचा लिया।

फीरोज ने भू-राजस्व से आय बढ़ाने के लिए दिल्ली के निकट 1200 फलों के बाग लगवाये जिससे उसे प्रति वर्ष एक लाख अस्सी हजार टंक की आय प्राप्त होती थी और इस प्रकार से उसने समुचित रूप से राज्य की आय में वृद्धि की।

फीरोज की भू-राजस्व नीति सर्वथा दोष-मुक्त नहीं थी। इसमें मूलतः दो दोष थे—प्रथम उसने भूमि को ठेके पर देने की नीति अपनाई जिससे भूमि ऊँची से ऊँची बोली लगाने वालों को दी जाने लगी। ठेकेदार किसानों से अधिक से अधिक धन लेने का प्रयास करते थे जिससे अन्त में किसानों पर कर का भार अधिक हो जाता

1. अफीफ पृ. 295.
2. त्रिपाठी, डॉ. आर. एस-पृष्ठ 299

था। दूसरे सुल्तान ने जागीरदारी प्रथा को प्रचलित किया और जागीरें केवल राज्य के बड़े पदाधिकारियों को ही नहीं अपितु सभी महत्वपूर्ण सैनिक और असैनिक अधिकारियों को दी जाती थीं। इससे राज्य पुनः छोटे-छोटे भू-भागों में बँट गया जो राज्य की सुरक्षा व किसानों के हित के प्रतिकूल थी। जमीदारों से यह आशा करना कि वे किसानों के हितों का ध्यान रक्खेंगे सम्भव न था। इन दोषों के रहते हुये भी फीरोज के राज्य में प्रजा सुखी थी, विश्वसनीय है।

फीरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात् चारों ओर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना ने व्यवस्था को पूर्णतया नष्ट कर दिया तथा दिल्ली सल्तनत की शक्ति और सम्मान को आघात पहुँचाया। ऐसी स्थिति में यह नितान्त असम्भव था कि भू-राजस्व की पुरानी नीति को अक्षुण्ण रख कार्यन्वित किया जा सके। किसी प्रकार से उसमें सुधार करना तो और भी असम्भव था। जो कुछ भी व्यवस्था हुई वह केवल लोदी वंश की स्थापना के बाद ही सम्भव हो सकी परन्तु दुर्भाग्यवश न तो लोदी शासकों में शासकीय योग्यता ही थी और न ही उनका इस ओर रुझान था। उनके विचार, उनकी संस्थायें तुर्क शासकों से भिन्न थी और फिर लोदी शासक राजनैतिक गतिविधियों और सैनिक कार्यवाहियों में इतने अधिक व्यस्त थे कि उनके लिये भू-राजस्व में किसी प्रकार का सुधार करना सम्भव न था। लोदियों के लिये सर्वप्रथम आवश्यकता थी कि वे अपनी राजनैतिक सत्ता की स्थापना में तनमयता से लग जावें इसलिये भी भूमि की ओर कोई ध्यान न दिया गया।

बहलोल लोदी के लिये राजनैतिक सत्ता को बनाये रखना अधिक आवश्यक था और उस समय की परिस्थिति में यह सत्ता केवल अफगान सरदारों पर ही आधारित हो सकती थी इसलिये बहलोल लोदी ने राज्य की भूमि को पुराने समय के अनुसार इक्ताओं में विभाजित कर दिया और इस प्रकार से अफगानों को बड़ी बड़ी जागीरें देकर उनको सन्तुष्ट रक्खा। ये अफगान सरदार जब तक इनको पुरानी पद्धति के अनुसार भू राजस्व मिलता रहा तब तक वे उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप अथवा परिवर्तन करने के पक्ष में नहीं थे। सम्भवतः वे परिवर्तन करने में असमर्थ भी थे और उनके पास समय और शक्ति दोनों की ही कमी थी।

सिकन्दर लोदी के गद्दी पर बैठने के समय परिस्थितियाँ कुछ बदल चुकी थी और लोदी वंश की राजनैतिक सत्ता की स्थापना हो चुकी थी। सिकन्दर ने प्रतिद्वन्दी जौनपुर के राज्य को समाप्त कर दिया था, धौलपुर, मन्दैल, उतगिर, नरवर और नागौर को जीतने में सफलता प्राप्त की थी तथा कुछ समय के लिये खोखरों का भय भी समाप्त हो गया था। दूसरी ओर अफगान सरदारों के प्रति उसका दृष्टिकोण बहलोल से बिल्कुल भिन्न था इसलिये उसने भू राजस्व की ओर रुचि दिखलाई। उसने सभी सूबेदारों और जागीरदारों को अपनी आय और व्यय का विवरण देने की आज्ञा दी

ग्रीर जिसने भी राज्य के धन का गबन किया ग्रथवा हिसाब दिखाने में ग्राना-कानी की उसने उसे दण्ड दिया। जौनपुर के सूबेदार को इसी ग्राधार पर दण्डित किया गया ग्रौर उससे राज्य का धन वसूल किया गया। परन्तु सिकन्दर लोदी का प्रमुख योगदान ग्रनाज पर जकात कर की समाप्ति थी। इस उपयोगी नीति का सम्भवत यह कारण था कि उसके समय मे राज्य के कुछ प्रदेशो मे भयकर ग्रकाल पड़ा था इसलिये वो चाहता था कि सस्ते मूल्य पर ग्रनाज उपलब्ध होता रहे। सिकन्दर के समस्त राज्यकाल में पुन यह कर नहीं लगाया गया। सिकन्दर का दूसरा उपयोगी कार्य सम्पूर्ण भूमि को नापने के लिए एक समान गज का निर्माण था जो 41 ग्रगुल का था। इसी सिकन्दरी गज का उपयोग शेरशाह ने, ग्रौर ग्रकबर ने ग्रपने शासन के 31 वें वर्ष तक किया।

सिकन्दर के इन सुधारों के कारण उसके समय मे सभी वस्तुग्रो के मूल्य कम रहे। डॉ एस ए हलीम ने लिखा है कि, 'वस्तुग्रों के मूल्य मे कमी होने का कारण सोने-चादी की कमी ग्रौर साम्राज्य में किसी समुद्रतट के सम्मिलित न होने के कारण विदेशी व्यापार तथा विनिमय की कठिनाई थी।" परन्तु इसके बाद भी यह उचित है कि सिकन्दर के समय मे ग्राथिक ग्राधार पर जन-साधारण सुखी ग्रौर सम्पन्न था।

इब्राहीम लोदी एक योग्य, परिश्रमी व प्रजा की भलाई चाहने वाला शासक था। यद्यपि उसने बहुत कम समय शासन किया परन्तु भू-राजस्व के क्षेत्र म उसने एक नया प्रयोग किया। उसन ग्रादेश दिया कि किसानो से भू-राजस्व उपज के रूप मे लिया जावे। ग्रलाउद्दीन के बाद व पहला शासक थ, जिसने इस प्रकार की व्यवस्था की। यद्यपि इतिहासकार यह मानते है कि समस्त भूमि पर इस प्रकार का नियम लागू किया गया परन्तु साधारण बुद्धि के ग्राधार पर इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

इब्राहिम के इस सम्बन्ध में क्या उद्देश्य थे इसकी पूर्ण जानकारी नहीं है। सम्भवत. चाँदी की समान रूप से कमी ग्रथवा राज्य-कर एकत्रित करने के लिये समान मापदन्ड बनाना उसके उद्देश्य रहे हो। इस नीति का यह परिणाम निकला कि ग्रनाज तथा ग्रावश्यकताग्रो की वस्तुग्रो का मूल्य कम हो गया। इसका कारण यह हो सकता है कि वे सरकारी ग्रधिकारी जो इक्ता के स्वामी होने के नाते राजस्व उपज के रूप मे एकत्रित करते थे उन्हे ग्रपना प्रतिदिन का खर्च चलाने के लिये नकद धन की ग्रावश्यकता होती थी ग्रौर इसके लिये वे एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा कर ग्रपने भाग की उपज को शीघ्र से शीघ्र बेचकर ग्रपनी ग्रावश्यकताग्रो की पूर्ति कर लेते थे ग्रौर स्वाभाविक था कि इस प्रतिस्पर्धा मे नकद धन प्राप्ति के लिये वे ग्रपनी वस्तुग्रो को कम मूल्य पर भी बेच देते थे। यदि सरकारी कर्मचारियों के लिये यह नीति उचित थी तो साधारण लोगों के लिये यह ग्रौर भी ग्रधिक उचित थी।

इब्राहीम की पराजय के बाद बाबर शासक हुआ। बाबर ने भू-राजस्व के क्षेत्र मे कोई नया प्रयोग नही किया और इब्राहीम के द्वारा स्थापित व्यवस्था को जो निश्चित ही जर्जर हो गई होगी उसे ही बनाये रक्खा। यद्यपि बाबर फरगना के राज्य मे भू-राजस्व उपज के रूप मे लेने का आदी था परन्तु यहाँ की परिस्थिति मे उसने नगद धन के रूप मे ही भू-राजस्व की माग की क्योंकि अपनी प्रारम्भिक विजयो मे उसने अपार धन खर्च किया था और शेष भेंट तथा उपहारो मे बाट दिया था इसलिये उसे धन की आवश्यक्ता थी। दिल्ली के सुलतानो की तरह बाबर ने भी राजस्व को राज्य के अधिकारियो म बाट दिया और भूमि का समुचित भाग खालसा भूमि के रूप मे अपने पास रक्खा। मुहम्मद जमान को बिहार के राजस्व का एक बडा भाग दिया गया था परन्तु उसके बाद भी एक करोड पचास लाख राजस्व की भूमि खालसा के रूप म रख ली गई थी। बाबर ने इन प्रान्तो को विभिन्न अधिकारियो को देते समय वहाँ पर एक-एक दीवान की नियुक्ति की जो कि वहाँ से राजस्व एकत्रित करता था। इस प्रकार से बाबर की विजय ने कोई नये भू-राजस्व के सिद्धान्त को लागू नही किया। दिल्ली सल्तनत के समान ही खालसा जागीर और सयूरघल भूमि हुआ करती थी। राज्य म प्रशासनिक भाग, भू-राजस्व एकत्रित करन की व्यवस्था और यहाँ तक की प्रान्तीय विभाजन भी इब्राहीम लोदी के समान ही था। उसन केवल मुसलमानो पर से तमगा' नामक कर समाप्त कर दिया था।

हुमायूँ अपने समय मे राजनैतिक व सैनिक गतिविधियो मे फँसा रहा और इसलिय भू राजस्व अथवा भूमि सुधारो की ओर समुचित ध्यान न दे सका। भूमि सुधार इसलिये शेरशाह के समय मे ही सम्भव हो सके। यद्यपि शेरशाह भी हुमायूँ की तरह व्यस्त था परन्तु अधिक सतर्क और क्रियाशील होने के नाते तथा राजस्व मे रुचि के कारण वह इस ओर अधिक ध्यान देने मे समर्थ हो सका।

अपने पिता की जागीर के प्रबन्धक के रूप मे फरीद ने यह निश्चय कर लिया था कि सब वर्गों के हितो मे कोई हस्तक्षेप न किया जावे। इसलिये उसने सैनिक जमीदारो के खातो की पुष्टी कर दी और यह भी स्वीकार किया कि यदि अधिक भूमि पर कृषको से खेती करवाई जावेगी तो जमीदार भी इसी बढी हुई आय मे से कुछ प्राप्त करने के अधिकारी होगे परन्तु इस आधार पर कि वे कृषको को धोखा न देंगे। उसने सैनिको को यह स्पष्ट चेतावनी दी थी कि यदि वे कृषको पर किसी प्रकार की ज्यादती करेंगे अथवा किसी किसान के खेत से एक घास का तिनका भी लेंगे तो वह उनके प्रति कठोर व्यवहार कर दण्डित करेगा। तत्पश्चात् उसने किसानो की दशा सुधारने और भू-राजस्व मे आयी हुई कमियो को पूरा करने के लिए प्रयत्न किया।

कृषकों को सबसे बड़ी कठिनाई थी कि भूमिकर बहुत भारी था और मनमाने ढंग से निश्चित किया जाता था जिससे बकाया की रकम बढ़ती चली जाती थी। भूमिकर इकट्ठा करने वाले अर्ध-सरकारी-कर्मचारी सिद्धान्तहीन थे और पटवारी तथा मुकद्दम लोग आमिलों से मिलकर किसानों से रुपया वसूल कर लिया करते थे और किसान लोग इन कर्मचारियों के विरुद्ध जागीरदार तक भी नहीं पहुँच सकते थे और परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार और बेईमानी अधिक थी। इसमें सरकार का कृषकों से इतना सम्पर्क नहीं था जितना गांव के कर्मचारियों से जैसे मुकद्दम, चौधरी पटवारी आदि। भूमिकर के संग्रह तथा शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने में सरकार इन्हीं लोगों पर आश्रित थी। सरकार का इस प्रकार से कृषकों से कोई सम्पर्क नहीं था और भूमि-सम्बन्धी सुधारों के लिये इस वर्ग में सुधार करना आवश्यक था। फरीद ने इस वर्ग के साथ सख्ती तथा चतुरता से काम लिया और उसने इस वर्ग को जो पहले मिलता आया था उसकी पुष्टि कर दी। फिर वह किसानों कि स्थिति को सुधारने के लिये अग्रसर हुआ। अब्बास के शब्दों में "जब वह सिपाहियों को सलाह दे चुका तो उसने रैयत से कहा "आज तुम अपनी पसन्द करने में स्वतंत्र हो" कुछ रैयत जरीब और कुछ गल्ला देने पर सहमत हो गये। फरिद ने रैयत से (पटवारियों से) उन्ही के हाथों निम्न कबूलियत लिखवाई —

"मैंने मोहस्लिल लोगों की दैनिक खुराक और मुहस्सिलत निश्चित कर दिया है। इसलिये यदि यह पता लगेगा कि इससे अधिक ले लिया है तो हिसाब लेते समय उनको मोहस्सिलाना नहीं मिलेगा। तुमको जानना चाहिये कि मैं अपने सामने ही सब हिसाब लूँगा और जो कुछ तुमने उचित खर्च किया है वही मुजरा दिया जावेगा—जाबिते के अनुसार भूमिकर लिया जावेगा। खरीफ का लगान खरीफ के समय और रबि का लगान रबि के समय पूरा लिया जावेगा। जरीब (भूमिकर निश्चय) के समय रैयत के प्रति नर्मी दिखानी चाहिए और देखना चाहिये कि उन लोगों में कितना लगान देने की क्षमता है परन्तु भूमिकर संग्रह करते समय कठोरता बरतनी चाहिये और यदि रैयत धोखा दे और लगान देने से बचना चाहे तो उनको ऐसा दंड देना चाहिये जो दूसरों के लिये सबक हो।"

इस अवतरण में फरीद की भू-राजस्व नीति का निचोड़ है। अब्बास ने अपनी पुस्तक तारीख-ए-शेरशाही में लिखा है कि जब फरीद का रैयत के साथ प्रथम सम्पर्क हुआ तब ही जरीब, कबूलियत, पट्टा और जाबिता आदि जारी कर दिये गये थे। अब्बास का कथन कुछ भ्रमात्मक है क्योंकि जब फरीद ने मियाँ हसन का प्रशासन अपने हाथ में लिया तब इन बातों का कहीं नामो-निशान भी नहीं था और सम्भवतः फरीद ने धीरे-धीरे ही इस व्यवस्था को लागू किया होगा। अब्बास ने क्योंकि अपनी पुस्तक की रचना अकबर के समय में की थी इसलिये उसने पुरानी परीक्षक भूमिकर व्यवस्था का एकदम वर्णन कर दिया है।

शासक बनने पर शेरशाह ने अपनी जागीर में प्रचलित भूमि व्यवस्था के आधार पर ही अपने समस्त राज्य की भूमि व्यवस्था को विकसित किया।

शेरशाह का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था कि उसने एक-समान पद्धति पर भूमि की नाप करवाई और जिस भूमि पर उपज होती थी अथवा हो सकती थी, उसे प्रत्येक गाँव में निश्चित कर दी। पैदावार योग्य समस्त भूमि तीन श्रेणियों में विभाजित कर दी गई—उत्तम, मध्यम व खराब और तीनों प्रकार की जमीनों पर की जाने वाली पैदावार भी निश्चित कर दी। इसको जोड़कर फिर जमीन की औसत पैदावार प्रति बीघा निकाली और इस औसत पैदावार का 1/3 भाग भू-राजस्व के रूप में वसूल किया जाने लगा। राज्य की प्रमुख फसलों की औसत पैदावार प्रति बीघा निकालने के बाद इसी आधार पर अन्य फसलों के पैदावार की भी औसत निकाली गई। डॉ आर पी त्रिपाठी इसे शेरशाह की प्रमुख देन मानते हैं और सम्भवतः शेरशाह ही प्रथम व्यक्ति था जिसने भारत में इसे पहली बार लागू किया था।

सरकारी लगान नकद अथवा जिन्स के रूप में अदा किया जा सकता था। लेकिन अब्बास खां की तारीख के अध्ययन से ऐसा अनुभव होता है कि नकद लगान लेना ही अधिक पसन्द किया जाता था। अनाज के प्रचलित भाव के अनुसार सरकारी हिस्सा नकद देना पड़ता था। क्योंकि प्रत्येक स्थान की जमीन और उसकी पैदावार भिन्न होने के कारण जमीन की औसत पैदावार की एक सी दरें रखना असम्भव था इसलिये प्रत्येक स्थान के लिए प्रत्येक प्रकार के अनाज के लिये पृथक्-पृथक् दरें थी। इसी प्रकार पैदावार के सरकारी हिस्से को नकदी में बदलने के लिए भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न दरें थी। यह मानना कि उसने अपने राज्य में सर्वत्र एक समान लगान की दरें निश्चित की थी किसी प्रकार भी उचित नहीं है। सरकारी आलेखों से ज्ञात होता है कि मुल्तान के मामले में जमीन की नाप (पैमाइश) के अनुसार लगान निश्चित करने पर जोर नहीं दिया था और इसी तरह राजस्थान, मालवा और पश्चिमी पंजाब में भी जमीन की नाप करना नितान्त असम्भव था क्योंकि ये प्रदेश पूर्ण रूप से उसके अधीन नहीं हुये थे। इन प्रदेशों में उसने लगान निश्चित करने की तीनों प्रणालियों को पहले के अनुसार ही चलने दिया। ये तीनों प्रणालियां इस प्रकार थी—(1) गल्ला-बक्शी अथवा बटाई, (2) नश्क अथवा मुकताई या कनकूत (3) नकद अथवा जब्ती या जमाई।

बटाई से अभिप्राय पैदावार का किसानों के साथ हिस्सा बाँट करने से था और इस प्रकार से सरकारी भाग को निर्धारित करने की परिपाटी काफी समय से चली आ रही थी। बटाई भी तीन प्रकार से निश्चित की जाती थी—(1) खेत बटाई (2) लाँक बटाई और (3) रास बटाई। खेत बटाई में खड़ी फसल अथवा खेत

बोने के तुरन्त बाद ही खेत बाँटकर जमींदार का भाग निर्धारित कर दिया जाता था। लंक बटाई में खेत काटने के बाद किसान फसल को खलियान में लाता था जहाँ अनाज से भूसा अलग किए बगैर जमींदार और किसान का हिस्सा निश्चित कर दिया जाता था। रास बटाई में अनाज से भूसा अलग करने के बाद हिस्सा निश्चित किया जाता था। नस्क अथवा कनकूत प्रथा में जमीन में मोटे तौर पर होने वाली उपज आंक ली जाती थी और हिस्सा निश्चित कर लिया जाता था। लगान निश्चित करने की ये प्रणाली किसान के लिए बड़े झंझट की थी। नक्दी प्रथा में जमींदार और सरकार के बीच समझौता होता था जिसके अनुसार तीन वर्ष या उससे अधिक समय के लिए प्रति बीघा प्रति वर्ष के हिसाब से लगान निश्चित कर दिया जाता था, चाहे खेत में पैदावार हो अथवा नहीं। इसकी दर जमीन की उपज शक्ति और उसकी स्थिति पर निर्भर रहती थी। किसान इस भूमि पर एक से अधिक फसल भी उत्पन्न कर सकता था परन्तु साथ ही यदि प्रकृति प्रकोप के कारण भूमि पर उपज न हो तो भी उसे निश्चित धन-राशि राज्य को देनी पड़ती थी अर्थात किसान को पूरी तरह से लाभ अथवा हानि का भागी होना पड़ता था। समझौते की अवधि में सरकार लगान नहीं बढ़ा सकती थी। इन तीनों प्रणालियों में से नक्दी को ही किसान सबसे अधिक पसन्द करता था। इस प्रकार से शेरशाह ने इन अर्ध-बीजित प्रदेशों के अतिरिक्त समस्त राज्य में नपाई की पद्धति लागू की। अबुल फजल के इस मत में अधिक सत्यता है कि, "शेरशाह ने बटाई की पद्धति को हतोत्साहित किया और उसने तथा उसके उत्तराधिकार इस्लाम शाह ने भारत की इस पद्धति से पूर्णतया मुक्त कर दिया।"[1] शेरशाह ने स्थानीय नाप के अतिरिक्त समस्त भूमि के निरीक्षण अथवा नाप करने का आदेश दिया जिससे कि केन्द्रीय सरकार इसका उपयोग कर सके। अहमद खां को समस्त कृषि योग्य अथवा धन उपजाऊ भूमि को नापने का आदेश दिया और इसके आधार पर एक रजिस्टर तैयार करवाया जिसमें विभिन्न प्रकार की भूमियों की नाप व किसानों के अधिकार का लेखा-जोखा लिखा। इस रजिस्टर के आधार पर ही उसने किसानों को पट्टे दिये जिसमें सरकार को देय भू-राजस्व का विवरण होता था। प्रत्येक किसान को कबूलियत (शर्तनामे) पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे जिसका अर्थ था कि वह निर्धारित लगान देना स्वीकार करता है। इन दोनों पत्रकों में किसान के अधिकार में जमीन का क्षेत्रफल भी लिखा रहता था।

औसत उपज का 1/3 भाग भू-राजस्व में लेने के पश्चात् शेरशाह दस अस्तार[2] प्रति बीघा के हिसाब से जिन्स के रूप में वसूल करता था और इसको

---

1 आइन-ए-अकबरी भाग दो पृष्ठ 296.

2 एक अस्तार बीस बहलोली के बराबर था और प्रत्येक बहलोली एक तोला आठ माशा व सात रत्ती के बराबर होता था।

सरकारी गोदामो मे रखता था जिससे कि अकाल या प्राकृतिक प्रकोप की स्थिति मे वह इसे कम मूल्य पर बेच सके। अलाउद्दीन ने भी इसी प्रकार से जिन्स को गोदामो मे भरे रखने की नीति अपनाई थी परन्तु उसके एकत्रित करने का ढग अतिरिक्त कर न होकर भू-राजस्व को जिन्स के रूप मे इकट्ठे करने से था। शेरशाह का ये अतिरिक्त कर सम्भवत. अकबर द्वारा लगाये गये 'दह सेरी' कर का अग्रगामी था। इसके अतिरिक्त सरकार किसान से जमीन का सर्वे करने वालो का मेहनताना भी वसूल करती थी। ये अतिरिक्त कर जो जरीबाना (सर्वे करने वालो की फीस) और महसिलाना (कर एकत्रित करने वालो की फीस) कहलाते थे और प्रत्येक किसान को देय लगान पर $2\frac{1}{2}$ से 5% तक देना पड़ता था।

भूमि-कर वसूल करने के लिये उसने प्रत्येक परगने मे एक अमीन, एक शिकदार, एक खजाची, एक हिन्दी कारकून और एक फारसी लेखक नियुक्त किया था। उसने अपने मुकॆदारो को आदेश दे रक्खा था कि जब साख आये तो नाप के अनुसार भूमिकर वसूल किया जावे। किसी समय मे फसल खराब होने पर किसानो को लगान से मुक्त कर दिया जावे तथा उनको सरकारी खजाने से कर्ज दिये जाने की व्यवस्था की जावे। प्रत्येक सरकार मे उसने एक शिकदार-ए शिकदारान और मुन्सिफ ए मुन्सिफान नियुक्त किया जिनका काम सरकारी कार्यों की देखभाल करना था। यदि किसान भूमि कर वसूली मे किसी प्रकार का विघ्न डालते तो शिकदार-ए-शिकदारान को आदेश था कि वे उनको कठोर दण्ड दे। इस प्रकार की व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि किसान सरकारी कर्मचारियो के अत्याचारो से बच गये और कोश मे पूरा धन आने लगा।

कृषको की भलाई के लिये शेरशाह सदैव सचेत रहता था। फीरोज तुगलक को छोड़कर मध्ययुगीन भारत मे कोई ऐसा शासक न था जिसने की किसानो की भलाई का इतना ध्यान रक्खा हो जितना की शेरशाह ने रक्खा था। उसकी ये मान्यता थी कि किसानो की भलाई मे राज्य का हित निहित है और किसान के सन्तोष के साथ ही राज्य की सम्पन्नता है। इसलिए वो लगान निश्चित करते समय तो नरमी दिखाता था परन्तु उसके वसूल करते समय वह कठोर था क्योंकि अगर किसान एक बार राज्य के ऋण मे दब जावे तो फिर मुक्त होना अत्यधिक कठिन है। जो लोग किसानो को सताते थे उन्हे वह कठोर दन्ड देता था। सेनाओ के जाने आने के समय यदि फसलो को किसी प्रकार की हानि होती तो वह इसका मुआवजा देता था।

इन लाभो के बाद भी उसके भू-राजस्व मे अनेको दोष रह गये थे। भू-राजस्व का मूल आधार तीन प्रकार की भूमियो की औसत पैदावार का एक-तिहाई लगान के रूप मे वसूल करना था, तीसरी श्रेणी की जमीन से ज्यादा कर लिया जाता था

जबकि पहली श्रेणी की जमीन से कम कर वसूल किया जाता था। परन्तु जैसा कि मोरलैण्ड ने लिखा है इस प्रकार की असमानता सम्भवतः "फसलों को अदल-बदल कर बोने से ठीक हो जाती थी" दूसरे सरकार द्वारा पैदावार का 1/3 वसूली के साथ सर्वे करने वालों की फीस व लगान वसूल करने वालों की फीस जो $2\frac{1}{2}$ से 5% तक होती थी वसूल की जाती थी जो कि किसान पर एक अतिरिक्त भार था। तीसरे वार्षिक बन्दोबस्त होने के कारण किसानों तथा सरकारी अधिकारियों को बड़ी असुविधा थी क्योंकि प्रत्येक वर्ष भूमि नाप कर फसल के आधार पर लगान निश्चित करना पड़ता था। चौथे यह मान लेना कि मालगुजारी विभाग में सभी प्रकार का भ्रष्टाचार समाप्त हो गया होगा उचित नहीं है। इस विभाग के कर्मचारियों की आमदनी दूसरे विभागों की तुलना में अधिक होती थी और इसीलिये शेरशाह उनको बदली हर दूसरे-तीसरे साल कर देता था। सम्भवतः डॉ त्रिपाठी की यह धारणा अधिक उचित है कि उसका दृष्टिकोण था कि, "अमलदारी के लाभ और सुविधाओं को अधिक से अधिक लोग भोग सकें।" इसके अतिरिक्त शेरशाह के समय में जागीर प्रथा प्रचलित थी और इस बात पर मुश्किल से ही विश्वास किया जा सकता है कि जागीरदार अपनी जागीरों का प्रबन्ध गुमाश्तों द्वारा नहीं करवाते रहे होंगे। ऐसी स्थिति में जागीरी क्षेत्र के किसानों को हानि उठानी पड़ती होगी। शेरशाह ने यद्यपि दुर्गों का निर्माण करवाने, नये नगरों की स्थापना करने अथवा मस्जिदें और सरायें बनवाने में काफी धन खर्च किया परन्तु कभी भी उसे किसानों की भलाई के लिए नहरों के निर्माण की बात नहीं सूझी।

इन दोषों के बाद भी क्योंकि शेरशाह सदैव किसानों की भलाई व उन्नति के लिये चिन्तित रहता था इसलिये किसानों की दशा अच्छी रही होगी। उसने बीच के मुखियाओं के अस्तित्व को यदि बिल्कुल मिटाया नहीं तो कम से कम उनके अधिकारों पर एक प्रबल अंकुश लगा दिया। वास्तव में उसने प्रत्येक किसान और सरकार के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित करने की व्यवस्था की थी। इसीलिये उसकी भू-राजस्व व्यवस्था को रैयतवाड़ी कहा जाता है, जमींदारी नहीं।

उसके उत्तराधिकारी इस्लाम शाह ने अपने पिता की नीति का अनुसरण किया। वह अधिक भूमि को राज्य के प्रत्यक्ष आधीन रखने के लिये उत्सुक था। यद्यपि कुछ लेखक यह मानते हैं कि उसने जागीर प्रथा को समूल नष्ट कर दिया था परन्तु यह केवल अतिशयोक्ति ही लगती है।[1] वाकयात-ए-मुश्ताकी का समकालीन लेखक यह मानता है कि उसने सैनिकों को जागीरें दी थी। इसलिये यह मानना अधिक उचित होगा कि वह खालसा भूमि के क्षेत्र को बढ़ाने का इच्छुक था।

---

1. तारीख-ए-दाऊदी पृ 103.

8

भू-राजस्व व्यवस्था
(1556–1740)

सल्तनतकाल में प्रचलित भू-राजस्व में भारतीय तथा इस्लामी परम्पराओं का समन्वय था और जैसा कि डा. कुरेशी ने ठीक ही लिखा है कि इन शासकों ने स्थानीय प्रणाली को अपनाया तथा उसे एक कानूनी रूप प्रदान कर दिया। भारतीय हिन्दू किसान इससे किसी प्रकार भी चिन्तित न थे क्योंकि मुख्यतः उन्हीं की रीति-नीति के आधार पर इन नये कानूनों को मान्यता दी गई थी। भारतीय रीति-नीति तथा इस्लामी परम्पराओं में इतना अधिक समन्वय था कि मुस्लिम साम्राज्य के इतिहास में दोनों प्रणालियों का कोई अलग-अलग उल्लेख नहीं मिलता है।[1]

सल्तनतकाल में अलाउद्दीन खलजी पहला शासक था जिसने वैज्ञानिक आधार पर भूमि की पैमाइश करा कर, कर निर्धारित किया। कनकूत और बटाई की प्रथा की तुलना में वह उपज के रूप में ही भूमि-कर लेने को अधिक मान्यता देता था। तत्पश्चात् फीरोज तुगलक के समय में मालगुजारी नकद तथा उपज दोनों में ली जाने लगी। लोदी काल में सिकन्दर लोदी ने साढ़े चार सिकन्दरी का गज (41 अंगुल) प्रचलित किया जो लगभग 1577 ई. तक चलता रहा। इब्राहिम लोदी ने मालगुजारी उपज में लेने की प्रथा लागू की।[2]

बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद मालगुजारी सम्बन्धी नियमों में कोई रद्दो-बदल न आ पाया कारण कि बाबर एक सफल प्रशासक की अपेक्षा कुशल योद्धा था और इसी कारण लोदियों के समय से लागू मालगुजारी व्यवस्था चलती रही। बाबर ने विजित भू-भाग में से कुछ भाग मुगल अमीरों को जागीर के रूप में बांट दिया। बाबरनामा से स्पष्ट है कि उसने भीरा से बिहार तक के साम्राज्य को जिसकी मालगुजारी 52 करोड़ टंक प्रति वर्ष थी (उसमें से 8-9 करोड़ टंक की आय

1. कुरेशी, आई.एच.—द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द मुगल एम्पायर, पृ. 161.
2. लाल, के.एस.—हिस्ट्री आफ द खलजीज.

उन प्रदेशों से होती थी जो पुराने राजा-रायों के अधीन थे)[1] उसमें से उसने कुछ खालसा भूमि में भी परिवर्तित कर ली। वह लिखता है कि, "बिहार में से एक करोड़ की भूमि को खालसा बनाकर मैंने पचास लाख की महमूद खां लोहानी को और 50 लाख की जलाल खां को दे दी। उन्होंने एक करोड़ राजकर के रूप में देना स्वीकार किया।"[2]

हुमायूं के शासनकाल में भू-राजस्व सम्बन्धी सुधारों में सिकन्दरी गज को इकतालीस से बढ़ाकर बयालीस कर दिया गया। उसके समय में एक 'खरवार' (आठ मन से कुछ अधिक) अनाज पर दो दावरी तथा चार टंक कर लिया जाता था जो निश्चित ही अकबर के समय में वसूल किये जाने वाले कर से कम था।[3]

बाबर और हुमायूं के शासनकाल में भू-राजस्व को व्यवस्थित करने का कोई सक्रीय प्रयास नहीं किया गया। इसका श्रेय अकबर को ही है। इस सुधार के पीछे एक सामान्य सी घटना है। अकबर ने जब अपने कोषाध्यक्ष से केवल 18 रुपयों की मांग की तो उसे जानकारी हुई कि कोष में इतना धन भी शेष नहीं है। साम्राज्य के आर्थिक ढांचे की इस शोचनीय अवस्था को देखकर अकबर निश्चित ही चिन्तित था और उसे पूरी तरह यह जानकारी थी कि क्योंकि राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि ही है इसलिए भू-राजस्व को संगठित करना आवश्यक है। लगभग 30 वर्षों तक विभिन्न प्रयोग करके वह इसको व्यवस्थित करने में समर्थ हुआ।

इस संदर्भ में सबसे पहले उसने 1560 ई. में अब्दुल मजीद (आसफ खां) को भूमि व्यवस्था में सुधार करने के लिये नियुक्त किया। इससे पहले मालगुजारी की रकमें भिन्न भिन्न उपजों (अनाजों) के रूप में लिखी जाती थीं और क्योंकि शेरशाह के समय की ही पुरानी दरें अब भी मान्य थीं इसलिए भू-राजस्व का समुचित रूप से इकट्ठा करना सम्भव न था। इसके अतिरिक्त भूमि का अधिकतर भाग वेतन के बदले अमीरों को जागीर के रूप में दे दिया गया था जिसके कारण राजस्व और भी कम वसूल हो पाता था। आसफ खां ने भू-राजस्व को बढ़ाने के लिए बगैर किसी वैज्ञानिक आधार के इन जागीरों से प्राप्त भू-राजस्व में कमी व बढ़ोतरी कर दी। इससे राज्य को लाभ होने की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई क्योंकि बगैर अदल के राज्य ने एक सम्भावित निष्ठावान वर्ग को नाराज कर दिया, इसलिये अकबर ने 1562 में आसफ खां की जगह मलिक कूस को एतमाद खां की उपाधि देकर नियुक्त किया।

उसके नियमों के अनुसार राज्य को दो प्रकार से लाभ हुआ। एक ओर तो खर्च में कमी की गई और दूसरी ओर अधिकारियों द्वारा भू-राजस्व में जो गबन किया

1 वाकरनामा (बेवरीज) पृ. 520-21.
2 वही, पृ. 676.
3. डे, यू एन —द मुगल गवर्नमेंट, पृ. 108

8

भू-राजस्व व्यवस्था (1556–1740)

सल्तनतकाल में प्रचलित भू-राजस्व में भारतीय तथा इस्लामी परम्पराओं का समन्वय था और जैसा कि डा. कुरेशी ने ठीक ही लिखा है कि इन शासकों ने स्थानीय *प्रणाली को अपनाया तथा उसे एक कानूनी रूप प्रदान कर दिया।* भारतीय हिन्दू किसान इससे किसी प्रकार भी चिन्तित न थे क्योंकि मुख्यतः उन्हीं की रीति-नीति के आधार पर इन नये कानूनों को मान्यता दी गई थी। भारतीय रीति-नीति तथा इस्लामी परम्पराओं में इतना अधिक समन्वय था कि मुस्लिम साम्राज्य के इतिहास में दोनों प्रणालियों का कोई अलग-अलग उल्लेख नहीं मिलता है।[1]

सल्तनतकाल में अलाउद्दीन खलजी पहला शासक था जिसने वैज्ञानिक आधार पर भूमि की पैमाइश करा कर, कर निर्धारित किया। कनकूत और बटाई की प्रथा की तुलना में वह उपज के रूप में ही भूमि-कर लेने को अधिक मान्यता देता था। तत्पश्चात् फीरोज तुगलक के समय में मालगुजारी नकद तथा उपज दोनों में ली जाने लगी। लोदी काल में सिकन्दर लोदी ने साढ़े चार सिकन्दरी का गज (41 अंगुल) प्रचलित किया जो लगभग 1577 ई. तक चलता रहा। इब्राहिम लोदी ने मालगुजारी उपज में लेने की प्रथा लागू की।[2]

बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद मालगुजारी सम्बन्धी नियमों में कोई रद्दो-बदल न आ पाया कारण कि बाबर एक सफल प्रशासक की अपेक्षा कुशल योद्धा था और इसी कारण लोदियों के समय में लागू मालगुजारी व्यवस्था चलती रही। बाबर ने विजित भू-भाग में से कुछ भाग मुगल अमीरों को जागीर के रूप में बाट दिया। बाबरनामा से स्पष्ट है कि उसने भीरा से बिहार तक के साम्राज्य को जिसकी मालगुजारी 52 करोड़ टंक प्रति वर्ष थी (उसमें से 8-9 करोड़ टंक की आय

1. कुरेशी, आई.एच.—द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द मुगल एम्पायर, पृ. 161.
2. लाल, के.एस.—*हिस्ट्री आफ द खलजीज*

उन प्रदेशों में होती थी जो पुराने राजा-रायों के अधीन थे)[1] उसमें से उसने कुछ खालसा भूमि में भी परिवर्तित कर ली। वह लिखता है कि, "बिहार में से एक करोड़ की भूमि को खालसा बनाकर मैंने पचास लाख की महमूद खां लोहानी को और 50 लाख की जलाल खां को दे दी। उन्होंने एक करोड़ राजकर के रूप में देना स्वीकार किया।"[2]

हुमायूं के शासनकाल में भू-राजस्व सम्बन्धी सुधारों में सिकन्दरी गज को इकतालीस से बढ़ाकर बयालीस कर दिया गया। उसके समय में एक 'खरवार' (आठ मन से कुछ अधिक) अनाज पर दो बावरी तथा चार टक कर लिया जाता था जो निश्चित ही अकबर के समय में वसूल किये जाने वाले कर से कम था।[3]

बाबर और हुमायूं के शासनकाल में भू-राजस्व को व्यवस्थित करने का कोई सक्रीय प्रयास नहीं किया गया। इसका श्रेय अकबर को ही है। इस सुधार के पीछे एक सामान्य सी घटना है। अकबर ने जब अपने कोषाध्यक्ष से केवल 18 रुपयों की मांग की तो उसे जानकारी हुई कि कोष में इतना धन भी शेष नहीं है। साम्राज्य के आर्थिक ढांचे की इस शोचनीय अवस्था को देखकर अकबर निश्चित ही चिन्तित था और उसे पूरी तरह यह जानकारी थी कि क्योंकि राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि ही है इसलिए भू-राजस्व को संगठित करना आवश्यक है। लगभग 30 वर्षों तक विभिन्न प्रयोग करके वह इसको व्यवस्थित करने में समर्थ हुआ।

इस संदर्भ में सबसे पहले उसने 1560 ई में अब्दुल मजीद (आसफ खां) को भूमि व्यवस्था में सुधार करने के लिये नियुक्त किया। इसके पहले मालगुजारी की रकमें भिन्न भिन्न उपजों (अनाजों) के रूप में लिखी जाती थी और क्योंकि शेरशाह के समय की ही पुरानी दरें अब भी मान्य थीं इसलिए भू-राजस्व का समुचित रूप से इकट्ठा करना सम्भव न था। इसके अतिरिक्त भूमि का अधिकतर भाग वेतन के बदले अमीरों को जागीर के रूप में दे दिया गया था जिसके कारण राजस्व और भी कम वसूल हो पाता था। आसफ खां ने भू-राजस्व को बढ़ाने के लिए बगैर किसी वैज्ञानिक आधार के इन जागीरों से प्राप्त भू-राजस्व में कमी व बढ़ोतरी कर दी। इससे राज्य को लाभ होने की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई क्योंकि बगैर बदन के राज्य ने एक सम्भावित निष्ठावान वर्ग को नाराज कर दिया, इसलिये अकबर ने 1562 में आसफ खां की जगह मलिक फूल को एतमाद खां की उपाधि देकर नियुक्त किया।

उसके नियमों के अनुसार राज्य को दो प्रकार से लाभ हुआ। एक ओर तो खर्च में कमी की गई और दूसरी ओर अधिकारियों द्वारा भू-राजस्व में जो गबन किया

1 बाबरनामा (बेवरीज) पृ 520 21.

2 वही, पृ 676

3. डे, यू एन —द मुगल गवर्नमेंट, पृ 108.

जाता था वह समाप्त हो गया। उसने पूरे राज्य की खालसा भूमि को बराबर भागों में बांटा जिससे कि प्रत्येक भाग से एक करोड़ दाम भू-राजस्व के रूप में वसूल हो सके। इससे राज्य की आय में वृद्धि अवश्य हुई परन्तु एक करोड़ दाम के भू-राजस्व की आय के आधार पर खालसा भूमि को बांटना अवैज्ञानिक था क्योंकि भूमि में पैदावार के आंकड़े नहीं मिलते थे और जब तक ये न मिल जावें तब तक सुधार अर्थ-हीन ही था।

अकबर ने 1567 में मुजफ्फर खां तुर्बती को वजीर नियुक्त किया और वास्तविक रूप से भू-राजस्व के सुधार का कार्य यहीं से प्रारम्भ होता है। उसने भू-राजस्व को उपज में वसूल करने की अपेक्षा नकद राशि में लेना शुरू किया और इसके लिये ही परगने की हर फसल के लिये अलग-अलग दरें निर्धारित की। कानूनगो से अपने अपने परगने की भूमि और उपज के आंकड़े मंगवाये और इन्हीं के आधार पर नई दरों को लागू किया गया। इसमें सबसे बड़ी कमी थी, जैसा कि डा. श्रीवास्तव ने लिखा है, कि खरीफ और रबी की फसलों तथा विभिन्न खाद्यान्नों के लिये मालगुजारी की अलग अलग निश्चित दर सूचियां थी और पूरे साम्राज्य की मालगुजारी (जमा) भी निश्चित हो चुकी थी परन्तु क्योंकि ये वास्तविक उपज के विवरण पर आधारित नहीं थीं इसलिये यद्यपि मुजफ्फर खां का सुधार सही दिशा में था परन्तु फिर भी अपूर्ण था।[1]

1573-74 में किये गये भूमि-सुधार का उद्देश्य खालसा भूमि का विस्तार करना था और इसके अन्तर्गत बिहार, बंगाल, गुजरात आदि के अमीरों को दूसरे स्थानों पर जागीरें देकर उनकी भूमि को खालसा में ले लिया—जैसे मुनीम खां को जौनपुर के बदले बिहार में जागीर दी गई और उसकी भूमि को खालसा में ले लिया गया। इस सुधार के परिणामस्वरूप राज्य का अधिकतर भाग खालसा में परिणित कर लिया गया।

इस सुधार को समुचित रूप से क्रियान्वित करने के लिये जरूरी था कि वैज्ञानिक ढंग से पैमाइश कराई जावे तथा भूमि का उपज के आधार पर वर्गीकरण किया जावे। इसके लिए अकबर ने विधिवत कार्य शुरू किया और सिकन्दरी गज (41 अंगुल) को मापदंड चुना तथा रस्सी के स्थान पर बांस के डंडों को लोहे के कड़ों से जुड़वाकर पैमाइश करवाई। रस्सी के स्थान पर, जो शेरशाह के समय में प्रचलित थी, बांस के डंडों से पैमाइश करवाने का काम इसलिये जरूरी था कि रस्सी द्वारा नपाई से सदैव ही नाप के घटने-बढ़ने की आशंका बनी रहती थी जो इस आधार पर समाप्त हो गई थी।

---

1 श्रीवास्तव, ए एल—वही, पृ 175.

मालगुजारी निर्धारित करने के लिए समस्त भूमि को उपज के आधार पर चार किस्मों में बांटा गया। पोलज पारती, चाचर व बजर। जिस भूमि से प्रत्येक वर्ष फसल ली जा सकती थी 'पोलज' कहलाती थी। 'पारती' वह भूमि थी जिससे प्रत्येक वर्ष फसल लेना सम्भव न था, तथा पुनः उर्वराशक्ति प्राप्त करने के लिए कुछ समय के लिए खाली छोड़ दी जाती थी। 'चाचर' भूमि से केवल 3 अथवा 4 वर्ष में ही फसल ली जा सकती थी और बजर भूमि वह थी जिसमें पांच साल तक फसल उगाना सम्भव न था।[1] पोलज और पारती भूमि को अच्छी, मध्यम तथा खराब भूमि में विभाजित किया गया और इन तीनों की प्रति बीघा (60 वर्ग गज) औसत उपज को उस भूमि के प्रति बीघा की उपज मान लिया गया। पारती भूमि पर खेती के वर्ष में पोलज की ही दर से मालगुजारी वसूल की जाती थी क्योंकि उस वर्ष उसकी उपज पोलज के ही समान थी। चाचर भूमि में पहले साल खेती करने पर निश्चित दर का केवल 2/5 भाग ही मालगुजारी के रूप में लिया जाता था और पांच साल खेती होने के बाद ही सामान्य दर से मालगुजारी वसूल की जाती थी। बजर भूमि से भी पांच साल के बाद ही पूरी दर से मालगुजारी वसूल की जाती थी।

इससे लाभ यह हुआ कि अब क्योंकि समस्त भूमि का वर्गीकरण हो चुका था और प्रत्येक वर्ग की भूमि की उपज की जानकारी भी हो गई थी इसलिए अब मालगुजारी निश्चित करना सरल हो गया। समय पर निश्चित मालगुजारी वसूल करने के लिए राज्य को 182 भागों में बांटा गया जिससे कि प्रत्येक भाग से अनुमानित एक करोड़ दाम प्राप्त हो सकें। मुगताल नकद अथवा उपज के रूप में भरने की छूट दी गई परन्तु नकद वसूली पसन्द की जाती थी। अधिकारियों को आदेश दिया गया कि 'जब उत्पीड़नकारी' प्रमाणित न हो, अनाज का मूल्य बाजार के दर के अनुसार नकदी में लिया जाय। समस्त अधिकारियों को अपने क्षेत्र के आकड़े भेजने तथा एकत्रित मालगुजारी को सरकारी कोष में जमा करने के आदेश दिये गये।

इन सुधारों की पृष्ठभूमि में ही 1580 में आईने दहसाला या दस साला बंदोबस्त लागू किया गया। राजा टोडरमल व ख्वाजा शाह मसूर इसके लिए उत्तरदायी थे। डा. कुरैशी के अनुसार मुगल काल में किये गये भूमि सुधारों में यह अत्यन्त मौलिक व दूरगामी सुधार था।[1] आईन ए अकबरी के अनुसार राजस्व विभाग ने अकबर के राज्यकाल के 15वें वर्ष से लेकर 24वें वर्ष (10वर्ष) के आकड़े एकत्रित किये जिनसे मालगुजारी की जानकारी प्राप्त हुई। इन आकड़ों को जोड़कर उसको

---

1 हबीब, इरफान —द ऐग्रेरियन सिस्टम आफ मुगल इन्डिया, पृ 354

2 कुरैशी, आई एच —वही, पृ 168.

10 से विभाजित किया गया और औसत निकाली गई। इस औसत को सालाना नक्द मालगुजारी के रूप में स्वीकार किया गया। अबुल फजल के अनुसार हर परगने की पिछले दस साल (हाल-ए-दहसाला) की उपज और उपज की कीमतो को इकट्ठा किया गया और उसके दसवें भाग को (माल-ए-हरसाला) वार्षिक मालगुजारी के रूप मे निश्चित किया गया। मोरलैण्ड के अनुसार पिछले दस वर्षो मे जो धनराशि मालगुजारी के रूप मे वसूल की गई थी उसी का औसत जमा दहसाला थी। यह विचार ठीक मालुम नही पडता क्योकि अबुल फजल का वर्णन स्पष्ट है और उसमे यह मेल नही खाता है। 'हिदायतुल कवायद' के अनुसार दहसाला सम्बन्धी कागजो मे प्रत्येक महाल के कृषीय क्षेत्रफल का विवरण तो था ही, इसके अतिरिक्त विभिन्न खण्डो के गत दस वर्षों का उर्वरता भाव, तथा दरो का भी ब्योरा था। इस प्रकार एक ओर तो पैदावार के आकडे एकत्रित कर लिए गये थे और दूसरी ओर बाजार-दर के आकडे भी पा गये थे। यदि किसानो के लिए गत दस वर्षों के लगान या मालगुजारी के आधार पर लगान निश्चित करना था तो इन आंकडो की आवश्यकता नही थी।[1]

इन आकडों को इकट्ठा करने का लक्ष्य 'दस्तूरुल-अमल (भूमिकर व्यवस्था) तैयार करना था। "यह जिन्स, दर व भाव की वह पूंजी थी जो ऐसे क्षेत्र से सबंधित हो जहा कृषि की दशा समान हो।"[2] इस प्रकार अकबर के शासन के चौबीसवें वर्ष (1580) तक दस्तुरुल-अमल तैयार हो गये जिसमे प्रत्येक बीघा का नक्दी दर दिया हुआ था। डा इरफान हबीब का मत है कि ये दरें चौबीसवें वर्ष की नही थी अपितु अकबर के शासन के चालीसवें वर्ष की थी।[3] आशिर्वादी लाल श्रीवास्तव का मत है कि आईने दहसाला पिछले दस वर्षो की औसत उपज और औसत किश्तों पर एक बदोबस्त तो था ही पर साथ ही साथ इस लागू होने की तिथि से अगले दस साल के लिए लागू किया गया था।[4]

डा० श्रीवास्तव का मत पूरी तरह से ठीक नही है। यह उचित मालुम पडता है कि मालगुजारी पिछले दस वर्षों की उपज पर आधारित थी परन्तु यह कहना है कि ये मालगुजारी अगले दस वर्षों के लिए निश्चित थी ठीक नहीं है। सभवतः यह बदोबस्त प्रत्येक वर्ष सशोधित किया जाता था और दस वर्ष की औसत उपज निकालने के लिए पहिले वर्ष की उपज को रद्द कर दिया जाता था और उसके स्थान

---

1 श्रीवास्तव, एच एस — मुगल शासन प्रणाली, पृ 151.
2 वही, पृ 151.
3 हबीब, आई —वही, पृ 210.
4. श्रीवास्तव, ए. एल —वही, भाग 2, पृ 179.

पर ग्यारहवें वर्ष की उपज उसमें जोड़ दी जाती थी।[1] सम्भवत मालगुजारी का नकद में भुगतान करने के लिए 10 वर्षों में प्रचलित मूल्यों के आधार पर औसत निकाल लिया जाता था। इसको मोटे रूप में 'जिन्स ए कामिल' कहा जाता था। अकबर ने विभिन्न परगनों में जहाँ भूमि एक जैसी ही थी और जहां अनाज की कीमत एक समान ही थी वहाँ के लिए अलग दस्तूर बनवा दिये थे।

1582 में खालसा भूमि को चार भागों में बांटा गया और प्रत्येक भाग के लिए एक अलग अधिकारी की नियुक्ति की गई। 1595 में हर एक सूबे में एक-एक-दीवान को नियुक्त किया गया जो सीधे दीवान-ए-खालसा (वजीर) के अधीन था तथा सूबेदार से मुक्त था।

1585 में सिकन्दरी गज की जगह 'गज-ए-इलाही' को राज्य भर में इकाई स्वीकार कर लिया गया। पहले गज तथा इलाही गज में 39 41 का अनुपात था।

शाहजहा के राज्य-काल में भूमि की पैमाइश की इकाई में पुन परिवर्तन किया गया और मदद-ए-माश भूमि तो अकबर कालीन 'बीघा-ए-इलाही' पर ही नापी जाती रही परन्तु सरकारी अभिलेखों के लिए भूमि 'दिरा ए शाहजहानी' नामक इकाई से नापी जाने लगी जिसे 'बीघा-ए-दफ्तरी' कहा जाता था और ये बीघा-ए-इलाही का दो बटा तीन भाग था। डा एच एस श्रीवास्तव ने लिखा है कि, "वास्तविक नाप स्थानीय माप के आधार पर होता रहा, किन्तु दफ्तर के अभिलेखों में एकरूपता लाने के लिए उसे 'बीघा-ए-दफ्तरी में परिवर्तित कर दिया जाता था। औरंगजेब के पश्चात् की अराजकता में कदाचित 'बीघा-ए-दफ्तरी' का प्रयोग बन्द हो गया। इस तरह मुगल काल के अन्त तक साधारणतया 'बीघा-ए-इलाही' प्रचलित रहा।"[2]

अकबर के समय में मालगुजारी वसूल करने की विभिन्न प्रणालियाँ थीं। जब्ती प्रथा, जिसका वर्णन पहले किया गया है, भूमि सर्वेक्षण, मालगुजारी निश्चित करने के लिए दस्तूरो अमल और जब्ती खसरे की तैयारी पर आधारित थी। यद्यपि यह ठीक है कि दूसरी प्रणाली की तुलना में इसके अनेकों लाभ थे परन्तु इसके साथ ही इसमें अनेकों हानियाँ भी थीं और समस्त राज्य पर इसे लागू करना सम्भव नहीं था।

इसी प्रकार साम्राज्य के अनेकों भागों में परम्परागत अन्य प्रणालियाँ ही चलती रहीं—बटाई, कनकूत, नस्क आदि। बटाई अथवा गल्ला बख्शी तीन प्रकार की

---

1. कुरेशी, आई एच —वही, पृ 169.
2. श्रीवास्तव, एच एस —वही, पृ. 152

थी—रास बटाई, खेत बटाई, लाक बटाई। रास बटाई मे अनाज तैयार हो जाने पर खलिहान मे राज्य और किसान के भाग का बटवारा हो जाता था और लाक बटाई मे कटी फसल के बराबर-बराबर बोझे तैयार कर लिए जाते थे और उन्हे राज्य तथा किसान के बीच बाट लिया जाता था और इस प्रकार से राज्य के साथ ही किसान भी हानि तथा लाभ का भागीदार था। इस सम्पूर्ण प्रणाली मे चाहे बटाई किसी भी पद्धति से की गई हो, सरकार को काफी कठिनाई अनुभव होती थी। प्रथमत सम्पूर्ण मालगुजारी उपज के रूप मे ली जाती थी जिसको रखने के लिए सरकार को अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त फसल कटवाने आदि की जुम्मेदारी भी राज्य की थी जो कष्टदायक थी तथा जिसके लिए राज्य को अतिरिक्त कर्मचारियो की नियुक्ति मे अतिरिक्त धन खर्च करना पड़ता था। इसलिए इस प्रणाली को अधिक प्रोत्साहन न दिया जाता था और जहाँ-जहाँ जब्ती प्रथा के लागू करने मे कठिनाई थी वहीं पेर इसे काम मे लिया जाता था।

मालगुजारी वसूल करने की अन्य प्रथाये कनकूत और नस्क प्रणालिया थी। इसमे खेत को नापा जाता था और उस क्षेत्र मे प्रति बीघा पैदावार का अनुमान लगाया जाता था और फिर राज्य तथा किसान के हिस्सो को निश्चित कर दिया जाता था। नस्क प्रथा मे भूमि-कर की राशि व्यक्ति से वसूल करने की अपेक्षा एक समूह मे निश्चित कर ली जाती थी।

विभिन्न शासको ने विभिन्न सूबो के लिए मालगुजारी की विभिन्न दरें लागू की थी। अकबर ने यद्यपि उपज का $\frac{1}{3}$ भाग मालगुजारी के रूप में निश्चित किया था परन्तु यह मान लेना कि पूरे राज्य में यही दर प्रचलित थी उचित न होगा जैसे सूबा अजमेर में उपज का $\frac{1}{7}$ से $\frac{1}{8}$ भाग वसूल किया जाता था, गुजरात जैसे उपजाऊ प्रदेश मे उपज का $\frac{1}{2}$ भाग लिया जाता था। 17वीं शताब्दी के दूसरे तथा तीसरे दशक में रबी की फसल का $\frac{1}{2}$ तथा खरीफ की फसल का $\frac{1}{4}$ भाग मालगुजारी के रूप मे वसूल किया जाता था। ये मालगुजारी उन भागो में वसूल की जाती थी जहा कनकूत प्रणाली लागू थी। शाहजहा के समय मे दक्षिण मे साधारण भूमि से $\frac{1}{2}$ भाग तथा कुएं द्वारा सिंचित भूमि म $\frac{1}{3}$ भाग मालगुजारी के रूप मे वसल किया जाता था। औरंगजेब के समय मे भी गुजरात के अधिक उपजाऊ होने के कारण लाहौर, सिंध, दिल्ली की अपेक्षा $\frac{1}{5}$ भाग अधिक मालगुजारी वसूल की जाती थी।[1]

मालगुजारी की दर निश्चित करने के बाद उसको किस माध्यम से वसूल किया जावे प्रमुख समस्या थी। मुगल शासक नकदी के रूप मे वसूल करना अधिक उपयोगी और कम कष्टदायक मानते थे। क्योंकि राज्य अनाज को रखने-

1. हबीब, आई — वही पृ 193–94.

बेचने तथा अधिकारियों की बेईमानी से बच जाता था इसलिए इसी को प्रोत्साहन दिया जाता था परन्तु प्रत्येक सूबे में नकदी प्रथा को लागू करना सम्भव न था जैसे राजपूताना, कश्मीर, आदि । ऐसे प्रान्तो मे भी मालगुजारी के भाग को बाजार की दरो पर नकदी में परिवर्तित कर दिया जाता था और यथासम्भव मालगुजारी नकदी मे ही वसूल की जाती थी । इससे जहाँ राज्य को लाभ था तथा मालगुजारी वसूल करने का खर्च भी कम पड़ता था वहा किसान के लिये यह हानिकारक था । प्रथमतः क्योंकि राज्य मालगुजारी वसूल करने में कठोरता से काम लेता था और जब तक किसान मालगुजारी व बकायो का भुगतान न कर दें तब तक उसे पैदावार उठाने की अनुमति न थी,[1] इसलिए किसान को मजबूर होकर एकदम फसल के कटते ही उसे बेचने की व्यवस्था करनी पड़ती थी । इस फसल को बेचने में नुकसान होता था क्योंकि फसल के खरीदने वाले किसान की मजबूरी का फायदा उठाकर उसे कम से कम मूल्य देने की कोशिश करते थे । दूसरे प्राय फसल के कटने पर दरो का कम होना स्वाभाविक था और ऐसे समय में किसान को लगान देने के लिए उपज को कम मूल्य पर बेचने के लिए मजबूर होना पड़ता था । इसी उपज से कुछ समय पश्चात् उस अधिक मूल्य मिलने की सभावना हो सकती थी जो कि उसे मालगुजारी देने के लिए तिलाजली देनी पड़ती थी ।

मालगुजारी की वसूली साल मे दो बार की जाती थी । रबी की होली और खरीफ की वसूली दशहरा पर होती थी । लगान चुकाने म किसान को विकल्प था कि वह या तो सीधे खजाने में जमा करवा दे, जिसकी रसीद उसे प्राप्त हो जाती थी, अथवा मुकद्दम, पटवारी आदि लगान वसूल कर इसको प्रमाणित कर देते थे ।

मोटे रूप से लगान सीधे किसान से वसूल किया जाता था क्योंकि प्रत्येक किसान को पट्टा तथा कबूलियत दिया जाता था, जिसमे उसकी भूमि का क्षेत्र, बोई गई भूमि का क्षेत्र, बोई गई फसल का विवरण आदि होता था । इस व्यवस्था से यह अधिक आशका है कि किसान तथा राज्य का अधिकारियो के माध्यम से सीधा सपर्क था । प्रो इरफान हबीब[2] का मत है कि प्रत्येक किसान से मालगुजारी वसूल करना कठिन था इसलिए कुछ भागो मे लगान किसान से व्यक्तिगत रूप में न लेकर सामूहिक रूप में गाव से वसूल किया जाता था । जमीदार तथा जागीरदार से गाव का सम्पूर्ण लगान एक मुश्त वसूल कर लिया जाता था जो अपने कारिन्दो से किसान से वसूल कर लिया करते थे । यद्यपि उनको आदेश थे कि वे नियमानुसार ही लगान वसूल

1. वही, पृष्ठ 241.
2. हबीब, आई—वही पृ 230–34.

करें परन्तु इसके बाद भी यह मान लेना कि वे ईमानदारी से निश्चित लगान किसान से वसूल करते रहे होंगे सम्भव नहीं दिखता ।

मालगुजारी वसूल करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न अधिकारी थे । केन्द्र में दीवान-ए-आला या और वह राज्य का सर्वोच्च राजस्व अधिकारी था, प्रान्त में मालगुजारी का प्रमुख अधिकारी प्रान्तीय दीवान था, सरकार में इसी अधिकारी को अमलगुजार कहते थे । परगने में आमील, कानूनगो तथा अमीन भू-राजस्व के प्रमुख अधिकारी थे । कानूनगो जोती गई भूमि, उसमें बोयी गई फसल, लगान आदि का लेखा रखता था, अमीन भू-राजस्व निर्धारित करता था और आमील लगान वसूल करने में इन अधिकारियों की सहायता करता था । गाव के अधिकारियों में मुकद्दम तथा पटवारी प्रमुख थे । मुकद्दम गाव की मालगुजारी वसूल करता था और उसे इस वसूल की गई मालगुजारी का ढाई प्रतिशत दस्तूरी के रूप में मिलता था । पटवारी गाव के किसानो के बकाया लगान आदि का हिसाब रखता था । उसे वसूल की गई रकम का एक प्रतिशत दस्तूरी के रूप में मिलता था । इसके अतिरिक्त उसे वेतन के रूप में फसलाना सुराकी' भी दी जाती थी ।

जहा राज्य ने मालगुजारी वसूल करने के लिए समुचित व्यवस्था कर रखी थी वहीं पर किसानो को दी जाने वाली सुविधाओं के लिए भी राज्य पूरी तरह से जागरूक था । अकाल पड़ने पर लगान में छूट दी जाती थी तथा बगैर किसी ब्याज के किसानो को तकावी ऋण दिया जाता था । 1630–33 में अकाल पड़ने पर शाहजहां ने भू राजस्व का 70 लाख रुपया माफ कर दिया था । इसी प्रकार से उसी के राज्य-काल में कश्मीर में अकाल पड़ने पर न केवल राज्य की ओर से लंगर खोल दिए गये अपितु अकाल पीड़ितों में एक लाख रुपया भी बटवाया गया था । इसके अतिरिक्त राज्य में कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाने के लिए किसानो को यह सुविधा दी गई थी कि वे बंजर भूमि को उपज योग्य बनायेंगे तो उनसे पांच साल के बाद ही पूरा लगान लिया जायेगा और बीच के काल में राज्य केवल अनुपातिक लगान ही लेने का अधिकारी होगा । किसानों का इस सम्बन्ध में यह भी सुविधा थी कि वे लगान निर्धारित करने की किसी भी पद्धति को चुन लें और उसी के अनुसार लगान का भुगतान करें । यदि किसी गाँव में खेती करने योग्य भूमि कम होती तो अमलगुजार को ये आदेश दिए गये थे कि वे पास के गाँव की भूमि को भी किसान को दे दें । राज्य हर सम्भव तरीके से कुएँ, नहरें आदि का निर्माण करवा कर खेती को प्रोत्साहन देने के लिए तत्पर रहता था ।

मुगलकालीन भू-राजस्व व्यवस्था में जमींदारी, जागीरदारी व मदद-ए-माश भूमि का महत्वपूर्ण स्थान था । अधिकतर भूमि इन्हीं तीन मदों में बटी हुई थी । 1626–27 में खालसा भूमि सम्पूर्ण जमा का केवल 1/20 भाग थी जो

1646-47 में जाकर $\frac{1}{7}$ भाग हो गई थी और 1667 में औरंगजेब के प्रयत्नो से $\frac{1}{5}$ भाग तक पहुँच गई थी। इन आँकडो से यह स्पष्ट है कि राज्य मे खालसा भूमि कम थी और अधिकतर भूमि जमींदारी, जागीरदारी में ही थी।

जमीदारी का ज्ञान हमे शाहजहा के समय मे प्राप्त दस्तूरुल-अमल मे मिलता है जिसके अनुसार वह मनुष्य जो पहली बार खेती करे अथवा उसके लिए भूमि तैयार करे जमीदार कहलाता था। यह काम वह अपने सहकुटुम्बियो अथवा जाति के लोगो की सहायता से करता था जिसके फलस्वरूप मध्य-युग मे विभिन्न गाँव अथवा क्षेत्र किसी जाति-विशेष के अधिकार में ही थे। क्योकि इन प्रदेशो पर अपनी शक्ति के आधार पर ही कब्जा किया गया था इसलिए उस जाति का मुखिया उस प्रदेश का जमीदार हो जाता था और उसे समस्त अधिकार प्राप्त हो जाते थे। इसी प्रकार से चौधरी तथा कानूनगो जिनको वेतन के एवज मे भूमि दी जाती थी वे भी धीरे-धीरे अपने क्षेत्रो मे जमीदारी अधिकार प्राप्त कर लेते थे।[1]

ये जमीदार अलग अलग क्षेत्रो में अलग-अलग नाम से पुकारे जाते थे। राजस्थान मे पट्टे द्वारा प्राप्त हुई भूमि के स्वामी को 'भासिया' तथा ऐसी भूमि के स्वामी जिन्हें यह अनुदान के रूप में प्राप्त न हुई थी 'भूमिया' कहलाते थे। गुजरात मे व्यक्तिगत किसानो के अधिकार की भूमि को 'रैयत' तथा इसके अतिरिक्त भूमि के स्वामियो को 'तालुकदार' कहते थे। इसी प्रकार अन्य स्थानो पर इन्हे 'जमीदार कहा जाता था। जमीदार राज्य को लगान के रूप में एक निश्चित राशि देता था और उसी के अनुपात मे किसानो से लगान वसूल करता था। किसानो से मालगुजारी (लगान) वसूल करने के एवज म जमीदार को मालगुजारी का 10 प्रतिशत मिलता था जिसे 'मालिकाना' कहा जाता था। किन्तु भिन्न-भिन्न भागो मे इसमे थोडा अन्तर था तथा जहा मालगुजारी उपज के रूप में वसूल की जाती थी वहा प्रति बीघा दो विस्वा की उपज जमीदार लेने का अधिकारी था परन्तु वह किसी स्थिति में लगान बढाने का अधिकारी नही था। जमीदार अपने क्षेत्र मे प्रभावशाली था और एक प्रकार से वह परोक्ष रूप मे भूमि का राज्य के नाम पर सर्वोच्च अधिकारी था इसलिए अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाकर वह अनेको ऐसे अबवाब (कर) वसूल कर लेता था जिनकी राज्य द्वारा स्वीकृति न थी। किसान इस अतिरिक्त दबाव के बाद भी अकारण जमींदार से झगडा मोल लेने को तत्पर न था और इसीलिए जमीदार जन्म, विवाह, मृत्यु आदि पर किसानो से धन वसूल कर लेता था जो कि

1. हसन, नुरुल—थाट् आन एग्रेरियन रिलेशन इन मुगल इण्डिया, आई. सी. एच आर प्रोसिडिंग्स वाल्यूम 36, 1961 पृ. 89-93.

उसकी व्यक्तिगत आय थी क्योंकि राज्य को वह केवल निश्चित धन राशि के अतिरिक्त कुछ न चुकाता था।

जमींदार को अपने क्षेत्र में गढ़ी बनाने का अधिकार था जहां किलेबन्दी की जा सकती थी।[1] इसी कारण मध्ययुग में प्रत्येक जमींदार जिसकी स्थिति साधारण वर्ग के जमींदारों से कुछ अच्छी थी गढ़ी बनवाना अपने लिए सम्मान सूचक मानता था। स्वाभाविक है कि इन गढ़ियों में सैनिक भी रक्खे जाते थे जिनसे वह अपने क्षेत्र में शान्ति व्यवस्था बनाये रखता था। अकबर के राज्यकाल में जमींदारों के पास लगभग 3 84,558 सवार, 42,70 057 पैदल तथा 4260 तोपें थीं।

जमींदार अपने क्षेत्र की मालगुजारी के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों से सरकारी लगान वसूल करने का काम भी करते थे। औरंगजेब के अन्तिम समय में ऐसे जमींदार को ताल्लुकदार कहा जाता था। ताल्लुकदारी का क्षेत्र विस्तृत होने के बावजूद भी उनके अधिकार जमींदार से कम थे। मुगल काल में ताल्लुकदारों की स्थिति ज्यादा प्रभावपूर्ण हो गई थी और विशेषकर अवध में बड़े-बड़े जमींदारों से मालगुजारी वसूल करने का उत्तरदायित्व उन्हीं का था। बंगाल में उनकी स्थिति जमींदार से गौण थी।

जागीरदारों का वह वर्ग था जिनको राज्य की ओर से नक्द वेतन के बदले ऐसी जागीरें दे दी जाती थीं जिनकी आय उनके वेतन के बराबर होती थी। वेतन के बदले जागीर देने की परम्परा मुगलों के पहले भी प्रचलित थी। जागीर की आय का निर्णय करने का आधार जमा या भूमिकर था। जमा रकम मालगुजारी की अनुमानित राशि थी और जमा हासिल वह रकम थी जो वास्तविक रूप में वसूल होती थी। जब जागीर वेतन के बदले दी जाती थी तो ऐसी जागीर को 'जागीर-ए-तनख्वाह' तथा जब जागीर किसी पद के बदले दी जाती थी तो, उसे 'मशरूत' जागीर कहते थे। ऐसी जागीर जिसके लिए कोई अनुबन्ध न था इनाम' कहलाती थी। ऐसी जागीर जो किसी से ले ली गई हो परन्तु उसे किसी दूसरे व्यक्ति को न दी गई हो 'पायबाकी' कहा जाता था। सम्पूर्ण मुगल काल में अनेकों उदाहरण मिलते हैं जबकि इस प्रकार की जागीरें दी गई। अकबर के समय में भी इसी प्रकार की परम्परा मौजूद थी।

जागीरदार क्योंकि अकबर के समय के पहले से ही ऐसी जागीरों का उपभोग करते चले आ रहे थे इसलिये वे इसे अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानने लगे थे जिसमें शासक का कोई एहसान न था। ये विचार मूलरूप से ही गलत था क्योंकि ये जागीरें उन्हें पद के बदले अथवा वेतन के बदले दी गई थीं इसलिये अकबर ने 1568 में

1 हबीब, आई —वही, पृ 164–65

इनकी शक्ति को कम करने के लिये तथा उनको यह अनुभव कराने लिए कि ये जागीरें राज्य की कृपा से प्राप्त हुई हैं और अन्तिम रूप में जागीरदार इनके स्वामी न होकर राज्य ही स्वामी है, उसने जागीरदारों की एक सूबे से दूसरे सूबे में बदली करना शुरू कर दी। इस प्रक्रिया से तथा भू राजस्व में सुधार के कारण जागीरों की जमा में उलटफेर होता रहता था इसलिए अकबर ने मालगुजारी वसूल करने के काम को सरकारी अधिकार में ले लिया तथा वसूल की गई रकम से वेतन नकद रूप में देना शुरू किया। स्वाभाविक था कि जागीरदार इस व्यवस्था से असन्तुष्ट थे और इस कारण विरोध के लक्षण उभरने लगे। अकबर ने पुन जागीर प्रथा को लागू कर दिया।

जागीरदार अपनी जागीर से मालगुजारी वसूल करने हेतु आमील, अमीन, पोतदार तथा कारकून नियुक्त करते थे। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब जागीरदार जागीर को अपने सेवकों में बाट दिया करते थे जिनसे उनके वेतन के अनुसार उस भूमि से उन्हें आय प्राप्त हो सके। जागीरदार द्वारा नियुक्त अधिकारियों के अतिरिक्त जागीर में राज्य के अधिकारी जैसे कानूनगो, चौधरी, फौजदार आदि भी रहते थे जो मालगुजारी सम्बन्धी नियमों को देखते थे तथा जागीर में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी थे।

यद्यपि मालगुजारी की दरें सरकार द्वारा निश्चित की जाती थीं परन्तु फिर भी जागीरदार किसानों से अधिक मालगुजारी वसूल कर लेते थे। इसके अतिरिक्त वे ऐसी अनेकों सेवायें प्राप्त करते थे जिनका कानूनी आधार पर कोई औचित्य न था। सामान्यतया मालगुजारी वसूली के उतार-चढ़ाव का परिणाम जागीरदारों को ही भुगतना पड़ता था क्योंकि यह मान लेना कि फसलें लगातार एक जैसी अच्छी होती रहेंगी, कभी अकाल या अधिक वर्षा के कारण खराब न होंगी, अथवा किसान बराबर मालगुजारी का भुगतान करता रहेगा असम्भव था। परन्तु जब कभी किसी उचित कारण के आधार पर राज्य से मालगुजारी कम लेने की प्रार्थना की जाती थी तो राज्य उसकी जांच कर जागीरदारों को कुछ छूट दे देता था। इस प्रार्थना की अनुपस्थिति में यदि जागीरदार सरकारी देय की रकम में किसी प्रकार की देरी करता तो अस्थाई रूप से उसकी जागीर जब्त कर ली जाती थी।

जागीरदारी प्रथा के फलस्वरूप अनेकों कठिनाईयां पैदा हो गई। जागीरदारों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर तबादला करने की नीति अपनाने से यद्यपि जागीरदारों की बढ़ती हुई शक्ति पर अंकुश अवश्य लग गया परन्तु इस नीति के कारण जागीरदार अपनी जागीर की उन्नति करने के प्रति उदासीन हो गये क्योंकि उन्हें सदैव यह डर बना रहता था कि उनकी जागीर किसी भी समय बदली जा सकती है।[1] इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे समय बीतता गया जागीरदारी प्रथा और अधिक

1. बर्नियर—ट्रेवल्स, पृ 227

जटिल होती गई। औरंगजेब के समय में उसकी दक्षिण नीति के फलस्वरूप यह व्यवस्था, अव्यवस्था में बदल गई। उसने दक्षिण पर अधिकार करने के लिए मुक्त-हस्त से मराठों को जागीर देना शुरू किया क्योंकि इसी आधार पर मराठे उसका पक्ष ले सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य में जागीरदारों की संख्या अधिक थी और उन्हें जागीर के रूप में भूमि देने के लिए कोई जगह शेष न बची थी। इसी से यह कहा जाने लगा कि मनसब प्राप्ति के पश्चात् जागीर मिलने में इतनी देर हो जाती थी कि नौजवान के बाल सफेद हो जाते थे।[1] ऐसी अव्यवस्था में जब जागीरों का तबादला होता तो जागीरदार यह जानकर कि नयी जागीर मिलने में अत्यधिक देर होगी अथवा सम्भव है उसके जीतेजी दूसरी जागीर उसके नाम न लिखी जा सके, अधिकारियों को घूस देकर उसे रुकवा लेते थे। इस प्रकार औरंगजेब के समय में जागीरदारी प्रथा में घूसखोरी और जड़ गई। खान्नदराम मुखलिस ने 1712-19 के बीच का जो वर्णन किया है उसके अनुसार मनसबदारों को दी जाने वाली जागीर कागज पर ही रह जाती थी।[2]

इन कमियों के अतिरिक्त राज्य को जागीरदारी से यह भी हानि थी कि जागीरदार राज्य से सैनिक सेवा के बदले में जागीर प्राप्त करने के बाद भी निश्चित और सुसज्जित सैनिक नहीं रखते थे। राज्य इस प्रकार से धन खर्च करने के बाद भी अच्छे सैनिकों की सेवा से वंचित रहता था।

जमींदारों और जागीरदारों के अतिरिक्त 'वतन जागीर' भी मुगलकाल में प्रचलित थी। वे जमींदार जो मुगल सेवा में मनसबदार भी थे उन्हें अपने ही अधिकार क्षेत्र की मालगुजारी (जमा) के बराबर मनसब प्राप्त हो जाता था जिसे 'वतन जागीर' कहते थे। वतन जागीर प्रायः वंशानुगत होती थी और प्राप्त करने वाले की मृत्यु के पश्चात् सम्राट द्वारा नियुक्त उसके उत्तराधिकारी को मिल जाया करती थी। जसवन्तसिंह के 1679 में मर जाने पर जब औरंगजेब ने जोधपुर की वतन जागीर को खालसा घोषित कर दिया तो राठौड़ों ने परम्परा के विरुद्ध इस कार्यवाही का विरोध किया।[3] जब कभी 'वतन जागीर' के मनसबदार अपनी जागीर की आय से अधिक का मनसब प्राप्त कर लेते थे तो उन्हें अतिरिक्त जागीर तनख्वाह जागीर के रूप में दे दी जाती थी। महाराजा जसवन्तसिंह को मारवाड़ 'वतन जागीर' के रूप में मिला था परन्तु मनसब बढ़ने पर हिसार की जागीर 'तनख्वाह जागीर' के रूप में मिली थी।[4] गुजरात का सूबेदार नियुक्त होने पर उनको ये जागीर स्थानांतरित कर दी गई थी।

---

1 श्रीवास्तव, एच एस —मुगल शासन प्रणाली, पृ 163
2 चन्द्र, सतीश—पार्टीज एण्ड पोलिटिक्स एट द मुगल कोर्ट, पृ 29.
3 चन्द्र, सतीश—वही, पृ 31–32.
4 श्रीवास्तव, एच एस —वही, पृ 163–64

इनके अतिरिक्त 'मदद ए माश' की भूमि देना भी प्रचलित था। अकबर के समय में मदद ए माश, विद्वान, धार्मिक और विप्रजन (जिनमे जीविकोपार्जन की शक्ति न थी, तथा श्रेष्ठ कुल के वे लोग जो अज्ञानवश नौकरी नही करते थे) आदि लोगो को दी जाती थी। यह भूमि स्थानान्तरित नही की जाती थी तथा प्राप्तकर्ता की मृत्यु तक रही उसका उपभोग किया जा सकता था। यदि प्राप्तकर्ता की मृत्यु के बाद उक्त परिवार मे साहित्यिक, धार्मिक परम्परा कायम रहती तो यह उस परिवार को पुन दे दी जाती थी। 'मदद-ए माश' की भूमि समस्त लोगो को बगैर किसी धार्मिक विभेद के दी जाती थी। बदायुनी को इस प्रकार की भूमि मिली थी। व्यक्तियो के अतिरिक्त यह संस्थाओ को भी दी जाती थी जिसे 'वक्फ' कहते थे। मस्जिदें, दरगाह, मदरसे इसके अन्तर्गत आते थे।

जहाँगीर ने 'मदद ए-माश' की तरह 'अलतमगा' नाम से लोगो को जागीरें दी। ये जागीरें अमीरो को इसलिए दी गईं कि वे अपना परिवार स्थाई रूप से रख सकें। क्योकि ऐसे फरमानो पर सम्राट की अलतमगा नामक मुहर लगाई जाती थी इसलिए इन्हे इस नाम से पुकारने लगे।

इस पृष्ठभूमि के आधार पर भू राजस्व का मूल्यांकन किया जा सकता है। अंग्रेजों द्वारा भारत पर अधिकार करने के बाद मूल रूप से इसी ढांचे को अपनाना इस बात का प्रमाण है कि अकबर द्वारा संगठित भू राजस्व व्यवस्था ठोस सिद्धान्तो पर आधारित थी। विंसेंट स्मिथ, जो कि पूर्व ब्रिटिश शासन के किसी भी प्रकार से प्रशसक नही कहे जा सकते, भी इसकी पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार, "संक्षेप मे यह पद्धति प्रशसनीय थी। निहित सिद्धान्त सुदृढ थे, और अधिकारियो को दिये गये व्यावहारिक निर्देश नितान्त वाछनीय"।[1] मोरलैण्ड के अनुसार भी अकबरकालीन बदोबस्त ब्रिटिशकालीन बदोबस्त के समान ही था और कुछ बातो मे ये पूर्णतया आधुनिक है।[2]

परन्तु इसके बाद भी भू राजस्व व्यवस्था मे कई दोष थे। सर्वप्रथम लगान वसूली की दर मध्यम श्रेणी के किसानो के लिए बोझिल थी क्योंकि भूमि के विभाजन तथा उपज की तालिका मे औसत निकाल कर मालगुजारी वसूल की जाती थी। ऐसी स्थिति मे ऐसे किसानो से जिनके पास दूसरी और तीसरी श्रेणी की भूमि थी उन्हे पहली श्रेणी के किसानो से अधिक मालगुजारी देनी पडती थी। क्योकि इन श्रेणियो के किसानो की सख्या तुलनात्मक आधार पर पहली श्रेणी के किसानो से अधिक थी इसलिए यह किसानो के हित में नहीं थी। इसके अतिरिक्त क्योकि अधिकतर भूमि

---

1. नागर, डा राजेन्द्रनाथ—महान् मुगल अकबर पृ 405-06
2. मोरलैण्ड, डब्ल्यू. एच —द रेवेन्यू एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ यूनाइटेड प्रोविन्सेज, पृ 16.

जटिल होती गई। औरंगजेब के समय मे उसकी दक्षिण नीति के फलस्वरूप यह व्यवस्था, अव्यवस्था मे बदल गई। उसने दक्षिण पर अधिकार करने के लिए मुक्त-हस्त से मराठो को जागीर देना शुरू किया क्योकि इसी आधार पर मराठे उसका पक्ष ले सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य मे जागीरदारो की संख्या अधिक थी और उन्हे जागीर के रूप मे भूमि देने के लिए कोई जगह शेष न बची थी। इसी से यह कहा जाने लगा कि मनसब प्राप्ति के पश्चात् जागीर मिलने में इतनी देर हो जाती थी कि नौजवान के बाल सफेद हो जाते थे।[1] ऐसी अव्यवस्था मे जब जागीरो का तबादला होता तो जागीरदार यह जानकर कि नयी जागीर मिलने मे अत्यधिक देर होगी अथवा सम्भव है उसके जीतेजी दूसरी जागीर उसके नाम न लिखी जा सके, अधिकारियो को घूस देकर उसे रुकवा लेते थे। इस प्रकार औरंगजेब के समय में जागीरदारी प्रथा मे घूसखोरी और जुड गई। आनन्दराम मुखलिस ने 1713-19 के बीच का जो वर्णन दिया है उसके अनुसार मनसबदारो को दी जाने वाली जागीर *कागज पर ही रह जाती थी।*[2]

इन कमियो के अतिरिक्त राज्य को जागीरदारी से यह भी हानि थी कि जागीरदार राज्य से सैनिक सेवा के बदले मे जागीर प्राप्त करने के बाद भी निश्चित और सुसज्जित सैनिक नही रखते थे। राज्य इस प्रकार से धन खर्च करने से बाद भी अच्छे सैनिको की सेवा से वचित रहता था।

जमीदारो और जागीरदारो के अतिरिक्त, 'वतन जागीर' भी मुगलकाल में प्रचलित थी। वे जर्मीदार जो मुगल सेवा मे मनसबदार भी थे उन्हे अपने ही अधिकार क्षेत्र की मालगुजारी (जमा) के बराबर मनसब प्राप्त हो जाता था जिसे 'वतन जागीर' कहते थे। वतन जागीर प्राय वशानुगत होती थी और प्राप्त करने वाले की मृत्यु के पश्चात् सम्राट द्वारा नियुक्त उसके उत्तराधिकारी को मिल जाया करती थी। जसवन्तसिंह के 1679 मे मर जाने पर जब औरंगजेब ने जोधपुर की वतन जागीर को खालसा घोषित कर दिया तो राठोडो ने परम्परा के विरुद्ध इस कार्यवाही का विरोध किया।[3] जब कभी 'वतन जागीर' के मनसबदार अपनी जागीर की आय से अधिक का मनसब प्राप्त कर लेते थे तो उन्हे अतिरिक्त जागीर तनख्वाह जागीर के रूप मे दे दी जाती थी। महाराजा जसवन्तसिंह को मारवाड 'वतन जागीर' के रूप में मिला था परन्तु मनसब बढने पर हिसार की जागीर 'तनख्वाह जागीर' के रूप मे मिली थी।[4] गुजरात का सूबेदार नियुक्त होने पर उनकी ये जागीर स्थानांतरित कर दी गई थी।

---

1 श्रीवास्तव, एच एम.—मुगल शासन प्रणाली, पृ 163.
2 चन्द्र, सतीश—पार्टीज एण्ड पोलिटिकिस एट द मुगल कोर्ट, पृ. 29.
3. चन्द्र, सतीश—वही, पृ. 31–32.
4. श्रीवास्तव, एच.एस.—वही, पृ. 163–64.

इनके अतिरिक्त 'मदद-ए-माश' की भूमि देना भी प्रचलित था। अकबर के समय में मदद-ए-माश, विद्वान, धार्मिक और विप्रजन (जिनमें जीविकोपार्जन की शक्ति न थी, तथा श्रेष्ठ कुल के वे लोग जो अज्ञानवश नौकरी नहीं करते थे) आदि लोगों को दी जाती थी। यह भूमि स्थानान्तरित नहीं की जाती थी तथा प्राप्तकर्ता की मृत्यु तक रही उसका उपभोग किया जा सकता था। यदि प्राप्तकर्ता की मृत्यु के बाद उक्त परिवार में साहित्यिक, धार्मिक परम्परा कायम रहती तो यह उस परिवार को पुनः दे दी जाती थी। 'मदद-ए-माश' की भूमि समस्त लोगों को बगैर किसी धार्मिक विभेद के दी जाती थी। बदायूनी को इस प्रकार की भूमि मिली थी। व्यक्तियों के अतिरिक्त यह संस्थाओं को भी दी जाती थी जिसे 'वक्फ' कहते थे। मस्जिदें, दरगाहें, मदरसे इसके अन्तर्गत आते थे।

जहाँगीर ने 'मदद-ए-माश' की तरह 'अलतमगा' नाम से लोगों को जागीरें दी। ये जागीरें अमीरों को इसलिए दी गईं कि वे अपना परिवार स्थाई रूप से रख सकें। क्योंकि ऐसे फरमानों पर सम्राट की अलतमगा नामक मुहर लगाई जाती थी इसलिए इन्हें इस नाम से पुकारने लगें।

इस पृष्ठभूमि के आधार पर भू राजस्व का मूल्यांकन किया जा सकता है। अंग्रेजों द्वारा भारत पर अधिकार करने के बाद मूल रूप से इसी ढाँचे को अपनाना इस बात का प्रमाण है कि अकबर द्वारा संगठित भू-राजस्व व्यवस्था ठोस सिद्धान्तों पर आधारित थी। विंसेंट स्मिथ, जो कि पूर्व ब्रिटिश शासन के किसी भी प्रकार से प्रशंसक नहीं कहे जा सकते, भी इसकी पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार, "संक्षेप में यह पद्धति प्रशंसनीय थी। निहित सिद्धान्त शुद्ध थे, और अधिकारियों को दिये गये व्यावहारिक निर्देश नितान्त वांछनीय"।[1] मोरलैण्ड के अनुसार भी अकबरकालीन बंदोबस्त ब्रिटिशकालीन बंदोबस्त के समान ही था और कुछ बातों में ये पूर्णतया आधुनिक है।[2]

परन्तु इसके बाद भी भू राजस्व व्यवस्था में कई दोष थे। सर्वप्रथम लगान वसूली की दर मध्यम श्रेणी के किसानों के लिए बोझिल थी क्योंकि भूमि के विभाजन तथा उपज की तालिका में औसत निकाल कर मालगुजारी वसूल की जाती थी। ऐसी स्थिति में ऐसे किसानों से जिनके पास दूसरी और तीसरी श्रेणी की भूमि थी उन्हें पहली श्रेणी के किसानों से अधिक मालगुजारी देनी पड़ती थी। क्योंकि इन श्रेणियों के किसानों की संख्या तुलनात्मक आधार पर पहली श्रेणी के किसानों से अधिक थी इसलिए यह किसानों के हित में नहीं थी। इसके अतिरिक्त क्योंकि अधिकतर भूमि

1. नागर, डा राजेन्द्रनाथ—महान् मुगल अकबर पृ 405–06.
2. मोरलैण्ड, डब्ल्यू. एच.—द रेवेन्यू एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ यूनाइटेड प्रोविन्सेज, पृ 16.

खालसा न होकर जागीरदारी, मदद-ए-माश तथा वतन जागीर के रूप में ही थी इसलिए इस प्रकार की भूमि पर राजस्व सम्बन्धी नियमों को कड़ाई से लागू करना सम्भव न था। ऐसी स्थिति में गैर-स्वीकृत कर किसानों से वसूल किये जाते रहे। अनेकों बार इन करों को वसूल न करने के आदेश जारी किये गये परन्तु उनका कोई परिणाम न निकला। 1668 में औरंगजेब से शिकायत की गई कि मालपुरा का फौजदार 'खुराक-ए-असपान' व गऊ चराई कर वसूल करता है। स्वाभाविक रूप से उसे दण्ड मिलना चाहिये था परन्तु उसे केवल आदेश दिया गया कि वह ये कर वसूल न करे।[1] यदि केन्द्र के निकट वाले प्रदेश में इस प्रकार की अव्यवस्था थी तो दूरवर्ती प्रदेशों में क्या स्थिति रही होगी, इसका आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता है। स्वयं सरकारी अधिकारी किसानों से अनेक गैर-स्वीकृत कर तथा सुविधाएँ प्राप्त कर लेते थे।

किसानों का भूमि से सम्बन्ध व उनकी दशा के बारे में विद्वानों में मतभेद है। विभिन्न यूरोपीय यात्रियों के अनुसार सम्राट भूमि का स्वामी था[2] परन्तु डा० इरफान हबीब का मत है कि भूमि का स्वामी न तो किसान था और न ही सम्राट किसान का कुछ परिस्थितियों में निर्धारित का अधिकारी था। सामान्य रूप से किसान न तो अपनी भूमि को बेचने का अधिकारी था और न ही उसमें बेदखल किया जा सकता था। उसे भूमि सम्बन्धी मौरूसी अधिकार ही प्राप्त थे और राज्य द्वारा ऐसी भूमि को मान्यता देने के आदेश थे। यदि किसान भूमि छोड़कर चला जाता, जैसा कि अक्सर हुआ करता था तो सरकारी कर्मचारियों को आदेश थे कि वे उन्हें समझा-बुझाकर पुनः खेती करने के लिए तत्पर करें।[3]

डा० कुरैशी का मत है कि किसान मुगल काल में खुशहाल थे क्योंकि किसानों की आवश्यकतायें आसानी से पूरी हो जाती थी और राज्य की ओर से कृषि के लिए हर सम्भव प्रोत्साहन दिया जाता था। राज्य यह भली प्रकार से समझता था कि किसानों की खुशहाली पर ही राज्य की खुशहाली निर्भर करती है इसलिए सेना को आदेश था कि फसल को किसी प्रकार का नुकसान न पहुँचाया जावे। यदि कभी नुकसान हो जाता तो राज्य, किसान को मुआवजा देता था। राज्य सदैव ही इसके लिए प्रयत्नशील था कि अधिक से अधिक अच्छी भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाया जावे और किसान द्वारा नई भूमि को उपज के योग्य बनाने पर राज्य की ओर से विशेष छूट दी जाती थी।[4] फसल की किस्म को अच्छा बनाने के लिए भी हर सम्भव

1 अली, अतहर—वही, पृ 82
2 बर्नियर—वही, पृ 204.
3. हबीब, आई —वही, पृ. 220-30
4. कुरैशी, आई एच.—वही, पृष्ठ 174

प्रयत्नशील थे जैसे अकबर ने आलू की फसल उगाने का प्रयत्न किया और जहांगीर ने अनेक प्रकार के अंगूरो की उपज करवाई। तम्बाकू और तरबूज भी पैदा किये जाने लगे और मुहम्मद रिदा को जिसने पहली बार तरबूज उगाये थे सम्मानित किया गया।

डा कुरेशी[1] ने आगे लिखा है कि मुगलो के लिए उपज को बढाना आवश्यक भी था क्योकि उस काल में राज्य से विशेषकर गेहूँ और चावल का निर्यात किया जाता था। निर्यात के लिए जरूरी था कि उपज को लगातार बढाया जावे जिससे कि आन्तरिक मागो की पूर्ति के बाद निर्यात अच्छी मात्रा मे किया जा सके। क्योकि जनसख्या कम थी और अनुपातिक रूप में किसानो की भी सख्या कम थी इसलिए यदि उपज कम हुई तो यह अप्रत्यक्ष रूप से उद्योगो को प्रभावित करती और कपडे, चीनी, चमडे का सामान आदि जो निर्यात होता था उसको धक्का लगता। राज्य इसलिए इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता था कि उपज बढती जावे जिससे निर्यात की मात्रा मे कमी न हो।

इस आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि यद्यपि मुगल काल मे किसानो को सुविधाएँ प्राप्त थी परन्तु साथ ही साथ उनका शोषण भी होता था और उनसे अनेक गैर-स्वीकृत कर भी वसूल किये जाते थे जिससे कि वे भूमि को छोडकर भाग जाते थे। बहुत से किसान खालसा भूमि को छोडकर जमीदारी क्षेत्र मे चले जाते थ। औरगजेब के काल मे बहुत से किसान तालकोकण को छोडकर जमीदारी क्षेत्र मे चले गये और उनको जबरदस्ती वापिस लाकर छ सौ गावो मे बसाया गया। इससे किसानो की स्थिति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। इसी प्रकार से अब यह भी स्वीकार किया जाता है कि औरगजेब के समय मे जो जाटो और सतनामियो के विद्रोह हुए उनमे मूलत किसानो का असतोष ही महत्वपूर्ण कारण था।[2] इस प्रकार किसान न तो अधिक सुखी ही थे और न ही उनका जीवन यातनाओ से ही भरा था।

---

1. कुरेशी, आई एच —वही, पृ. 177.
2. सतीश चन्द्र,—वही, पृ. 9–11.

9

मध्यकाल में व्यापार व उसकी व्यवस्था

प्राचीन काल मे ही भारत विदेशो से व्यापार करता रहा है। 3000 ई पू मे भारत के बेबीलोनिया से व्यापारिक सम्बन्ध थे। ईसा से 1000 वर्ष पूर्व मिस्र की 'मम्मी' भारतीय मलमल मे लिपटी हुई मिली है। इसी प्रकार से रोम को अनेक भारतीय वस्तुओ का निर्यात किया जाता था। प्लिनी ने लिखा है कि प्रत्येक वर्ष भारत को वस्तुओ के मूल्य के रूप में काफी धन भेजा जाता था। सम्पूर्ण व्यापार को दृष्टिगत करने से यह परिणाम निकलता है कि देश म सोना अधिक आता था जिसका अर्थ था कि भारत मे आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक था जो कि भारतीय व्यापार की उस युग में विशेषता थी।

भारतीय अमीर वर्ग विदेशो से सुख-विलास की चीजें आयात करने के इच्छुक रहते थे। स्वय सुल्तान विदेशो से घोडो का आयात कर अपनी सैनिक साज-सज्जा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे। इन समस्त कारणो ने आन्तरिक और विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित किया और व्यापार करने की एक परम्परा को स्थापित किया। देश मे सडकें, जो कि मुख्यत सैनिक सचारण के लिए ही उचित अवस्था मे बनाये रखी जाती थी, उन्हे ही व्यापारी भी उपयोग मे लेते थ। यद्यपि देश मे आधुनिक प्रकार के नाविक साधन उपलब्ध नही थे और समुद्री यात्रा कठिन ही नही अपितु हानिकारक और सकटपूर्ण भी थी, परन्तु इन कठिनाइयो के होते हुए भी सामुद्रिक व्यापार भारतीयो में लोकप्रिय था। भारतीय व्यापारी अनेक देशो से व्यापारिक सबन्ध रखते थे। समुद्री डाकुओ के लूट का भय भी अनवरत बना हुआ था परन्तु एक ही सफल यात्रा मे इस समस्त हानि की पूर्ति की मरीचिका ने व्यापारी वर्ग को समुद्री व्यापार करने के लिए प्रोत्साहित किया। कुछ व्यापारियो ने विभिन्न देशो मे अपनी व्यापारिक सस्थाओ की स्थापना कर रखी थी जिनके माध्यम से वे व्यापार करते थ। आन्तरिक व्यापार मे अधिक कठिनाईयाँ नही थी क्योकि

सामान को ढोने वाले सगठन व्यवस्थित थे। इन कारणो से आन्तरिक और विदेशी व्यापार की गति और क्षेत्र व्यापक थे।

सल्तनत काल मे आन्तरिक व्यापार पर मुख्य रूप से एक विशेष वर्ग का अधिकार था जिन्हें वैश्य कहते थे। उत्तरी भारत के गुजराती अथवा मारवाड़ी और दक्षिण भारत के चेट्टी इस काल में भी व्यापारिक गतिविधियों में अपनी सम्मानित स्थिति को बनाये हुए थे। राजपूताने मे बजारा कही जाने वाली जात अब भी अनाज के वाहको के रूप मे मान्य है और इनमें से अनेक 40,000 बैलो के काफिले के स्वामी थे जो अनाज ढोने का काम करते थे।

गावो में साप्ताहिक बाजार उस समय में भी प्रचलित थे जहा अनेक छोटे-छोटे व्यापारी अपने सामान को घोड़ों पर अथवा ठेलो मे बेच नेके लिए लाते थे। फेरी वाले और भ्रमणकारी व्यापारी भी साधारण रूप में भाग लेते थे। गाव के ये बाजार अधिकतर खुदरा व्यापार तक ही सीमित थे। व्यापार मुख्यतः कस्बों अथवा शहरो की मण्डियो मे होता था जहा पर अतिरिक्त अथवा अधिशेष अनाज था। दूसरी तैयार वस्तुओ का भी क्रय-विक्रय यही होता था। मुल्तान लाहौर और देहली जैसे शहर अथवा प्रशासकीय इकाई बडी मडियो के रूप में काम आते थे। वार्षिक अथवा पाक्षिक मेलो के अवसरों पर आसपास के व्यापारी अपने भण्डार को बचते थे तथा नयी वस्तुएँ प्राप्त करते थे। पशु मेले इस काल मे विशिष्ट स्थानो पर लगने थे जहा हर प्रकार के पशु क्रय-विक्रय के लिए प्रस्तुत किये जाते थे और इन मेलो मे दूर दूर से व्यापारी भाग लेने आते थे।

विस्तृत आधार पर व्यापार विशेष वर्गों के ही हाथो मे था। इन वर्गों में उत्तरी भारत के मुल्तानी और पश्चिमी तट के गुजराती प्रसिद्ध थे। गुजराती व्यापारी मलाबार और कोचीन तक फैले हुए थे और दोनो ही आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार करते थे। विदेशी मुसलमान साधारण रूप से खुरासानी सज्ञा से प्रसिद्ध थे और समुद्री तटो के अतिरिक्त समस्त देश में व्यापार करते थे। तटीय प्रदेश के शासको ने विदेशी व्यापारियो को उनके राज्यकोष मे अधिक कर देने के कारण विशेष सुविधायें प्रदान की थी। दक्षिण भारत मे उत्तरी भारत के व्यापारियो को भी अनेक सुविधायें प्राप्त थीं।

इन व्यापारिक वर्गो के अतिरिक्त दलालों का अलग से एक समूह था जो यद्यपि स्वय व्यापार नहीं करते थे, परन्तु अधिकतर बडी मात्रा मे आन्तरिक और तटीय व्यापार इनके माध्यम से ही चलाया जाता था। ये अपना कमीशन दोनो ही पार्टियो से वसूल करते थे जिससे वस्तुओ का मूल्य बढ़ जाता था। अलाउद्दीन खलजी ने जब बाजार नियन्त्रण का प्रयोग किया तो उसे सबसे पहले इस वर्ग की गतिविधियों का अन्त करने के लिए कठोर कदम उठाने पडे। अलाउद्दीन की मृत्यु पर

जब बाजार नियन्त्रण अपनी पतनावस्था को पहुँच गया तो उसी के साथ पुन. दलालो का व्यापार पर अधिकार बढ गया। फीरोज तुगलक के समय तक इनकी स्थिति इतनी सुदृढ हो चुकी थी कि यह आवश्यक समझा गया कि इनकी गतिविधियो को कानून के अन्तर्गत व्यवस्थित किया जावे। इसके साथ ही इस समय म बड़े-बड़े व्यापारी मण्डियो अथवा प्रमुख शहरो मे अपने ऐजेन्ट रखते थे, जो इन जगहो पर अपन स्वामियो के व्यापार की व्यवस्था करते थे। व्यापारियो को ब्याज पर धन उधार दिया जाता था जिसकी दर राज्य के द्वारा निर्धारित थी। ब्याज सम्बन्धी सब मुकदमो की सुनवाई राज्य के न्यायालयों म होती थी।

इस काल मे हिन्दू और मुसलमान दोनो ने ही ऋण देन के धन्धे को अपना लिया था। यद्यपि शरियत के अनुसार ब्याज लेना वर्जित था, परन्तु फिर भी यह देते थे। साधारण ब्याज की दर निश्चित नहीं थी परन्तु फिर भी यह आभास होता है कि कम धन-राशि पर 20 व अधिक धन-राशि पर 10 प्रतिशत प्रति वर्ष वसूल किया जाता था। गरीब लोग चक्रवर्ती ब्याज के बोझ से इतने दब जाते थे कि उनके लिए ऋण को चुकाना सम्भव नहीं होता था। अमीर वर्ग अपने साधनो तथा शक्ति के आधार पर इसमें परिवर्तन करवा लिया करते थे।

व्यापारी वर्ग के कोई नैतिक माप दण्ड होने की सभावना कम ही है क्योंकि सम्पूर्ण मध्ययुग म समस्त देशों मे व्यापारी प्रत्येक प्रकार की बेईमानी को माध्यम बनाकर धन कमाने मे कोई हिचकिचाहट नही दिखाते थे। मिलावट व नाप-तौल के बाटो मे हेरफेर करना बड़ी साधारण बात थी और उपदेश देकर इनको सुधारना सम्भव नही था। इसलिए अलाउद्दीन को बाजार नियन्त्रण लागू करत समय व्यापारी वर्ग की बेईमानियो पर अकुश लगाने के लिए अत्यन्त कठोर साधनों का उपयोग करना पड़ा था। न केवल उसने मुखार अधिकारियो की नियुक्ति की, अपितु गुप्तचरो को भी भारी सख्या मे नियुक्त किया और इसके बाद भी समय-समय पर वह छद्म-भेष मे छोटे-छोटे बच्चो को भेजकर इन व्यापारियो की गतिविधियो की जानकारी लेता था। कम तोलने वाले व्यापारी के शरीर से उतना ही मास काट कर निकाल लिया जाता था। इस कठोर व्यवस्था के आधार पर ही अलाउद्दीन अपने राज्यकाल मे व्यापारी वर्ग के द्वारा अपनाई गई अनियमितताओ को रोकने मे समर्थ हुआ चाहे व्यापार पर इसका विपरीत प्रभाव ही क्यो न पड़ा हो। आन्तरिक व्यापार में भले ही कठोर नियम बनाये गये हो परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि तटीय व्यापारिक मडियो में जहा भारतीय विदेशियो से व्यापार करते थ वहा उन्होने सत्यता और ईमानदारी का जो आदर्श रक्खा वह अद्वितीय था। सामान्यत प्रत्येक विदेशी भारतीय व्यापारियो की ईमानदारी और सत्यनिष्ठा से अत्यधिक प्रभावित था जो कि नाप-तौल म सही बाटो का प्रयोग करते थे, पूरा तौल कर देते थे और व्यापार मे उचित साधनो का ही प्रयोग करते थे। उनका तौल अनुकरणीय था।

समकालीन स्रोतो से आन्तरिक व्यापार का अन्दाजा लगाना सम्भव नही है। गावो की मन्डियो मे तथा बडे-बडे नगरो मे व्यापार की गति अधिक तेज थी।

सुल्तनत काल मे आन्तरिक व्यापार मे कई गतिरोध थे। भिन्न-भिन्न प्रान्तो ने अनेक प्रकार के टैक्स और चुगी लगा रक्खे थे जिनके कारण इन प्रान्तो मे स्वतन्त्र रूप से वस्तुओ का लाना-लेजाना एक प्रकार मे अवरुद्ध ही था। अलाउद्दीन खलजी के समय को छोडकर अनाज के व्यापार पर एक सूबे से दूसरे सूबे मे ले जाने पर कोई प्रतिबन्ध नही था, वस्तुतः समस्त सल्तनत काल इस व्यापार-विरोधी नीति का शिकार रहा। इसके अतिरिक्त अलग-अलग सूबे के अधिकारी व्यापारियो से नौघाट चुगी के रूप मे धन-वसूल करते थे जिसमे कि वस्तुओ का मूल्य स्वतः ही बढ जाता था। ऐसे सम्बन्धो के होते हुए व्यापार मे वृद्धि होना सम्भव नहीं था और व्यापार मे इस गिरावट के साथ ही राज्य की आर्थिक दशा और साधारण वर्ग की सम्पन्नता को ठेस पहुँचना स्वाभाविक ही था।

आन्तरिक व्यापार के साथ ही विदेशी व्यापार भी भारत प्राचीन समय से करता चला आ रहा था। इस्लाम के उत्थान और समुद्रो पर विदेशी एकाधिकार होने के कारण इस काल मे उसका यूरोप से सीधा सम्पर्क नही रहा था परन्तु इससे भारतीय व्यापार अथवा यूरोपीय देशो मे भारतीय माल के पहुँचने पर कोई विशेष प्रतिक्रिया नही हुई थी। अरबो के द्वारा भारतीय माल यूरोपीय देशो को पहुँचता था, जहा से पूर्वी अफ्रीका, सुदूर पूर्व तथा चीन तक भेजा जाता था। इसी प्रकार से भारत का मध्य एशिया, अफगानिस्तान, फारस आदि देशो से भी सम्बन्ध था और भारत, बुखारा, ईराक आदि के बीच साधारणतया व्यापारिक काफिले आते-जाते रहते थे।

16 वी शताब्दी के मध्य तक (पुर्तगालियो के आने के पहले) भारत का सामुद्रिक व्यापार मुरीश व्यापारियो के हाथों में था जिनका इस पर एकाधिकार था। थल व्यापार मगोल आक्रमणकारियो के कारण अधिक अस्थिर तथा असुरक्षित था। व्यापार की मात्रा अधिक न थी और आयात होने वाली वस्तुओं में अमीर वर्ग के लिए भोग-विलास की वस्तुएँ ही प्रमुख थी। भोग-विलास की वस्तुओ में रेशमी कपडे, *मलमल, मुलायम चमडा, कामदार पर्दे तथा इसी प्रकार की दूसरी वस्तुएँ* थी। जरी, कमखाब, रेशमी कपडा मुहम्मद तुगलक के समय में चीन, ईराक आदि से आयात किया जाता था। इसी प्रकार से पश्चिमी देशो से अनेकानेक चीजें आयात की जाती थी। इनके अतिरिक्त घोडो का आयात भी अत्यधिक था और बगैर जाति-भेद के प्रत्येक राजा अथवा सुल्तान मध्य एशिया से घोडे मगवाता था। अपनी सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त घोडे सवारी, सामान ढोने आदि के काम मे भी लिये जाते थे। सुल्तानो द्वारा समय-समय पर अमीरो को भेंट करने के लिये अच्छी

नस्ल के घोड़ों का आयात किया जाता था। दक्षिणी भारत के शासक भी घोड़ो का आयात करने मे पीछे नही थे विशेषकर ऐसे प्रदेशो के शासक, जहाँ जलवायु के कारण अच्छी नस्ल के घोड़ो को पालना लाभप्रद नही था।

सामुद्रिक व्यापार के अतिरिक्त थल से भी व्यापार की मात्रा अधिक थी। तुर्कों तथा मगोलो को जब कभी भी अपने व्यस्त आक्रमणकारी जीवन से राहत मिलती तो वे तुरमनि, कस्तूरीमृग, लोचर्म घोड़े, ऊट आदि भारत के बाजारो मे लाते थे। इन सब वस्तुओ मे घोडो का आयात प्रमुख था क्योंकि एक ओर तो ये सस्ते थे और दूसरे इनकी भारत के नगरो मे अधिक माग थी। तुर्किस्तान में कई स्थानो पर विशेष रूप से भारत को निर्यात करने के लिए घोड़े पाले जाते थे। इनको यहाँ तक भेजने की समुचित व्यवस्था कर रक्खी थी। भारतीय सीमा में आने पर इनको घोड़े के अनुमानित मूल्य का 1/4 भाग टैक्स के रूप मे देना पड़ता था। सुल्तान मुहम्मद तुगलक के समय में इन व्यापारियो से पहली बार सिन्ध की सीमा पर 7 टक प्रति घोड़े के रूप मे और फिर मुल्तान की सीमा पर टैक्स लिया जाता था, परन्तु फिर भी यह टैक्स पहले की अपेक्षा कम ही था। निश्चित था कि टैक्स के कम होने से घोडो के आयात मे वृद्धि हुई होगी मगर समकालीन इतिहास मे कोई ऐसा विवरण नही है जिसके आधार पर इसकी मात्रा को निश्चित किया जा सके।

भारत के निर्यात व्यापार में मुख्यत. खाद्यान्न व कपडा था। खाद्यान्नो मे गेंहू, चावल, दालें, बाजरा, तिलहन आदि थे। फारस की खाडी के अनेको देश पूर्णतया भारतीय खाद्यान्नो के निर्यात पर ही निर्भर थे। यमन म चावल भारत से ही भेजा जाता था। खाद्यानो के बाद सूती तथा अन्य प्रकार के कपडे प्रमुख निर्यात की चीजें थी। बगाल से कपडे, चीनी, अनाज आदि का निर्यात काफी मात्रा मे होता था। गुजरात स बहुमूल्य पत्थर, सूती कपडा, नील आदि निर्यात किये जाते थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत की सुगन्धित लकडिया, उत्तरी भारत की अफीम भी निर्यात की जाती थी। निर्यात के प्रमुख बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे और ये तुर्की सीरिया, फारस, अफ्रीका, इथोपिया आदि की समस्त मागो की पूर्ति करते थे। समकालीन स्रोतों से ऐसा अनुभव होता है कि फारस की खाडी, अरब सागर व लाल सागर के सीमावर्ती देशो म भारतीय माल की माग थी। इन सब के बाद भी यह अनुमान लगाना अत्यधिक कठिन है कि भारत के निर्यात की मात्रा कितनी थी। समकालीन स्रोतों क आधार पर केवल यह जानकारी मिल पाती है कि खम्बात के बन्दरगाह पर प्रति वष 300 विदेशी जहाज आते थे, अथवा बगाल म रेशमी और सूती कपडों का उत्पादन लगभग 50 जहाजो को भरने के लिये काफी था। परन्तु फिर भी किसी प्रकार का सही अनुमान नही लगाया जा सकता, क्योकि एक ओर तो इन जहाजो के आयतन की हमे जानकारी नही है और दूसरी ओर अन्य वस्तुओ के निर्यात सम्बन्धी आकडे हमारे पास नही हैं।

सल्तनत काल मे व्यापार मे किसी प्रकार का विकास न हो सका। मुगलकाल के इतिहास के फारसी स्रोत यद्यपि शासक तथा उससे सम्बन्धित गतिविधियो के बारे मे अनेक प्रकार की जानकारी देते हैं, परन्तु व्यापार सम्बन्धी जानकारी इनमे पर्याप्त मात्रा में नहीं है।

अपनी आत्मकथा 'बाबरनामा' मे बाबर ने भारत और काबुल के बीच व्यापार का वर्णन किया है। उसके अनुसार इन दोनो देशो के बीच कन्धार व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। काबुल मे फरगना, तुर्कीस्तान, समरकन्द आदि के काफिले आते थे। मेवो का व्यापार उन्नत दशा मे था। भारत से प्रतिवर्ष लगभग 7000 घोड़े व 11000 ऊँट, कपड़े, गलीचे, कालीन, कम्बल, चीनी, जड़ी-बूटी आदि लेकर काबुल जाते थे। काबुल और भारत के बीच व्यापार की अत्यधिक मात्रा की ओर संकेत करते हुये बाबर ने लिखा है कि अनेको व्यापारी ऐसे थे जो 300 अथवा 400 घोड़ो से कम के काफिले को सामान ढोने के लिये प्रयुक्त करने के पक्ष में नहीं थे। काबुल में खुरासन, ईराक, चीन आदि की वस्तुएँ सहज ही सुलभ थी। यहा से अंगूर, आडू, तरबूज आदि भारत भेजे जाते थे। हुमायूं के समय में भी व्यापार में कोई परिवर्तन नही हुआ और निर्बाध रूप मे यह पहले की ही तरह चलता रहा।

शेरशाह के समय मे प्रशासकीय कठिनाईयो के कारण बगाल मे विदेशी वस्तुओ पर किसी प्रकार का आयात कर वसूल नही किया जाता था। पूर्वीतट पर कोई ऐसा प्राकृतिक स्थान नही था जहाँ सरलता से कर इकट्ठा किया जा सके। इसके अतिरिक्त अनेकों तटीय प्रदेश तथा उत्तर मे अनेकों दर्रे होने के कारण तस्कर व्यापार को रोकना अत्यन्त कठिन था, परन्तु इसके बाद भी यह मानना भ्रम होगा कि उसने चिटगाव और सतगाव के चुगीघरो को बन्द कर दिया होगा जिसकी महत्ता पुर्तगालियो के साथ व्यापार की वजह से काफी बढ गई थी। नकारात्मक प्रमाण के रूप में हम यह स्वीकार करते हैं कि यदि शेरशाह ने इन चुगीघरो में भी चुगी वसूल करने की मनाई की होती तो निश्चित ही पुर्तगाली इस ओर संकेत करते।

अकबर ने विदेशी व्यापार को बढाने में रुचि दिखाई और विशेषकर विलास की वस्तुओ का आयात बढ गया। निर्यात की वस्तुओ मे मुख्य रूप से सूती कपड़ा, ऊनी कपड़ा, नील आदि था। इग्लैंड से व्यापार का इस समय तक विकास न हो पाया था। पश्चिमी तट पर सूरत और हुगली के निकट सतगाव के बन्दरगाह व्यस्त रहते थे। चुगी की दर ऊँची न थी, परन्तु व्यापारियो पर चादी वहाँ ले जाने पर प्रतिबन्ध था।

अकबर स्वय व्यापारी था और व्यापार मे लाभ उठाने में उसे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही थी। चीन से काफी मात्रा में सम्राट और अमीरो के उपयोग के लिये चीनी, मिट्टी के बर्तन आयात किये जाते थे।

अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएं तैयार करवाते थे और समयानुसार उन्हें एकत्रित कर जहाजों में भेज दिया करते थे। 17 वीं शताब्दी के मध्य तक डच व्यापारियों ने कासिम बाजार में लगभग 700–800 रेशमी बुनकरों को अनुबंधित कर रखा था। इसी प्रकार अंग्रेज व्यापारियों ने भी 200–400 बुनकरों को रेशमी वस्त्र तैयार करने के लिये अनुबंधित कर रखा था। अधिकतर सामुद्रिक विदेशी व्यापार विदेशियों के ही हाथ में था और केवल फारस, तुर्की तथा तिब्बत के व्यापार का कुछ अंश जो कि थल ■ किया जाता था, भारतीय व्यापारियों के हाथ में था। इन देशों को जाने वाली वस्तुओं में सूती कपड़े, कुछ रेशमी कपड़े तथा मसाले प्रमुख थे।

विदेशी व्यापार की मात्रा का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि लगभग 24000 से 31000 टन माल विदेशों को प्रतिवर्ष निर्यात किया जाता था। अधिकतर ऐसी चीजें ही विदेशी व्यापारी भारत से खरीदते थे जिनमें लाभ का प्रतिशत अधिक हो। भारत में एक लाख पौंड के माल की कीमत इंगलैंड में लगभग चार लाख 92 हजार पौंड थी। यद्यपि यह ठीक है कि व्यापारियों को माल को विदेशी बाजारों में पहुँचाने के लिए अधिक किराया देना पड़ता था और साथ ही सुरक्षित रूप में माल पहुँचाने में जोखिम भी अधिक थी, परन्तु इसके बाद भी लाभ का प्रतिशत अत्यधिक था।

निर्यात की वस्तुओं में अफीम, रुई सूती कपड़े, धागे, रेशमी कपड़े, हीरे-जवाहरात, बहुमूल्य पत्थर, मसाले, चीनी, नील आदि प्रमुख थे। अफीम, चीन, फारम, जावा, बर्मा आदि को भेजी जाती थी। बिहार की अफीम बंगाल और खानदेश से और मालवा की अफीम सूरत के बन्दरगाह से भेजी जाती थी। रुई फारस तथा अरब को सूरत के बन्दरगाह से भेजी जाती थी। बंगाल के अतिरिक्त खानदेश और बरार में यह मुख्य रूप से पाई जाती थी। सूती धागे सूरत और अहमदाबाद से भेजे जाते थे। वस्त्रों के क्षेत्र में सूती वस्त्र सबसे अधिक मात्रा में निर्यात किये जाते थे। 17 वीं शताब्दी के पहले दक्षिणी एशिया, सुमात्रा, सुदूर पूर्व आदि देशों में इसका निर्यात अधिक था। 17 वीं शताब्दी में सूती वस्त्रों की मांग इंगलैण्ड में भी की जाने लगी थी। सूती कपड़ों पर चांदी और सोने का काम बनारस, अहमदाबाद, बिहार और आगरा में किया जाता था और पूर्वी तथा पश्चिमी तट के बन्दरगाहों से इसे बाहर भेजा जाता था। सूती कपड़ों में सबसे अधिक मांग मलमल की थी जो कि बहुत ही बारीक व अच्छी किस्म की बनाई जाती थी। छींट तथा बन्धेज के कपड़े भी यूरोपीय तथा एशिया के देशों को निर्यात किये जाते थे। 17 वीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप में जरी और ताफ्ता की मांग बढ़ गयी थी। रेशम को रंगने तथा बुनने की कला में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नेतृत्व में काफी सुधार हुआ था और इसलिये इसका निर्यात भी बढ़ गया था। उड़ीसा टसर (तसर) के लिए प्रसिद्ध था और वहां से ये विदेशों को निर्यात की जाती थी। हीरे-जवाहरात की खानें

सम्भलपुर से लेकर गोलकुंडा तक फैली हुई थी। हीरे गोआ के बन्दरगाह से ये बाहर भेजे जाते थे। चीनी, फ्राम, काबुल व फारस को भेजी जाती थी।

आयात व्यापार पर विचार करने के पहले उस क्षेत्र में आने वाली अनेक कठिनाइयों का विवरण आवश्यक है। विदेशी व्यापार मध्यकाल में भारत के पक्ष में था और इसलिए यहाँ पर बहुमूल्य धातु जैसे सोना और चांदी की अधिक माग थी, परन्तु इगलैण्ड के व्यापारी और सरकार अपने देश से इन बहुमूल्य धातुओं के निर्यात के विरोधी थे। अनेक वस्तुओं के निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था और यह आदेश निकाले गये थे कि यदि इन वर्जित वस्तुओं को कम्पनी के जहाजों में निर्यात किया जावेगा तो ऐसे समस्त जहाजों को जब्त कर लिया जावेगा तथा समस्त सामान कम्पनी अपने अधिकार में कर लेगी।

आयात की वस्तुओं में प्रमुख रूप से बहुमूल्य धातुएँ थी। सोना और चांदी चीन, जापान आदि से आता था और मुख्य रूप से सिक्के, आभूषण आदि बनाने के काम आता था। इनके अतिरिक्त कपड़ा, घोड़े, हाथी, हाथी दांत, तांबा और अनेक प्रकार की भोग विलास सम्बन्धी वस्तुएं थी। चीन से मिट्टी के बर्तन तथा रेशमी वस्त्र आते थे। यूरोप से शीशा, शराब तथा अन्य वस्तुएं आयात की जाती थी। आयात का अधिकतर भाग एशिया के देशों से ही आता था। यूरोपीय व्यापारियों के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि उन्हें भारत से व्यापार करने के लिये ऐसी वस्तुओं को ढूंढ निकालना था जिनकी यहा आवश्यकता हो, क्योंकि वहां से सोना और चांदी का निर्यात सम्भव नहीं था।

इस अध्ययन के फलस्वरूप हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अपर्याप्त मुगल इतिहास के स्रोतों के आधार पर निश्चय रूप से यह कहना कि मुगल शासकों की कोई व्यापारिक नीति थी, सम्भव नहीं है। बाबर और हुमायूं का राज्यकाल इतना अल्प समय का था कि उसमें किसी नीति को निर्धारित करने अथवा उसका समुचित विकास करने की कोई सम्भावना ही नहीं थी। अकबर के समय के शान्तिमय वातावरण में विकास सम्भव हो सका। यूरोपीय शक्तियाँ, जिन्होंने 17 वी शताब्दी के आरम्भ में अपनी यहां व्यापारिक कोठियाँ स्थापित की उनके सम्पर्क में आकर व्यापार और विकसित हो सका। दुर्भाग्यवश मुगल शासक सामुद्रिक शक्ति की महत्ता को समझने में असमर्थ थे जिसके कारण विदेशी व्यापार सदैव ही इन विदेशी व्यापारियों के हाथ ही में रहा जिसका इन्होंने भरपूर उपयोग किया। ऐसी स्थिति में व्यापार का विकास सम्भव न हो सका। आवागमन के मार्गों की असुरक्षा तथा पूंजी की कमी आन्तरिक व्यापार की बढ़ोतरी की गति को और अधिक धीमी करने में सहायक हुई।

औरंगजेब के अतिरिक्त समस्त मुगल सम्राट व्यक्तिगत व्यापार कर लाभ उठाने में रुचि रखते थे जिसके फलस्वरूप देश के व्यापार की आवश्यकताओं की पूर्ति

की अपेक्षा वे अपने व्यापारिक हितो की ओर अधिक ध्यान देते थे। ऐसी स्थिति मे समुचित रूप से व्यापार का विकास सम्भव नही था।

अधिकतर मुगल शासको ने कोई ठोस आर्थिक नीति का पालन नही किया। यह कहना दुस्साहस न होगा कि वे आर्थिक नीति से अवगत नही थे। अन्धाधुन्ध धन खर्च करने की आदत के कारण ही बाबर कलन्दर की सज्ञा से विख्यात हो गया। यह ठीक है कि अकबर के समय मे राजा टोडरमल के प्रभाव व व्यक्तित्व के कारण आर्थिक ढाँचा सभला था और व्यापार मे उन्नति हुई थी, परन्तु पुन जहागीर व शाहजहाँ के समय मे पुरानी नीति की पुनरावृत्ति हुई। शाहजहाँ द्वारा तख्तेताऊस व भवनो के निर्माण मे जिस प्रकार धन खर्च किया गया, अथवा "जसन" के अवसरो पर जिस अविवेक से धन बाटा गया उससे मुगल राज्य पुन दिवालिया-राज्य की परिधि मे पहुच गया। ये धन व्यापार और उद्योगो के विकास म भी खर्च किया जा सकता था। औरगजेब का राज्यकाल एक अन्तहीन सघर्ष का समय था जबकि वह उत्तर और दक्षिण मे युद्धो मे व्यस्त था, इस कारण इतना धन भी नही बच पाया कि व्यापार आदि के विकास म उसका उपयोग किया जा सके। उसकी मृत्यु के साथ ही मुगल राज्य मृतप्राय ही था और ऐसे समय म व्यापार की बढ़ोतरी के सम्बन्ध मे सोचना भी दुस्साहस होगा।

हम यह भी सम्भावना लगती है कि अकबर से औरगजेब तक किसी भी मुगल शासक के पास कोई रचनात्मक व्यापार नीति नही थी। यद्यपि समय समय पर चुंगी और अन्य करो को व्यवस्थित करने के आदेश निकलते रहे, परन्तु इनको अनेक कारणो से कार्यान्वित न किया जा सका। ऐसी दुविधापूर्ण स्थिति म व्यापार का बढना सम्भव नही था। इसके अतिरिक्त नये व्यापारिक केन्द्रो के स्वत विकास का भी कोई प्रबन्ध नही किया गया जिसके कारण व्यापार को नई चेतना अथवा अवसर नही मिला।

10

मध्यकाल में उद्योग और उनकी व्यवस्था

भारत के कृषि प्रधान देश होने के बाद भी ऐसे अनेको प्रमाण हैं जिनके आधार पर स्पष्ट है कि यहा अनेको उद्योग थे। उद्योगो का माप-दण्ड यदि आज के आधार पर रक्खा जावे तो मध्यकाल मे इन उद्योगो को किसी प्रकार से ढूढ निकालना सम्भव न होगा, कारण कि न तो इतने भारी उद्योगो की माग थी और न ही इनकी आवश्यकता। साधारणतया राजकीय "कारखानों" को छोड़कर जहा पर कभी-कभी रेशमी कपड़ा बुनने के लिए 4,000 जुलाहो तक को रख लिया जाता था, अधिकतर उद्योग कुटिर अवस्था मे ही थे और सगठित एव व्यवस्थित रूप से उनका विकास नही हो पाया था। कस्बो मे रहने वाला छोटा उत्पादक शहर मे किसी व्यापारी से जो कि उसके क्षेत्र मे ही कार्य कर रहा हो, सम्पर्क कर अपनी वस्तुओ को उसी के हाथा बेच देता था जो उसे आगे बेचने का प्रबन्ध करता था। कभी-कभी उत्पादनकर्ता हाठ-बाजार मे भी अपनी वस्तुओ को बेच दिया करता था, परन्तु इस बेची हुई वस्तु की मात्रा कम ही होती थी। आयात-निर्यात करने वाले व्यापारी मुख्यत. समुद्री किनारो के कस्बो मे रहा करते थे और वे या तो अपने एजेन्टो के द्वारा माल खरीदा करते थे अथवा वे सीधे उत्पादनकर्ता से सम्पर्क कर, तैयार चीजें खरीद लिया करते थे। कभी-कभी वे कारीगरो को नियुक्त कर स्वय अपने निरीक्षण मे वस्तुएँ तैयार करवाते थे। ऐसे सगठनो मे दिल्ली सुल्तानो द्वारा व्यवस्थित 'कारखाने' अधिक महत्वपूर्ण और सुसगठित थे जिनसे राज्य की मागो की पूर्ति हुआ करती थी।

राज्य की मांगो की पूर्ति का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि मुहम्मद तुगलक अर्धवार्षिक आधार पर 2,00,000 'खिलअत' (सम्मानित वस्त्र) बांटा करता था जिनमे कुछ चीन तथा दूसरे देशो से आयात किए हुये वस्त्र थे परन्तु अधिकतर दिल्ली में ही बनाये जाते थे। वह हरम की स्त्रियो तथा अमीरो और उनकी पत्नियों को भेंट देने के लिए लगभग 4000 सोने के जालीदार कपड़े बुनने

व ल कारीगरों को रखता था। सत्य तो यह है कि शाही काम में आने वाली प्रत्येक वस्तु राज्य के 'कारखानों' अथवा वर्कशापों में ही बनाई जाती थी। इसी प्रकार से अनेको दूसरे 'कारखाने' भी थे जो बहुमूल्य वस्तुओं का निर्माण करते थे परन्तु यह आवश्यक नहीं था कि ये सब राज्य के अधिकार-क्षेत्र में ही हों। कारखानों के उत्पादन तथा वितरण पर सरकारी एकाधिकार न था। सल्तनत काल में केवल अलाउद्दीन खलजी ने प्रशासनिक आधार पर दिल्ली के बाजारों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उससे देश की औद्योगिक स्थिति को आंकने में हमें कोई सहायता नहीं मिलती है।

भारत का सबसे बड़ा उद्योग कपड़ा बुनना था जिसके अन्तर्गत सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े आते हैं। मुख्यतः देशी रुई का ही उपयोग किया जाता था और साधारण किस्म की ऊन यहां पर ही तैयार की जाती थी, परन्तु अच्छे किस्म की ऊन व लोमचर्म बाहर से आयात की जाती थी जिसका उपयोग अधिकतर अभिजात वर्ग ही करता था। रेशम बंगाल में तैयार की जाती थी। कपड़ा उद्योग से सम्बन्धित कशीदाकारी, सोने का जालीदार काम व रंगाई आदि देश में ही हो जाती थी। देश की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी वस्त्रों का निर्यात किया जाता था। बंगाल और गुजरात सूती वस्त्रों के निर्यात के लिए अधिक महत्वपूर्ण केन्द्र थे। रेशमी कपड़ों का प्रयोग मुख्यतः अभिजात वर्ग तक ही सीमित था और केवल उत्सवों को छोड़कर निम्न वर्गों के लिए रेशमी वस्त्र पहनना सम्भव नहीं था।

अमीर वर्ग अधिकतर मलमल, या कमख़ाब, छालरी (लिनन) तथा अनेकों प्रकार के लोमचर्म का प्रयोग करते थे। इन कीमती वस्त्रों को बनाने में भारतीय कारीगरों की महारत थी। अमीर खुसरो के बयान से यह स्पष्ट आभास होता है कि इस प्रकार के कपड़ों को बनाने में यहां के कारीगरों ने अत्यधिक पटुता व चतुराई प्राप्त कर ली थी। दक्षिण में देवगिरि व महादेव नगरी इसके प्रमुख केन्द्र थे, जहां का बना हुआ कपड़ा अत्यधिक सुन्दर व उत्तम था। देहली भी अपने कपड़े और मलमल के लिए प्रसिद्ध था। मलमल के एक अच्छी किस्म के थान की कीमत लगभग 100 टंक थी। बड़े बड़े कस्बों और देहली में अच्छी किस्म की मखमल, जरी और रेशमी कपड़े के भण्डार थे।

सूती कपड़ों के निर्यात में बंगाल व गुजरात अग्रगण्य थे। इन प्रदेशों की जलवायु, समुद्र के निकट इनकी स्थिति तथा विदेशों से इनके व्यापारिक सम्बन्ध होने के कारण यहां पर सूती उद्योग का अधिक विकास हो गया था।

अमीर खुसरो बंगाल में निर्मित सूती कपड़ों की अत्यधिक प्रशंसा करता है। बंगाल के गवर्नर बुगरा खान द्वारा अपने पुत्र मुईजुद्दीन कैकूबाद के लिए कपड़े के थान इस प्रशंसा के प्रमाण हैं। खुसरो के अनुसार कपड़े का पोत अथवा बनावट

इतनी अच्छी होती थी कि पहनने पर भी समस्त शरीर उसमे स स्पष्ट दिखाई देता था। एक पूरे कपडे को केवल नाखून के नीचे घडी बनाकर रक्खा जा सकता था। बारबोसा के वर्णन स भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। बारबोसा लिखता है कि देश मे आन्तरिक खपत के लिए सूती और रेशमी साडिया बहुतायत में तैयार की जाती थीं। विदेशा मे बगाल के बने हुए सिरबन्द नामक कपडे की अत्यधिक प्रतिष्ठा थी और अरब निवासी इसका साफे के रूप में प्रयोग करते थे। इसी प्रकार से गुजरात रेशमी वस्त्र बनाने का प्रसिद्ध केन्द्र था। खम्बात के रेशमी वस्त्रो पर अलाउद्दीन खलजी ने नियन्त्रण कर रक्खा था जिससे कि इसका उपयोग अमीर वर्ग कर सके। खम्भात छपे हुए कपडे, मलमल व अनेक प्रकार के रेशमी वस्त्रों के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध था। कपडे के अलावा दरिया, कालीन, तकिये-गिलाफ, नमाज पढने के कपडे आदि भी बनाये जाते थे।

सल्तनतकाल की तरह मुगल काल में भी कपडे का उद्योग प्रमुख था जिसमे सूती कपडा-उद्योग उत्तम था। य कुटीर उद्योग के रूप मे देश के समस्त भागो मे व्यापक था। ढाका की मलमल अपनी बुनाई और उत्तमता के लिए सर्व प्रसिद्ध थी और इस प्रतिस्पर्धा के कारण मानचेस्टर के व्यापारी इसकी भर्त्सना करते थे। एक 20 गज लम्बे और 1 गज चौड मलमल के कपडे को बनाने के लिए लगभग छ महीने लगते थे और यह इतना बारीक होता था कि एक अगूठी मे से निकाला जा सकता था। यद्यपि 1888 ई० तक भी ढाका मे मलमल बनाई जाती रही थी परन्तु यह उद्योग धीरे धीरे पतन की ओर अग्रसर होता जा रहा था और इसकी उत्तमता भी संदेहास्पद थी। ऐसे उद्योग केवल राजकीय सरक्षण म ही पनप सकते थे, क्योकि इनके खरीददार बहुत ही कम थे।

सूती वस्त्रो का उपयोग अत्यधिक था और ढाका की मलमल के साथ ही कालीकट का सादा कपडा भी (केलीको) अधिक प्रसिद्ध था। आईन-ए-अकबरी में खानदेश का सीरीसफ और गुजरात का चिराट व पोटा नामक कपडे अपनी उत्तमता के लिए मान्य थे। इनके अतिरिक्त दक्षिण का खता, लाहौर और लखनऊ का चिकन का कपडा और गुजरात का किमखाब, दुपट्टा, कुर्ता, कशीदे वाले कपडे, पगडी और सरपेच भी प्रसिद्ध थे। औरगजेब के समय म भडोच मे बने हुए वस्त्रो की पूरे भारत मे माँग थी। उडीसा और बुरहानपुर मे भी सूती कपडे का उद्योग था। बुरहानपुर का बना हुआ कपडा फारस, तुर्की, पोलैण्ड आदि देशों को निर्यात किया जाता था जहां इसे बुरके, दुपट्टे और रुमाल आदि बनाने के काम मे लिया जाता था। एक विशेष प्रकार की छालटी (लिनन) बनाई जाती थी जिसमे पूनों की कढ़ाई के साथी ही एक दो धागे चाँदी या सोने के तार के डाले जाते थे। ये तुर्की में अमीरों की स्त्रियो द्वारा बुरके के काम में लिया जाता था। [illegible]

सिरोज मे बने हुए कपडे की भी अत्यधिक प्रशसा करता है। यह इतना बारीक होता था कि पहनने वाला नग्न-समान ही लगता था। गर्मियो मे हरम की स्त्रियाँ इसी की पोशाक बनाती थी और शासक ऐसे वस्त्रो मे उन्हे नाचते देखना पसन्द करते थे।[1] इनको निर्यात करने पर प्रतिबन्ध था और प्रान्तीय अधिकारी इनको शाही उपभोग के लिए सुरक्षित रखते थे। इस कपडे के अतिरिक्त गलीचे, चादरें, दरी आदि भी बनाई जाती थी।

सूती वस्त्रो का निर्यात काफी मात्रा मे था। बगाल, उडीसा के तटवर्ती प्रदेशो से दक्षिणी एशिया तथा जापान को कपडा भेजा जाता था। 17वी शताब्दी के अन्त मे इगलैण्ड मे भी कपडा भेजा जाने लगा था। सूती कपडो पर सोने और चादी के काम के लिए बनारस और अहमदाबाद प्रसिद्ध केन्द्र थे और यहा से ससार के प्रत्येक भाग मे इन कपडो का निर्यात किया जाता था।[2] 16वी शताब्दी मे बीदार इसके लिए प्रसिद्ध था। आगरा मे भी शाही सरक्षण मे इस उद्योग का विकास हुआ। ढाका और कासिमबाजार के अतिरिक्त मालवा मे सिरोज, गुजरात मे भडोच, बडोदा व नवसारी इसके प्रमुख केन्द्र थे। मछलीपट्टम अपनी छीट के लिए मान्य था और इस पर बनाये गये फूल आदि बिलकुल प्राकृतिक लगते थे। गुजरात के बाद छीट के कपडे मे मालवा आता था। क्योंकि इसकी माग अत्यधिक थी इसलिए बहुत कम मात्रा मे इसका निर्यात किया जाता था।

सूती उद्योग के साथ ही रेशमी वस्त्रो का उद्योग भी उन्नत था। मुर्शिदाबाद, बालदाह और बगाल के दूसरे कस्बे रेशमी वस्त्रो के केन्द्र थे। जरी अथवा कमखाब से फूलदार कपडा बनाने का काम बनारस और अहमदाबाद मे अधिक होता था। रगो की दोहरी बुनाई के लिए पूना प्रसिद्ध था। गुजरात मे बने हुए कमखाब और रेशमी वस्त्र, उडीसा के रेशमी कपडे, लाहौर का रेशमी धागा अधिक प्रिय थे। इलाहाबाद और दक्षिण मे भी ऊची किस्म का रेशमी कपडा बनाया जाता था।

सर यदुनाथ सरकार के अनुसार रेशमी कपडो के उद्योग पर बगाल का एकाधिकार था। यद्यपि कपडा अधिकतर स्थानीय जुलाहो के द्वारा ही बुना जाता था, परन्तु काफी अधिक माल गुजरात मे भी बुनन के लिए भेज दिया जाता था। सूरत मे रेशम, सोने तथा चादी के धागो के गलीचे बनाये जाते थे। अहमदाबाद मे सब तरह के रेशम की सामग्री तैयार की जाती थी और बनारस आज की तरह ही

1. मुकर्जी, टी. एम —ऐ हेण्डबुक आफ इन्डियन प्रोडक्टस, पृ. 1883.
2. ट्रैवनियर—ट्रैवल्स, भाग एक, पृष्ठ 20.

रेशमी कपडे व रेशमी कशीदे के लिए प्रसिद्ध था। यद्यपि अकबर के काल तक रेशम का उद्योग यहा के विशिष्ट उद्योगो की गिनती मे नही था परन्तु उसके बाद क्योंकि रेशमी वस्त्रों की माग अधिक बढ गई इसलिए यह एक प्रमुख उद्योग हो गया। बर्मा के बौद्ध लोग रेशमी वस्त्र पहनने के अधिक शौकीन थे इसलिए आरम्भ मे यह कपडा वहा निर्यात कर दिया जाता था। 17वी शताब्दी के अन्त तक रेशमी कपडा यूरोप भी भेजा जाने लगा था। ईस्ट इडिया कम्पनी ने इगलैण्ड से विशेषज्ञो को लाकर बगाल के रेशमी कपड़े को रगने में विशेष सुधार किया।[1]

सामान्यत मुगलों के समय में ऊन उद्योग महत्वपूर्ण नही था। केवल कुटीर उद्योग के रूप मे ही इसका प्रचलन था। ऊन उद्योग के मुख्य केन्द्र कश्मीर, काबुल, आगरा, लाहौर, पटना और राजपूताना थे। अकबर ने शाल बनाने के उद्योग में विशेष रुचि दिखाई और कश्मीर की गर्म शालें उत्तरी भारत मे अधिक प्रचलित हुई। कश्मीर मे पट्टू और पशमीना के अतिरिक्त अच्छी किस्म की शालें तैयार की जाती थी। अबुल फजल के अनुसार क्योंकि सबसे सस्ता कम्बल 10 दाम मे मिल जाता था इसलिए सर्व साधारण मे इसका प्रयोग प्रचलित था। अमीर वर्ग के लोग विदेशी शालो और कम्बलो को काम में लेते थे।

कपड़े के उद्योग के साथ ही रगसाजी का उद्योग भी अत्यधिक विकसित था। देश मे नील बहुतायत म मिलता था और स्त्री तथा पुरुष दोनो ही चमकदार कपडो के पहनने के शौकीन थे। साडियो पर अनेक प्रकार के बोर्डर छापे जाते थे और बधेज का भी काम होता था। रजाई तथा गद्दो के कपडो पर सुन्दर और आकर्षक छपाई की जाती थी। मुगल काल मे बर्मा आदि प्रदेशों मे छपे कपडे की माग अधिक थी।

कपडा उद्योग के बाद दूसरा प्रमुख उद्योग धातुओ से बनाई हुई वस्तुओं का था। भारतीय इतिहास मे धातुओ से अनादि काल से चीजें बनाई जाती रही हैं। लोहा, सीसा, पारा यहा पर काफी मात्रा म मिलता था। अबुल फजल यह स्वीकार करता है कि भारतीय कारीगर ताबा, सोना, जस्ता, पीतल, पारे आदि धातुओ का उपयोग कर लेते हैं। भारत में बनी हुई तलवारें तथा खन्जर आरम्भ से ही प्रसिद्ध थे और फारस तथा अरब के प्रदेशो मे इनकी माग थी। दिल्ली सुल्तानो के समय में इस उद्योग को उचित प्रोत्साहन दिया गया। इस्पात की तोपें, चाकू, कैंची आदि बनाई जाती थीं। सोने से अनेक प्रकार की चीजें बनाई जाती थी। गुजरात में विशेषकर सोने का काम काफी सुन्दर किया जाता था और सम्भवत भारतीय

---

3. सरकार, जे एन.—स्टडीज इन औरगजेबस् रेन, पृ 276.

कारीगरो की कला से प्रसन्न होकर ही तैमूर अपने साथ इनमें से अनेक कारीगरो को ले गया था जिससे कि वो अपनी राजधानी, समरकन्द, को सुन्दर बना सके।

धातु-उद्योग मे अकबर के समय मे अधिक उन्नति हुई। अबुल फजल सुनारों के वर्ग की अत्यधिक प्रशंसा करता है। इन सुनारो को मजदूरी के रूप में कभी-कभी धातु के मूल्य से दस गुना धन दिया जाता था जो उनकी निपुर्णता का प्रमाण है। वे दस-दस मन के दीपवृक्ष बनाते थे जो अपनी साज सज्जा और विभिन्न प्रकार की कारीगरी के लिए प्रसिद्ध थे।

तावे और पीतल के लिए बनारस अधिक प्रसिद्ध था। बनारस के अतिरिक्त मथुरा, नासिक, पूना लाहौर, आगरा, देहली, ढाका आदि भी इसके प्रमुख केन्द्र थे। दैनिक काम मे आने वाले बर्तन अधिकतर प्रत्येक गांव मे ही तैयार कर लिये जाते थे। अच्छी किस्म के बर्तन नदियो पर स्थित तीर्थ स्थानो मे तैयार किये जाते थे जिससे कि तीर्थयात्री पवित्र जल को अपने साथ ले जा सकें। पूजा में काम आने वाले दूसरे बर्तन भी इन्ही स्थानो पर तैयार किये जाते थे। दमिश्की व मीना का काम भी उच्च कोटि का था और ढाल आदि हथियारो को सजाने के लिए दमिश्की का काम किया जाता था। सियालकोट लाहौर, कच्छ तथा सिन्ध इसके केन्द्र थे। राजपूताना मे मीना के आभूषण तथा हर प्रकार की कलात्मक चीजें बनायी जाती थी। पत्थर की घड़ाई का काम भी राजपूताने मे सुन्दर ढग का किया जाता था।

सम्पूर्ण मध्य युग मे लकडी-उद्योग लोकप्रिय नही था। साधारण वर्ग मे फर्नीचर का प्रयोग अत्यधिक सीमित था और केवल बन्दरगाहो मे विदेशी लोगो के अतिरिक्त कुर्सी और मेज का प्रयोग प्रचलित नही था। लकडी के सामान मे अधिकतर कलमदान स्टूल, शतरज के बोर्ड, तथा सजावट के लिए छोटे छोटे सुन्दर स दूक बनाये जाते थे जिनमे अधिकतर शीशम, बबूल, आम आदि की लकडी का प्रयोग किया जाता था। दुष्प्राय चीजें चन्दन की लकडी से बनाइ जाती थी। भारतवासियो की तुलना मे पश्चिमी किनारे पर बसने वाले मुस्लिम व्यापारियो के यहा लकडी का फर्नीचर सुन्दर मिलता था। साधारण वर्ग मे बहुत कम फर्नीचर पाया जाता था, यहा तक कि अमीरो के जनानखाने को छोडकर दूसरे स्थानो पर फर्नीचर बहुत कम होता था। लकडी के माल की खपत माँग न होने के कारण अधिक सीमित था, परन्तु कच्ची लकडी की कोई कमी नही थी।

गुजरात कलमदान बनाने तथा उन पर नक्काशी करने मे लिए प्रसिद्ध था। मैसूर चन्दन की लकडी के लिए मान्य था। अधिकतर इस प्रकार के उद्योग उन्ही जगहो पर स्थित थे, जहा पर आसानी से कच्चा माल मिल पाते।

ऊंच किस्म की लकडी नाव तथा जहाज बनाने के काम मे आती थी। बंगाल, आगरा, इलाहबाद, लाहौर आदि से इस प्रकार की लकडी प्राप्त होती थी। अबुल

फजल के अनुसार नावें युद्ध का सामान ढोने तथा शीघ्र यात्रा के उद्देश्य से बनाई जाती थी। युद्ध से सम्बन्धित नावों का निर्माण इस प्रकार से किया जाता था कि जब उन्हें दुर्ग के किनारे पर लगाया जावे तो वे दुर्ग पर अधिकार करने में सहायता दें। व्यापारिक जहाज भी बनाये जाते थे जो कि लगभग 1000 टन सामान भरने की क्षमता रखते थे।

अधिकतर नाव और जहाज बनाने का उद्योग उन स्थानों पर केन्द्रित था जहां ऊंचे किस्म की लकड़ी मिलती थी। व्यापारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिकतर जहाज पश्चिमी तट पर ही बना लिये जाते थे और इन्हीं के द्वारा भारतीय व्यापार चलता था। छोटी नावों का भी निर्माण यहीं होता था जिनसे बंगाल से लेकर सिन्ध तक व्यापार किया जाता था। बंगाल के अतिरिक्त लाहौर तथा सूरत में भी नावें बनाई जाती थीं। केवल बंगाल में ही जहाजरानी के लिए 4200 बड़ी नावें तथा 4400 छोटी नावें थीं।

चमड़े के उद्योग का समकालीन लेखकों ने कहीं पर भी वर्णन नहीं किया है, परन्तु क्योंकि खालें न तो निर्यात की जाती थी और न ही तैयार माल आयात किया जाता था इससे सहज ही परिणाम निकाला जा सकता है कि देश में चमड़े की कोई कमी नहीं थी। सम्भवतः जूते, जीन, चड़स आदि वस्तुएँ आवश्यकता के आधार पर स्थानीय कारीगरों के द्वारा तैयार की जाती थीं परन्तु इसके बाद भी इतना निश्चित है कि देश में किसी भी प्रकार से व्यापक रूप में यह उद्योग नहीं था।

भवन आदि बनाने का उद्योग अधिक विकसित था तथा इसमें लगे हुए कारीगरों (राज) की संख्या काफी थी। भारतीय कारीगरों की निपुणता यहां और काबुल, गजनी तथा समरकन्द में बने हुए भवनों से प्रमाणित होती है। अमीर खुसरो कहता है, 'कि दिल्ली के कारीगर और संग-तराश समस्त मुस्लिम जगत के कारीगरों से श्रेष्ठ थे।[1] इसका एक कारण राज्य द्वारा प्रदत्त आश्रय था तथा स्वयं सुल्तानों की भवन निर्माण में रुचि थी। अलाउद्दीन खलजी ने राजकीय भवनों के निर्माण के लिए लगभग 70,000 लोगों को नियुक्त कर रखा था। फीरोज तुगलक के समय में भी यद्यपि कारीगरों की संख्या काफी थी, परन्तु फिर भी उसने 4000 दासों को इस उद्योग को सीखने का आदेश दिया था। सुल्तानों की तरह हिंदू शासक भी कारीगरों को संरक्षण देते थे। ग्वालियर और चित्तौड़ के भवन तथा आबू स्थित देलवाड़ा के मंदिर इस बात के प्रमाण हैं कि इस उद्योग का कितना अधिक महत्व

---

1. अशरफ, के एम—लाइफ एण्ड कन्डीशन्स आफ द प्युपल आफ हिन्दुस्तान, पृ 132.

था। व्यक्तिगत रूप में भी बनाई गई सरायें, धर्मशालायें तथा अनेकों मजार इस उद्योग के विकसित होने के क्रमिक विकास को बताते हैं।

समस्त मध्ययुग में ईंट, पत्थर तथा लकड़ी का कम प्रयोग किया जाता था।[1] साधारण वर्ग के लोगो के मकान मिट्टी, सरकण्डो के बने होते थे जिन पर छप्पर अथवा खपड़ा पड़ा रहता था। अमीर वर्ग महलो मे रहता था। आगरा, देहली और प्रान्तीय राजधानियो म सरकार कारीगरो को बडी सख्या मे रखती थी और वे राज्य के भवन आदि बनाने में व्यस्त रहते थे।

बाबर यद्यपि भारतीय कारीगरो की दक्षता से प्रभावित था, परन्तु वह उनके अनियमित कार्य का कटु आलोचक था। इसके बाद भी उसने आगरा, सीकरी, बयाना, धोलपुर और ग्वालियर में 680 सग-तराशो को सरकारी भवनो के लिए नियुक्त कर रक्खा था। इसके अतिरिक्त लगभग 1491 व्यक्ति अन्य जगहो पर लगा रक्खे थे।[2] हुमायू को भवनो के निर्माण की ओर ध्यान देने का समय नही मिला।

भवन उद्योग की ओर अकबर ने समुचित ध्यान दिया। कारीगरो को विदेशो से बुलाने मे भी उसने कोई हिचकिचाहट नही दिखाई। 1564 ई० में बनाया गया जौनपुर के निकट गोमती नदी पर पुल विदेशी कारीगरो के द्वारा ही बनाया गया था। कासिम खा के नेतृत्व म आगरा और लाहौर के दुर्गों का निर्माण इस क्षेत्र मे एक प्रशसाजनक प्रमाण है।[3] अकबर के समय मे भवन-उद्योग की सबसे बडी सफलता उसकी नई राजधानी फतहपुर सीकरी है जिसमे अनेको सुन्दर भवन बनाये गये थे। जहागीर के समय मे नूरजहा द्वारा बनाया गया एतमाउद्दौला का मकबरा है। इस काल मे उसने सैकडो कारीगरो को नियुक्त किया था। शाहजहा ने दिल्ली के दुर्ग, ताजमहल आदि पर लगभग ढाई करोड रुपया खर्च किया था। अकेले ताजमहल पर लगभग 50 लाख रुपये की लागत आयी थी। इसी प्रकार प्रान्तीय राज्यो मे महाराणा राजसिंह ने राजसमन्द का निर्माण करवाया जिस पर लगभग 39 लाख रुपया खर्च आया था। औरगजेब के सत्तारूढ होने पर भवन-उद्योग का प्राय पतन हो गया।[4]

इन उद्योगों के अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे उद्योग भी थे जैसे कागज-उद्योग चमड़ा-उद्योग, कलात्मक वस्तुओ का उद्योग आदि।

---

1 मोरलैण्ड—इण्डिया ऐट द डेथ आफ अकबर, पृ 165.
2 इलियट एण्ड डाउसन भाग पाच, पृ 126.
3 अबुल फजल—अकबर नामा भाग दो, पृ. 246–47.
4. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग, 2 पृ 566.

ऐसा अधिकतर स्वीकार किया जाता है कि चीनी लोग कागज के जन्मदाता थे और मुसलमानो ने उन्हीं से यह सीखा था। यद्यपि यह ठीक है कि चीनी शहतूत के पेड स कागज बनाने की विधि जानते थे, परन्तु फटे हुए कपडो अथवा चिथडो से कागज तैयार करने का श्रेय समरकन्द के कागज निर्माताओ को जाता है। निकोली कोण्टी के विवरण से गुजरात में कागज के उपयोग का आभास होता है और सभवत यह कागज उन्नत पद्धति के द्वारा बनाया हुआ था। अमीर खुसरो दिल्ली मे शामी कागज के उपयोग के सम्बन्ध मे जानकारी देता है जो दो प्रकार का होता था—सादा और सिल्कनुमा। इस काल के हस्तलिखित ग्रन्थ तथा दूसरे सरकारी और गैर-सरकारी पत्र आदि जो प्राप्त हुए हैं उनसे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सल्तनत काल म कागज उद्योग विद्यमान था। इसी प्रकार अमीर खुसरो के विवरण स यह भी अनुभव होता है कि दिल्ली म किताब विक्रेताओ का एक नियमित बाजार था। इन सब तथ्यो के बाद भी यह स्वीकार करना पडेगा कि कागज के उपयोग म सर्व साधारण को अत्यधिक तगी अनुभव करनी पडती थी।[1]

मुगल काल मे भी कागज की कमी थी। गोआ मे रहने वाले पुर्तगाली, यूरोप, चीन आदि से कागज का आयात करते थे।[2] भारत मे पटना, देहली, अवध व सियालकोट म कागज बनाया जाता था। इनमे तीन किस्म के कागज—मानसिंघी, सरपूरी, व जहांगीरी अधिक प्रसिद्ध थे। कागज की सुन्दर किस्मे कश्मीर से प्राप्त की जाती थीं जहा पर राजा व सरक्षण के अन्तर्गत इस उद्योग का विकास हो रहा था। सामान्यत प्रान्तीय राजधानियो म कागज बनाने का वर्ग मुख्यत एक ही स्थान पर रहता था जिस कागजीपुर कह कर पुकारा जाता था।[3]

मुगल शासक, सल्तनत काल की अपेक्षा अधिक पत्र-व्यवहार करते थे और साथ ही इस समय के प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थो की सख्या भी अधिक है इसलिए सामान्यत यह अनुमान लगाया जाता है कि सल्तनत काल की अपेक्षा मुगल काल म कागज अधिक था।

चीनी-उद्योग भी देश म मौजूद था। चीनी अधिकतर गन्ने से ही बनाई जाती थी। बगाल चीनी उद्योग का केन्द्र था जहाँ स्थानीय और आन्तरिक मांगो की पूर्ति के बाद भी चीनी का निर्यात किया जाता था। साधारण चीनी के अतिरिक्त बगाल मे ही दानेदार चीनी भी बनाई जाती थी जिसस अनेक प्रकार की मिश्री व पगी हुई वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। तत्कालीन साहित्य तथा इतिहास में अनेको मिठाइयो का वर्णन मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि चीनी उद्योग समस्त देश मे फैला था।

---

1 अशरफ, के एम—वही, पृ 134
2 मोरलैण्ड—इण्डिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, पृ 164
3 सरकार जे एन—स्टडीज इन औरगजेबस् रेन पृष्ठ 232

11
मध्यकालीन कर-सिद्धान्त तथा अबवाब

ठोस वित्त व्यवस्था की आवश्यकता प्रति प्राचीन काल से ही अनुभव की जाती रही है क्योंकि उसकी दुर्व्यवस्था मे राज्य का दिवालिया होना सुनिश्चित है। दिल्ली के सुल्तानो ने वित्तीय प्रशासन शरा और अब्बासिद खलीफाओ की परम्पराओ पर नियोजित किया और जिस समय तक उन्होंने भारत मे मुस्लिम राज्य की स्थापना की तब तक इसके सिद्धान्तो की जानकारी पूर्णतया स्पष्ट थी।

मुस्लिम विधि वेत्ताओ (जूरिस्ट) के अनुसार मुस्लिम राज्य की आय के दो साधन थे–धार्मिक तथा सांसारिक अथवा धर्म निरपेक्ष।[1] प्रथम श्रेणी के कर केवल मुस्लिम वर्ग से ही वसूल किये जाते थे जिनको कि सामूहिक रूप से जकात कहते थे। *जकात का अर्थ है शुद्धिकरण और कुरान मे स्पष्ट निर्देश है कि* इमाम को यह कर लागू करना चाहिये क्योंकि इस्लाम समर्थकों के लिये यह पवित्र देय कर है। इस कर को लागू करने के पीछे स्पष्ट उद्देश्य था कि धनी मुसलमानो की आय से निर्धन मुसलमानो की सहायता की जा सके। जकात का प्रयोग मुख्यत तीन विभिन्न अर्थों में किया गया है (1) सम्पत्ति कर (2) भूमि कर (3) आयत—निर्यात कर अथवा व्यापारिक वस्तुओं पर चुंगी। इसलिये ये सोना, चाँदी, पशु, व्यापारिक वस्तुओ पर ही लगाया जाता था जबकि कर-दाता ने इनका कम से कम एक वर्ष तक उपभोग कर लिया हो तथा वे एक निश्चित सीमा से अधिक हो, जिसे 'निसाब' कहते थे। मकान, सवारी या कृषि के काम मे लिये जाने वाले पशुओं, पठन-पाठन में उपयोग की जाने वाली पुस्तकों, परिवार के लिए भरण-पोषण के लिए अन्न, सेवा-कार्य के लिये रक्खे गये दास, गृह वट मे उपयुक्त सामान्य वस्तुएँ जकात में नही आती थी। कुछ लोग इस कर से अपने आप को बचाने के लिये साल के अन्त होन के पूर्व ही अपनी समस्त सम्पत्ति अपनी पत्नी अथवा परिवार के किसी अन्य सदस्य के नाम कर

---

1 कुरेशी, आई० एच०—द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द सल्तनत आफ देहली, पृ. 95–96

देते थे और अगले वर्ष के आरम्भ में पुन अपने नाम में वापस ले लिया करते थे। परन्तु यह कार्य निन्दनीय था क्योंकि जकात देने का पुण्य केवल उन्हीं को मिलता था जो इसका महत्व समझते थे।

यह सम्पत्ति का 1/40 भाग के रूप में लिया जाता था और इस्लामी विधि वेत्ताओं के अनुसार यह मुस्लिम फकीरो, ऐसे मुसलमान जिनके पास सम्पत्ति न हो, जकात एकत्रित करने वाले कर्मचारी, कर्जदार, जिहाद (धर्मयुद्ध) म भाग लेने वाले व्यक्तियो व यात्रियो पर खर्च किया जाता था।

आयात-निर्यात कर के विषय में यह नियम था कि सभी वस्तुओ के मूल्य का 2 प्रतिशत कर लिया जावे। परन्तु गैर-मुसलमानो के लिए यह कर दुगुना था, तथा घोडो के आयात पर यह 5 प्रतिशत था। इब्न बतूता के अनुसार सुल्तान आयात का 1/4 भाग कर के रूप में वसूल करते थे परन्तु मुहम्मद तुगलक ने पुन इसको घटा-कर कानूनी अनुपात मे निश्चित किया। सम्भवत राज्य की आर्थिक स्थिति खराब होने क कारण ही कर में बढ़ोतरी की गई हो परन्तु जब यह पाया गया कि राज्य की आय कर के बढाने से और अधिक कम हो गई है तो इसे पुन कानूनी अनुपात मे निश्चित कर दिया गया। सिकन्दर लोदी के समय म अनाज की कमी के कारण अनाज पर लगाये जाने वाले जकात कर को समाप्त कर दिया गया और इसके बाद किसी भी सुल्तान ने इसे पुन लागू नही किया।

भूमि-कर के सम्बन्ध में यह नियम था कि जिस भूमि से कभी खराज वसूल न किया गया हो और यदि वह मुस्लिम किसानो के अधिकार में हो तो उसस प्राकृ-तिक साधनो से सिचाई करने पर उपज का 1/10 भाग और कुएं आदि से सिंचाई करने पर उपज का 1/20 भाग कर के रूप मे लिया जावे, और इस कर से प्राप्त धन को केवल धार्मिक कार्यों में ही खर्च किया जावे। इसलिए प्राय यह धन एक पृथक कोष म जमा किया जाता था और प्रधान सद्र इसके व्यय को नियमित करता था। फीरोज तुगलक के समय म इस प्रकार का एक अलग कोष था।[1]

मुगल शासक जकात आयात निर्यात कर के रूप म ही वसूल करते थे। अकबर ने 1563 मे अनेक करों को लेना बन्द कर दिया था और उनमे से एक जकात भी था। उसने दैनिक जीवन में काम आने वाली चीजो जैसे कपड़, बर्तन आदि पर यह कर हटा दिया था।[2] जहांगीर के राज्यकाल में जकात के रूप में जो आयात निर्यात कर लिया जाता था वह भी बन्द कर दिया गया।[3] राजाज्ञा होने के बाद भी गैर कानूनी

1. कुरेशी आई० एच०—वही, पृ 96–99.
2 कुरेशी, आई. एच —द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द मुगल अम्पायर, पृ 146.
3 तुजके जहांगीरी, (अनुवादिक राजर्स) भाग 1, पृ 7.

रूप में यह कर वसूल किया जाता रहा इसलिये औरंगजेब ने 1665 में मुसलमानों से जकात कर न लेने की आज्ञा निकाली। औरंगजेब को यह जानकारी मिली कि इसका दुरुपयोग किया जा रहा है और हिन्दू व्यापारी मुसलमानों के नाम से आयात-निर्यात कर रहे हैं इसलिए उसने पुनः यह आदेश दिये कि कुरान के अनुसार न्यूनतम छूट देकर बाकी माल पर जकात वसूल किया जावे। कदाचित आर्थिक हानि के कारण उसने अपने शासन के पच्चीसवें वर्ष में इस कर को पुनः मुसलमानों से वसूल करना शुरू किया।[1]

धर्म निरपेक्ष अथवा सांसारिक करों में खम्स, जजिया व खिराज थे। युद्ध में लूट के माल को 'गनीमह' कहते थे और इस्लामी कानून (शरा) के अनुसार लूट का $\frac{1}{5}$ भाग राज्य को तथा शेष 4/5 भाग, सैनिकों में बाटने की आज्ञा थी। सुल्तान अथवा सेनापति के लिए यह न्यायोचित था कि बटवारे से पहले वो लूट में से कोई एक वस्तु जैसे घोड़ा, तलवार या अन्य कोई चीज अपने लिए चुन ले और शेष का इस्लामी अनुपात के अनुसार बटवारा कर दे। लूट का वह भाग जो राज्य कोष में जमा किया जाता था खम्स कहलाता था। अलाउद्दीन ने इस नियम को उलट दिया था। सैनिकों में 4/5 भाग बांटने के बजाय केवल 1/5 भाग ही बांटता था और शेष 4/5 भाग राज्यकोष में जमा कर लेता था। यह नियम फीरोज शाह तुगलक के पूर्व तक चलता रहा। क्योंकि उलेमा वर्ग इसे इस्लाम विरोधी मानता था इसलिये फीरोज ने पुनः पुराने नियम को लागू किया और 4/5 भाग सैनिकों में बटवाना शुरू किया। बांटते समय घुड़सवार को पैदल सैनिक की तुलना में दो अथवा तीन गुना दिया जाता था।

मुगल शासकों ने इस व्यवस्था का परित्याग कर दिया। मुगल सैनिक क्योंकि वेतन भोगी कर्मचारी थे इसलिये उन्हें युद्ध में प्राप्त लूट का हिस्सा देने का औचित्य नहीं था। इस प्रकार मुगल काल में इस्लामी कानून के विरोध में सम्पूर्ण लूट की सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार हो गया।

जजिया का कुरेशी के अनुसार उन लोगों से वसूल किया जाता था जो विधर्मी होने के नाते इस्लामी राज्य की सुरक्षा के प्रति उत्तरदायी न थे। अरबों का विचार था कि जिम्मी (ऐसे व्यक्ति जिन्होंने इस्लाम स्वीकार न करने पर जजिया कर देकर अपनी तथा अपने परिवार की सुरक्षा का अधिकार प्राप्त कर लिया हो) को इस्लामी सेना में स्थान नहीं दिया जा सकता क्योंकि इस्लाम की उन्नति में उनसे सहयोग करने की आशा नहीं की जा सकती थी अतएव ऐसी सैनिक सेवा के बदले उन्हें धन देना चाहिये और यही जजिया कहलाने लगा। प्रत्येक मुसलमान को राज्य की सैनिक सेवा करना अनिवार्य था और सुल्तान खलीफा का प्रतिनिधि होने के नाते यह सेवा प्राप्त करने

1 कुरेशी, आई एच—वही, पृ 147.

का अधिकार भी था परन्तु क्योंकि जिम्मियों से यह आशा नहीं की जाती थी इसलिए वे सैनिक सेवा के बदले धन देते थे। इसलिये डा कुरेशी[1] के अनुसार कुछ विद्वानों का यह मत के मुस्लिम राज्य में गैर मुस्लिमों द्वारा रहने के अधिकार प्राप्त करने के बदले में जजिया कर वसूल किया जाता था गलत है क्योंकि अगर ऐसा होता तो औरतों और बच्चों से भी यह कर वसूल किया जाना चाहिये था, परन्तु ऐसा प्रचलित नहीं था। डा कुरेशी ने इसको इस आधार पर भी उचित ठहराया है कि रोम में भी गैर रोमनों से इसी प्रकार का कर वसूल किया जाता था। शीघ्र ही यह कर प्रति व्यक्ति के रूप में उभर आया।

जजिया कितना और किससे वसूल किया जावे इसका वृहद विवेचन मिलता है। मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध-विजय के बाद पहली बार मुस्लिम जगत की सर्वमान्य प्रचलित दरों के आधार पर जजिया वसूल करना शुरू किया। दिल्ली के सुल्तानों ने उसी आधार को अपने समय में प्रचलित सिक्कों के मूल्य में बदल लिया जिसके अनुसार निर्धन लोगों से 10 टंक, मध्यमवर्गी से 20 टंक तथा धनी लोगों से 40 टंक प्रति वर्ष प्रति पुरुष के हिसाब से लिया जाता था। यह जानकारी प्राप्त होना सम्भव नहीं हो पाई है कि किस आधार पर निम्न, मध्यम व उच्च श्रेणी का वर्गीकरण किया गया था।

भारत में यह कर पागल, अल्पवयस्क, वृद्धों तथा स्त्रियों से नहीं लिया जाता था। भिखारी और साधु सन्यासी भी इससे मुक्त थे। ब्राह्मणों को सम्भवतः पुरोहित वर्ग के अन्तर्गत समझ कर इस कर से मुक्त कर दिया गया था परन्तु धनी महंतों को ये कर देना पड़ता था। फीरोज तुगलक के समय में ब्राह्मणों से भी यह कर लिया जाने लगा था जिससे राज्य में बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने अनशन किया तब दिल्ली-निवासी धनी हिन्दुओं ने उनकी ओर से कर चुकाने का वचन देकर उनके प्राण बचाये। इस घटना से यह सम्भावना प्रतीत होती है कि केवल दिल्ली के ब्राह्मणों से ही जजिया मांगा गया था क्योंकि सम्पूर्ण राज्य के ब्राह्मणों की ओर से दिल्ली-वासी हिन्दुओं द्वारा कर चुकाना सम्भव न होता। ऐसा भी माना जाता है कि यह कर केवल नगरों में ही वसूल किया जाता था क्योंकि वहां सुल्तानों का पूर्ण अधिकार था। देहाती लोगों से जजिया वसूल करने की स्थिति में भीषण विद्रोह की प्रबल आशंका थी। कुछ विद्वानों के अनुसार अलाउद्दीन खलजी ने न तो हिन्दुओं को जिम्मी स्वीकार किया और न ही उनसे जजिया वसूल किया परन्तु समकालीन इतिहास में जजिया बन्द करने का कहीं उल्लेख नहीं मिल पाया है। निश्चित आंकड़ो

---

1. कुरेशी, आई एच.—द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द सल्तनत आफ देहली, पृ० 96

के न होने पर यह ठीक-ठीक अनुमान लगाना भी सम्भव नहीं है कि समुचित जजिया किन-किन क्षेत्रों से वसूल किया जाता था।

डा कुरेशी जजिया कर को इस आधार पर उचित मानते हैं कि यह कर हिन्दू राजाओं के समय में भी किसी न किसी रूप में लगाया जाता रहा था जैसे कन्नौज के गटखर वंश ने राज्य में रहने वाले हिन्दुओं व मुसलमानों से यह कर वसूल किया था जिससे कि आक्रमणकारियों से राज्य की रक्षा की जा सके। कर्नल टाड के समय में कुछ राजपूत राज्यों में भी इसी प्रकार का कर वसूल किया जाता था।[1] परन्तु इसके बाद भी इतना अवश्य ठीक है कि यह एक ऐसा कर था जो एक ही राज्य में रहने वाले नागरिकों में भेद-भाव पैदा करता था। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि उस समय धर्म-निरपेक्ष राज्य का विचार भी उत्पन्न न हो पाया था, परन्तु इसके बाद भी इस प्रकार के भेद करने वाले कर किसी प्रकार से उचित नहीं थे चाहे वे राजपूतों अथवा सुल्तानों द्वारा लगाये गये हों।

बाबर तथा हुमायूं के समय में सल्तनतकाल से चला आ रहा जजिया उसी प्रकार वसूल किया जाता रहा। अकबर ने 1564 में यह कर समाप्त कर दिया। उसका यह तर्क था कि यदि समस्त बलिष्ठ नागरिक सैनिक सेवा के लिये बुलाये जा सकते हैं जैसा कि अकसर जमीदार सैनिकों के साथ हुआ करता था, तो इस कर को लगाने का कोई औचित्य नहीं है। जहांगीर और शाहजहां के काल में भी जजिया कर लागू न किया गया, यद्यपि इस काल में कुछ रूढ़ीवादी मुसलमानों ने जजिया पुन लागू करवाने का प्रयत्न किया था। औरंगजेब ने 1679 में जजिया पुनः लागू किया क्योंकि वह कट्टर मुसलमान था। उसको इसे लागू करने म काफी कठिनाई अनुभव हुई। इसका स्पष्ट कारण था कि हिन्दू वर्ग ने कभी भी इस कर को उचित न समझा और दूसरे मनोवैज्ञानिक आधार पर एक लुप्त कर को पुन लागू करने का प्रयास किया जावे तो स्वाभाविक रूप से उसका विरोध निश्चित था। यदि कर कभी समाप्त न किया गया होता तो ये हिन्दू लोगों के जीवन का साधारण अंग बना रहता परन्तु इसकी समाप्ति ने उस अविच्छिन्नता को समाप्त कर दिया था, इसलिये इसका तीव्र विरोध हुआ। औरंगजेब इसको सैद्धान्तिक मानता था और इससे भी बड़ा प्रश्न यह था कि वह इस्लाम की सत्ता को स्थापित करने के लिए कटिबद्ध था।

उसने इस्लामी परम्परा के आधार पर यह कर निर्धारित किया तथा उसके लिये दिरहम नामक एक नया सिक्का चलाया। जजिया देने वालों को तीन श्रेणियों में बांटा गया।[2] दस हजार से अधिक दिरहम रखने वालों को प्रथम श्रेणी में, दो

---

1. वही, पृ 98.
2. कुरेशी, आई. एच.—द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द मुगल अम्पायर, पृ. 143–44.

सौ से दस हजार के बीच दिरहम रखने वालों को दूसरी श्रेणी में, दो सौ दिरहम से कम रखने वालों को तीसरी श्रेणी में रक्खा। प्रथम, दूसरी तथा तीसरी श्रेणी वाले प्रति वर्ष क्रमश 48, 24 व 12 दिरहम जजिये के रूप में देते थे जो मुगलकाल में $13\frac{1}{3}$, $16\frac{2}{3}$ तथा $3\frac{1}{3}$ रु के बराबर थे। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में $3\frac{1}{3}$ रुपये से, जो कम से कम जजिया था, 9 मन गेहूँ खरीदा जा सकता था जिससे यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि जजिये का भार कितना अधिक था।[1]

यह दर सम्भवत. शहरी क्षेत्रों के लिये थी, देहातों से भूमि कर का 4 प्रतिशत जजिये के रूप में लिया जाता था। यदि सरकार का कोई ऐजेन्ट पूरे वर्ष जजिया वसूल न कर पाये तो अगले साल बकाया कर देय नही था।[2]

1713 में फर्रुखसियर ने इसे समाप्त कर दिया। चार साल बाद 1717 में इसे पुन लागू किया गया और 1719 मे इसे पुनः हटा लिया गया और अन्त में मुहम्मद शाह ने इसे 1720 मे समाप्त कर दिया। 1725 के बाद इसे लागू करने का उल्लेख नही मिलता है।[3]

इन चार करो के अतिरिक्त आय के अनेक स्रोत थे जिनमे पेशकश नजर, सम्पत्ति जब्ती, उत्तराधिकार, खान टकसाल आदि प्रमुख थे।

मध्ययुग मे ऐसा माना जाता था कि सम्राट के पास खाली हाथ जाना उचित नही है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति अपने पद तथा स्थान के अनुरूप सम्राट को भेंट देता था जिसे 'पेशकश' कहते थे। 'पेशकश' के अतिरिक्त 'नजर', 'नियाज' और 'निसार' भी थे जो सम्राट को राज्य के अमीरो आदि से प्राप्त होती थी। 1700 ई० के औरंगजेब के फर्मान से ऐसा आभास होता है कि नकद पेशकश को नजर, राजकुमारो से प्राप्त उपहार को नियाज तथा अमीरो से प्राप्त उपहारो को 'निसार' कहते थे।

सल्तनतकाल मे हमे कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा इस प्रकार से पेशकश प्राप्त करने के प्रमाण मिलते हैं और उसके बाद फीरोज तुगलक के अतिरिक्त सम्पूर्ण समय मे ये इसी प्रकार चलते रहे। फीरोज ने आज्ञा दी थी कि अमीर आदि द्वारा पेशकश के मूल्य को उस पर रहे हुए बकाया में से काट दिया जावे।

प्रत्येक व्यक्ति सुल्तान से मिलते समय उसे भेंट देता था जैसे फकीर नमाज की चादर, अमीर घोड़े, ऊट, शस्त्र आदि। इब्न बतूता लिखता है कि मुहम्मद तुगलक के प्रधान मंत्री ने माणिक से भरे हुए सोने और चादी के बर्तन भेंट किये थे।[4]

---

1. हबीब, आई. के अनुसार 12 दिरहम उस समय 3 रुपये 2 आने के बराबर थे—एग्रेरियन सिस्टम आफ द मुगल इंडिया, पृ 120.
2. कुरेशी आई एच —द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द मुगल अम्पायर, पृ. 145.
3. इरविन, आई —लेटर मुगल्स्, भाग 1, पृ. 338.
4. इब्न बतूता—रेहला, भाग 2, पृ. 17.

सुल्तान उनको सम्मानित करने के लिये उनसे कभी कभी हाथ मिलाता अथवा बगलगीर होता था।

मुगलो के समय में भेंट आदि देने की प्रथा अधिक प्रचलित थी। सरकारी अधिकारी विशेष अवसरो पर जैसे सम्राट तथा उसके पुत्रो की वर्षगाठ, नवरोज, राज्यारोहण का वार्षिक समारोह, ईद, राज्य के बडे अधिकारी प्रान्तों मे अपनी नियुक्ति अथवा प्रान्तो से आने के समय, पदोन्नति आदि अवसरो पर भेंट देते थे। अपने राज्यारोहण के वार्षिक उत्सव पर जहागीर को एक बार साढे दस लाख रुपया, पैतालीस घाडे तथा नौ हाथी भेंट में मिले थे। इसी प्रकार से औरगजेब को ऐसे ही अवसर पर पचास लाख रुपये की नजर प्राप्त हुई थी। कभी कभी जब सम्राट किसी अमीर के यहाँ जाने का निमत्रण स्वीकार करता था तो ऐसे अवसर पर उसे अमीर नजर प्रस्तुत करता था। दरबार मे आने वाले राजदूत भी सम्राट को भेंट देते थे। जहाँगीर के दरबार में बल्ख, ईरान आदि के दूतो द्वारा दिये गये उपहारो का उल्लेख मिलता है।[1] औरगजेब ने भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अपने राज्य में व्यापार करने की अनुमति देने के लिए दो लाख रुपये की भेंट स्वीकार की थी। ईसाई मिशनरी भी सम्राट के लिये इसी प्रकार के उपहार देते थे। गद्दी पर बैठते समय जमीदार तथा वशानुगत अधिकारी सम्राट को पेशकश देते थे। करदाता राजा भी वार्षिक पेशकश देते थे।[2]

पेशकश के लिये अकबर के समय से ही एक अलग खजाना स्थापित किया गया था जो सम्पूर्ण मुगल काल मे इसी प्रकार रहा। इन उपहारो से राज्य की काफी आय हो जाती थी और अगर बर्नियर के कथन को स्वीकार किया जावे तो पशकश से उमराओ का सर्वनाश ही हो गया था।[3] वास्तव मे ये उपहार तथा पेशकश एक प्रकार से सम्राट को दी जाने वाली घूस ही थी जिससे देने वाले सम्राट को प्रसन्न रखते थे।

इसके अतिरिक्त सम्पत्ति जब्ती की प्रथा प्रचलित थी। इसके अन्तर्गत ऐसे लोग जो बिना वारिस अथवा वसीयत के मर जाते थे राज्य उनकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया करता था। अब्बासी खलीफा व सल्तनतकाल मे यह प्रचलित था। सल्तनतकाल मे इन स्थितियो मे मुसलमान की मृत्यु पर राज्य सम्पत्ति पर अधिकार कर लेता था परन्तु जिम्मी की मृत्यु होने पर उसकी सम्पत्ति उसके समाज को दे दी जाती थी।[4]

---

1 बेनी प्रसाद—हिस्ट्री आफ जहाँगीर, पृ 293–94.
2 अली, अतहर—द मुगल नोबिलिटी अन्डर औरगजेब, पृ. 143–44.
3 बर्नीयर, पृ 211–12.
4 कुरेशी आई एच —एडमिनिस्ट्रेशन आफ द सल्तनत आफ देहली, पृ 100

मुगल काल मे भी अधिकारियो और उमराओ द्वारा एकत्रित सम्पत्ति राज्य की समझी जाती थी। यद्यपि आईन-ए-अकबरी में इसका उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु विदेशी यात्रियो के विवरण से यह स्पष्ट है। मासरेट ने अकबर के काल के सम्बन्ध मे लिखा है कि अकबर को अमीरो द्वारा एकत्रित धन से काफी आय थी। ये धन कानून और परम्परा के आधीन सम्राट का ही समझा जाता था। बर्नियर ने भी लिखा है कि "इसका परिणाम यह होता है कि उमरा की मृत्यु पर उसके पुत्र या कम से कम पौत्र की दशा एक भिखारी जैसी हो जाती है।"[1] औरंगजेब के 1666 के फरमान से स्पष्ट है कि उसने मृत उमरावो की सम्पत्ति पर तुरन्त राज्य का अधिकार करने के आदेश दिये थे। यदि उसका कोई वारिस न होता तो उसे बैतुलमाल मे जमा कर दी जाती थी, राज्य का उधार यदि बकाया होता तो उस राशि को काटकर ही बैतुलमाल मे बाकी सम्पत्ति जमा की जाती थी। वारिस होने पर उधार काट कर सम्पूर्ण सम्पत्ति को लौटा दिया जाता था। मनूची ने लिखा है कि इस नियम का कभी पालन नही होता था और सम्राट मृत अमीर की पूरी सम्पत्ति पर अधिकार कर लेता था। सर जदुनाथ सरकार का मत है कि राज्य द्वारा सम्पत्ति पर अधिकार केवल अल्पकालीन ही था और हिसाब करने के बाद सम्पत्ति वारिस को लौटा दी जाती थी। डा अतहर अली की मान्यता है कि औरंगजेब मृत उमराओ की सम्पत्ति को जब्त कर लेता था और उधार काट कर बाकी धन को अपनी इच्छानुसार बाट देता था।[2] डा फारुकी का मत है कि मनसबदारो के ऊपर इतना ऋण बकाया रहता था कि उनकी सम्पत्ति का मूल्य ऋण से अधिकतर कम ही होता था।

गडे हुए धन खान और टकसाल से भी राज्य कर वसूल करता था। कौटिल्य के अनुसार समस्त गडा हुआ धन राज्य का होता था। सल्तनतकाल मे हिन्दू अथवा मुसलमान, दोनो को ही गडा हुआ धन प्राप्त होने पर 1/5 भाग राज्य को कर के रूप मे देना पडता था। यदि गडा हुआ धन किसी ऐसे व्यक्ति ने ढूढा है जो उस भूमि का स्वामी नहीं है तो स्वामी 4/5 भाग व शेष राज्य लेता था। किन्तु ऐसे प्राप्त सिक्को पर जो भारत मे मुस्लिम विजय के पश्चात् चलाये गये थे उन पर कोई कर नहीं लगता था। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने दो बार ऐसे प्राप्त सिक्को पर कर लेने से इन्कार कर दिया था।[3] राजसी भूमि से प्राप्त खजाना सरकार द्वारा अधिकृत कर लिया जाता था।

---

1. बर्नीयर—वही, पृ. 211–12.
2. अली, अतहर—मुगल नोबिलिटी अन्डर औरंगजेब, पृ. 63–64.
3. कुरेशी, आई एच.—वही, पृ. 100.

सोना चांदी आदि की खानो पर राज्य का एकाधिकार था। लोहे, शीशे और पत्थरों आदि की खानो से राज्य कर लेकर व्यापारियो को इन खनिजो को निकालने की आज्ञा दे देता था। नमक निकालने पर भी राज्य का अधिकार था और इस पर कर वसूल किया जाता था।

शाही टकसाल पर राज्य का एकाधिकार था। उसे बट्टे के रूप मे धन प्राप्त होता था। लोग सोना, चांदी को देकर सिक्के लेते थे अथवा पुराने सिक्को के घिस जाने पर वे उन्हें बदलवाने टकसाल मे जाते थे जहाँ राज्य उनसे बट्टा काटता था। केवल सूरत की टकसाल से ही राज्य को वार्षिक नौ लाख रुपये की आय होती थी।

राज्य को शुल्क और जुर्मानो से भी काफी आय होती थी। तस्करो, डाकुओ तथा जाली सिक्के बनाने वालों पर जुर्माना किया जाता था। दरबार मे अनुचित व्यवहार करने पर भी जुर्माना किया जाता था। लश्कर खा को दरबार मे शराब पीकर आने पर अकबर को पचास हजार रुपये जुर्माना देना पड़ा था। इसी प्रकार शाहजहाँ के समय मे एक उमरा को गुसलखाने मे दुर्व्यवहार करने पर एक लाख रुपया जुर्माना देना पड़ा था।

अकबर ने विवाहो पर भी शुल्क लेना शुरू किया था। यह शुल्क वर-वधु की स्थिति के अनुसार एक दाम से दस मुहर तक लगता था। अदालती कागजो पर भी शुल्क लिया जाता था। विभिन्न पेशो को करने वालों को राज्य से आज्ञा लेनी पडती थी और इसके लिये उनसे शुल्क वसूल किया जाता था।[1]

मध्यकाल मे बूतायत अथवा कारखानो से भी आय होती थी। ये वस्तुएँ निर्माण के सगठनो के अतिरिक्त राजसी प्रतिष्ठानों के लिए प्रयुक्त होते थे। सल्तनतकाल मे इन कारखानो की सख्या लगभग 36 थी जिनमे फर्राशखाना, अबदारखाना, तोपखाना, आदि प्रमुख थे। मुगलो के समय मे सर जदुनाथ सरकार के अनुसार इनकी सख्या 70 से भी अधिक थी,[2] जिनम ईमारतखाना, तोपखाना, अबदारखाना, फीलखाना, पालकीखाना, शोखाना बावर्चीखाना अधिक मान्य थे। इनके अतिरिक्त ऐसे कारखाने भी थे जो शाही परिवार तथा केन्द्रीय शासन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होते थे। डा कुरैशी के अनुसार सम्राट को प्रत्येक वर्ष हजारो पौशाकें अपने अधिकारियो, दरबारियो अथवा दूतो को देनी पडती थीं और ये अनुभव किया जाता था कि राजकीय कारखानों के द्वारा तैयार करवाने पर ये अधिक सस्ती पडेंगी।[3] इसी प्रकार से बहुमूल्य हीरे-जवाहरात को काट-छांट कर उपहार के लिए तैयार किया जाता था

1. श्रीवास्तव, ए एल —अकबर द ग्रेट, भाग 2 पृ 154
2. सरकार, जे एन.—मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ 170–75
3. कुरैशी आई एच.—द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द मुगल अम्पायर, पृ 60.

और ये भी सरकारी कारखानों में ही होता था। तैयार की हुई वस्तुएँ प्रयोग में भी आती थी और इन्हे बेच भी दिया जाता था।

मध्ययुग में राज्य को व्यापार पर लगाये गये करो से काफी आय थी। चुंगी आय का अच्छा स्त्रोत था। समस्त मध्ययुग में विदेशो से आने या जाने वाली वस्तुओं से कर वसूल किया जाता था। समुद्र के मार्ग से आने-जाने वाली वस्तुओ पर बन्दरगाह पर ही चुंगी वसूल की जाती थी। बन्दरगाहो से चुंगी वसूल करने का अन्दाजा मनूची के इस विवरण से ही लगाया जा सकता है कि केवल सूरत के बन्दरगाह से 30 लाख रुपये वार्षिक चुंगी के रूप में वसूल किये जाते थे।

सीमा-शुल्क अधिकारी बड़े सख्त थे और सावधानी से चुंगी वसूल करते थे। बाहर से आने वाले व्यक्तियो की तलाशी लेने में काफी समय लग जाता था। सामान्यतः चुंगी की दर वस्तु के मूल्य का ढाई प्रतिशत थी। औरंगजेब के काल में मुसलमान व्यापारियों से ढाई प्रतिशत तथा हिन्दू और ईसाई व्यापारियो से यह 5 व 4 प्रतिशत वसूल की जाती थी।[1]

आन्तरिक व्यापार नावों से अथवा स्थल मार्ग से होता था। थल से माल के आने-जाने के समय जिस भू-भाग से माल निकल रहा हो वहाँ का जमींदार या अधिकारी, उसे अपने क्षेत्र से सुरक्षित निकलवाने के लिए उत्तरदायी था जिसके लिए वह 'राहदरी' नामक कर वसूल करता था। यह साधारणतया कम ही होता था परन्तु कभी-कभी वस्तु के मूल्य से भी अधिक कर देना पड़ता था। अकबर ने इसको बन्द कर दिया परन्तु फिर भी केन्द्र से दूर के अधिकारी इसे वसूल करते रहे इसीलिए औरंगजेब ने इसे पुन. बन्द करने की आज्ञा निकाली। फेरी से नदी पार करने पर 'उतराई' नामक कर वसूल किया जाता था। बिक्री तथा नगर में प्रवेश पर भी चुंगी देनी पड़ती थी।

इन राज्य स्वीकृत करो के अतिरिक्त अनेकों ऐसे कर थे जो राज्य से स्वीकृत न थे। इन गैर-कानूनी करो को 'अबवाब' कहते थे। फीरोज तुगलक क्योंकि इनको शरा विरोधी मानता था इसलिए उसने इनको वसूल न करने के आदेश दिये।[2] इस आदेश के बाद भी दूर के प्रदेशों मे स्थानीय अधिकारियो द्वारा ये वसूल किये जाते रहे। फीरोज तुगलक ने फतुहात-ए-फीरोजशाही मे ऐसे अबवाबो की सूची दी है जिनका उसने उन्मूलन किया था। इनमें से अनेको बहुत ही साधारण थे जैसे पुष्प बेचने पर अबवाब वसूल करना आदि। अफीफ ने जिन अबवाबों का वर्णन किया है उनमे 'मुस्तगिल' (मकानो तथा दुकानो पर लगने वाला कर), जजारी, (कसाईयो से प्रत्येक गाय के काटने पर लिया जाने वाले कर जो 12 जीतल था) प्रमुख हैं।

---

1. थेवेंनो, वही पृ. 4.
2. जोहरी, एल.—फीरोज तुगलक, पृ. 93–94.

सोना चाँदी आदि की खानों पर राज्य का एकाधिकार था। लोहे, शीशे और पत्थरों आदि की खानों से राज्य कर लेकर व्यापारियों को इन खनिजों को निकालने की आज्ञा दे देता था। नमक निकालने पर भी राज्य का अधिकार था और इस पर कर वसूल किया जाता था।

शाही टकसाल पर राज्य का एकाधिकार था। उसे बट्टे के रूप में धन प्राप्त होता था। लोग सोना, चाँदी को देकर सिक्के लेते थे अथवा पुराने सिक्कों के घिस जाने पर वे उन्हें बदलवाने टकसाल में जाते थे जहाँ राज्य उनसे बट्टा काटता था। केवल सूरत की टकसाल से ही राज्य को वार्षिक नौ लाख रुपये की आय होती थी।

राज्य को शुल्क और जुर्मानों से भी काफी आय होती थी। तस्करों, डाकुओं तथा जाली सिक्के बनाने वालों पर जुर्माना किया जाता था। दरबार में अनुचित व्यवहार करने पर भी जुर्माना किया जाता था। लश्कर खाँ को दरबार में शराब पीकर आने पर अकबर को पचास हजार रुपये जुर्माना देना पड़ा था। इसी प्रकार शाहजहाँ के समय में एक उमरा को गुसलखाने में दुर्व्यवहार करने पर एक लाख रुपया जुर्माना देना पड़ा था।

अकबर ने विवाहों पर भी शुल्क लेना शुरू किया था। यह शुल्क वर वधु की स्थिति [redacted] अनुसार एक दाम से दस मुहर तक लगता था। अदालती कागजों पर भी शुल्क लिया जाता था। विभिन्न पेशों को करने वालों को राज्य से आज्ञा लेनी पड़ती थी और इसके लिये उनसे शुल्क वसूल किया जाता था।[1]

मध्यकाल में बूतागत अथवा कारखानों से भी आय होती थी। ये वस्तुएँ निर्माण के संगठनों के अतिरिक्त राजसी प्रतिष्ठानों के लिए प्रयुक्त होते थे। सल्तनतकाल में इन कारखानों की संख्या लगभग 36 थी जिनमें फर्राशखाना, अबदारखाना, तोपखाना, आदि प्रमुख थे। मुगलों के समय में सर जदुनाथ सरकार के अनुसार इनकी संख्या 70 से भी अधिक थी,[2] जिनमें ईमारतखाना, तोपखाना, अबदारखाना, फीलखाना, पालकीखाना, शोरवाना बावर्चीखाना अधिक मान्य थे। इनके अतिरिक्त ऐसे कारखाने भी थे जो शाही परिवार तथा केन्द्रीय शासन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होते थे। डा कुरेशी के अनुसार सम्राट को प्रत्येक वर्ष हजारों पोशाकें अपने अधिकारियों, दरबारियों अथवा दूतों को देनी पड़ती थीं और ये अनुभव किया जाता था कि राजकीय कारखानों के द्वारा तैयार करवाने पर ये अधिक सस्ती पड़ेंगी।[3] इसी प्रकार से बहुमूल्य हीरे जवाहरात को काट-छाँट कर उपहार के लिए तैयार किया जाता था

1 श्रीवास्तव, ए एल —अकबर द ग्रेट, भाग 2 पृ 154
2 सरकार, जे एन —मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ 170–75
3 कुरेशी आई एच.—द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द मुगल अम्पायर, पृ 60

और ये भी सरकारी कारखानों में ही होता था। तैयार की हुई वस्तुएँ प्रयोग में भी आती थी और इन्हें बेच भी दिया जाता था।

मध्ययुग में राज्य को व्यापार पर लगाये गये करों से काफी आय थी। चुंगी आय का अच्छा स्त्रोत था। समस्त मध्ययुग में विदेशों से आने या जाने वाली वस्तुओं से कर वसूल किया जाता था। समुद्र के मार्ग से आने जाने वाली वस्तुओं पर बन्दरगाह पर ही चुंगी वसूल की जाती थी। बन्दरगाहों से चुंगी वसूल करने का अन्दाजा मनूची के इस विवरण से ही लगाया जा सकता है कि केवल सूरत के बन्दरगाह से 30 लाख रुपये वार्षिक चुंगी के रूप में वसूल किये जाते थे।

सीमा शुल्क अधिकारी बड़े सख्त थे और सावधानी से चुंगी वसूल करते थे। बाहर से आने वाले व्यक्तियों की तलाशी लेने में काफी समय लग जाता था। सामान्यतः चुंगी की दर वस्तु के मूल्य का ढाई प्रतिशत थी। औरंगजेब के काल में मुसलमान व्यापारियों से ढाई प्रतिशत तथा हिन्दू और ईसाई व्यापारियों से यह 5 व 4 प्रतिशत वसूल की जाती थी।[1]

आन्तरिक व्यापार नावों से अथवा स्थल मार्ग से होता था। थल से माल के आने जाने के समय जिस भू-भाग से माल निकल रहा हो वहां का जमींदार या अधिकारी, उसे अपने क्षेत्र से सुरक्षित निकलवाने के लिए उत्तरदायी था जिसके लिए वह 'राहदरी' नामक कर वसूल करता था। यह साधारणतया कम ही होता था परन्तु कभी कभी वस्तु के मूल्य से भी अधिक कर देना पड़ता था। अकबर ने इसको बन्द कर दिया परन्तु फिर भी केन्द्र से दूर के अधिकारी इसे वसूल करते रहे इसीलिए औरंगजेब ने इसे पुन बन्द करने की आज्ञा निकाली। फेरी से नदी पार करने पर 'उतराई' नामक कर वसूल किया जाता था। बिक्री तथा नगर में प्रवेश पर भी चुंगी देनी पड़ती थी।

इन राज्य स्वीकृत करों के अतिरिक्त अनेको ऐसे कर थे जो राज्य से स्वीकृत न थे। इन गैर कानूनी करों को 'अबवाब' कहते थे। फीरोज तुगलक क्योंकि इनको शरा विरोधी मानता था इसलिए उसने इनको वसूल न करने के आदेश दिये।[2] इस आदेश के बाद भी दूर के प्रदेशों में स्थानीय अधिकारियों द्वारा ये वसूल किये जाते रहे। फीरोज तुगलक ने फतुहात ए फीरोजशाही में ऐसे अबवाबों की सूची दी है जिनका उसने उन्मूलन किया था। इनमें से अनेको बहुत ही साधारण थे जैसे फूल बेचने पर अबवाब वसूल करना आदि। अफीफ ने जिन अबवाबों का वर्णन किया है उनमें 'मुस्तधिल' (मकानों तथा दुकानों पर लगने वाला कर), जजारी, (कमाईयों से प्रत्येक गाय के काटने पर लिया जाने वाले कर जो 12 जीतल था) प्रमुख हैं।

---

1. थेवेनो, वही पृ 4
2. जोहरी, एल —फीरोज तुगलक, पृ 93-94

मुगलकाल में अकबर ने इनको समाप्त करने का प्रयास किया। इनमें मीर बहरी (बन्दरगाहों पर लगने वाला); गाव शुमारी (प्रति बैल पर कर), सैर दरख्ती (प्रति पेड़ पर कर); पेशाकर (विभिन्न पेशों पर लगाया जाने वाला कर); नक्खास (पशु पर बिक्री कर); सलामी (भूमि प्राप्त करने पर भेंट); हासिल बाजार (बाजार पर कर) आदि प्रमुख हैं।[1]

जहाँगीर ने भी अपने राज्याभिषेक के समय ऐसे अनेक करों को समाप्त किया जैसे तमगा, मीर बहरी आदि,[2] परन्तु ऐसा अनुभव होता है कि जागीरदार और दूरस्थ प्रान्त के अधिकारी अपने लाभ के लिए इन्हें वसूल करते रहे क्योंकि औरंगजेब ने पुनः इनको समाप्त करने के आदेश निकाले थे। सर जदुनाथ सरकार ने औरंगजेब द्वारा समाप्त किये गये 63 अबवाबों का उल्लेख किया है,[3] जिनमें राहदरी, शुकराना, खराजकशी, रूखसतनामा (सरकारी पत्र देने पर) तरकारी व मिट्टी के बर्तन बेचना आदि, प्रमुख थे। ये अबवाब इतने परम्परागत हो गये थे कि प्रत्येक सम्राट इनको समाप्त करने के लिए आदेश निकालता था और पुनः ये पहले की ही तरह वसूल होने लगते थे।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मध्ययुग में कर-सिद्धान्त मोटे रूप से शरा पर आधारित था और अकबर जैसे बहुत ही कम शासक थे जो तर्क और बुद्धि के आधार पर कर के ढाँचे में परिवर्तन करने के लिए तत्पर हों। अबवाब परम्परागत हो गए थे और एक प्रकार से कर के ही अंग बन गए थे, इसीलिए कई बार इनके उन्मूलन की घोषणाओं का हमें उल्लेख मिलता है।

1. श्रीवास्तव, ए.एल.—अकबर द ग्रेट भाग 2, पृ. 150–51.
2. तुजक-ए-जहाँगीरी, (रोजर्स द्वारा अनुवादित) भाग 1, पृ. 7–8.
3. सरकार जे एन.—मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 76.

12
बैंकिंग व मुद्रा

मध्यकालीन भारत मे बैंकिंग व्यवस्था का, जिसे आज हम एक सुस्पष्ट रूप मे देखते हैं, यहां पर नामोनिशान भी नही था। देश मे आन्तरिक और बन्दरगाहों पर व्यापार एक सुयोजित सगठित दलालों के वर्ग द्वारा व्यवस्थित था जो दोनो ही व्यापारिक पार्टियो से कमीशन प्राप्त करते थे तथा इस प्रकार वस्तु के मूल्य मे बढ़ोतरी हो जाती थी।[1] जब अलाउद्दीन खलजी ने दिल्ली में बाजार नियन्त्रण की नीति अपनाई तो उसे इस वर्ग का कठोरता के साथ दमन करना पड़ा। परन्तु अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु के साथ ही उसके बाजार-नियन्त्रण की नीति भी समाप्त हो गई। इस वर्ग ने पुन अपनी गतिविधियो को आरम्भ कर दिया। फीरोज तुगलक के शासनकाल तक इनकी गतिविधियाँ इतनी व्याप्त हो चुकी थी कि इनको एक कानूनी रूप देना आवश्यक हो गया। व्यापारियो द्वारा अलग-अलग प्रदेश मे अपनी ऐजेन्सिया खोली गई जहा पर उनके कारिन्दे उनके धन्धे को व्यवस्थित करते थे। लोकीक बैंकर्स आज की बैंकिंग व्यवस्था के अनुरूप ऋण देते थे तथा हुन्डियां जमा करते थे, और वे इसके लिए ब्याज अथवा अपना कमीशन लेते थे। बाण्ड अथवा बन्ध-पत्र स्वीकार किये जाते थे जिनको इस समय 'तमस्सुक' कहते थे। राज्य की ओर से इन पर निर्धारित ब्याज लेने की आज्ञा थी और सम्भावित झगड़ो का निर्णय अदालत के द्वारा किया जाता था।

इस काल म ब्याज पर ऋण देने तथा व्यापारिक प्रतिष्ठानो को धन उधार देने का एक विशेष वर्ग था। ये "साहू" तथा "महाजन" जो ऋण देने वाले तथा बैंकर थे उच्च वर्ग में अत्यधिक लोकप्रिय थे क्योकि उच्च वर्ग अत्यधिक खर्चीला था और आये दिन इनको ऋण की आवश्यकना रहती थी।[2] यद्यपि यह

---

1. अशरफ, के. एम.—लाइफ एन्ड कन्डीशन आफ द पीपल आफ हिन्दुस्तान पृष्ठ 139.
2. वही, पृष्ठ 140.

ईब्नबतूता के विवरण से जानकारी मिलती है कि 8 दिरहम देहली की एक दीनार के बराबर माना जाता था जो कि हस्तकानीस और टक के एवजी के रूप में काम में लिये जाते थे।

बहलोल लोदी ने अपने नाम से 'बहलोली' सिक्का चलाया जो कि शेरशाह व अकबर के 'दाम' की तरह टक का 1/40 वा भाग माना जाता था। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने तांबे का टक चलाया जो चांदी के सिक्के का 1/20वा भाग था। यही सिकन्दरी टक अकबर द्वारा चलाये गये दाम का अग्रगामी था।

समस्त सल्तनत काल मे सोने और चांदी के सिक्कों का तांबे के सिक्को के रूप मे मूल्य निर्धारित करने की पद्धति बनी रही। सल्तनत काल के जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उन पर यद्यपि सुल्तान का नाम अवश्य अंकित है परन्तु टकसाल का नाम नही मिल पाया है। इल्तुतमिश के समय का चांदी का टक और तांबे का जीतल मिलता है। उसके 'टक' पर टकसाल का नाम भी मिलता है। वह पहला शासक था जिसने शुद्ध अरबी सिक्के चलाये जिन पर खलीफा का नाम और उसकी उपाधियां अंकित रहती थी। इसका तोल 175 ग्रेन था।

मुगलो की मुद्रा व्यवस्था पहले शासको की अपेक्षा अधिक ठोस थी। बाबर के शाहरुख व दिरहम नामक सिक्के जो मोटे रूप से मध्य एशिया मे प्रचलित सिक्को के नमूनो पर थे अधिकतर आगरा, लाहौर दिल्ली जौनपुर की टकसाल में गढे गये थे। कधार से उसने बाबरी नाम का सिक्का भी चलाया था। बाबर के सोने और चांदी के सिक्को पर एक ओर कलमा तथा खलीफाओ के नाम तथा दूसरी ओर बादशाह की उपाधि अंकित थी—अल सुल्तान अल आजम वा अल खाकान अल-मुकर्रम जहीरुद्दीन मुहम्मद बादशाह गाजी। हुमायू के सिक्के बाबर जैसे ही थे केवल उसमे 'बाबर बादशाह गाजी' के स्थान पर मुहम्मद हुमायूं बादशाह गाजी अंकित था।

1540 ई० में जब शेरशाह ने हुमायूं को पराजित कर स्वयं गद्दी पर अधिकार कर लिया तो उसने मुद्रा के क्षेत्र मे श्लाघनीय परिवर्तन किया। उसने 178 ग्रेन के चांदी तथा 330 ग्रेन तांबे के सिक्के प्रचलित किये। उसने रुपये के आधे, चौथाई, आठवें और सोलहवें भाग के भी सिक्के चलायें। तांबे के सिक्के के छोटे भाग को पैसा कहा जाता था। उसने सोने के सिक्के भी चलाये परन्तु उनकी संख्या बहुत ही कम है। 1552 से 1556 ई० के बीच 'शेरशाह के दो भतीजो तथा एक भानजे ने अपने अपने नाम के सिक्के चलायें परन्तु इनकी संख्या अत्यधिक कम है।

हुमायू ने दूसरी बार गद्दी पर बैठने पर शेरशाह की मुद्रा प्रणाली को ही अपनाया यद्यपि उसने अल्पकाल में ही दिरहम नामक सिक्के प्रचलित किये थे।

वास्तविक रूप में अकबर के काल से ही मुगलकालीन मुद्रा प्रणाली व्यवस्थित रूप से प्रारम्भ होती है। अपने शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में अकबर ने शेरशाह के सिक्का के आधार पर ही सोने, चादी व ताबे के सिक्के प्रचलित किये। ये केवल प्रारम्भिक प्रयोग था और जैसे जैसे शासन स्थायी होता गया वैसे ही वैसे मुद्रा के क्षेत्र में नये प्रयोग किये जाने लगे। सिक्का को व्यवस्थित रूप देने के लिए अकबर ने सुप्रसिद्ध ख्वाजा अब्दुल समद को टकसाल का निदेशक नियुक्त किया और फतेहपुर सीकरी की टकसाल उसके अधीन रक्खी। टकसाल की समुचित रूप से व्यवस्था करने के लिए अकबर ने भिन्न-भिन्न स्थानों की टकसालों को विभिन्न वित्त विशेषज्ञों के अधीन किया जैसे टोडरमल को बंगाल, ख्वाजा मसूर को जौनपुर और मुजफ्फर खा को लाहौर की टकसाल का प्रबन्ध सौंपा।

अकबर ने सबसे पहले मुहर नाम का एक सिक्का चलाया जिसका वजन 170 से 175 ग्रेन था। तत्पश्चात् अनेक प्रकार के सिक्के चलाये गये। आईन ए-अकबरी में लगभग 26 प्रकार के सिक्को का उल्लेख है। इनमें 'शहनशाह' नामक गोल सिक्का (वजन 101 तोला, 9 माशा, व 7 सुर्ख) अत्यधिक प्रसिद्ध है जो कि 100 'लाल ए जलाली' मुहरो के बराबर था। इसी नाम के दूसरे सिक्के का वजन 95 तोला 8 माशा था जो कि ग्यारह ग्यारह माशा की एक सौ मोहरों के बराबर था। 'रहस' जो कि कभी-कभी वर्गाकार भी होता था शहनशाह की आधी कीमत और वजन का था तथा 'आत्मा' शहनशाह का चौथा भाग था। अकबर ने इनके अतिरिक्त 'बिसाँत' (शहनशाह का 1/5) 'चुगुन' (शहनशाह का 1/50) नामक सिक्के भी चलाये।[1] रुपये नाम का चादी का सिक्का जिसका वजन 178 ग्रेन था राज्य में मोटे रूप से इकाई का काम करता था। रुपये के छोटे भागो के रूप में 'दरब' (1/2 रुपया) 'चर्न' (1/4 रुपया), पनडऊ (1/5 रुपया) अष्ठा (1/8 रुपया) दश (1/10 रुपया) काला (1/16 रुपया) 'सूकी' (1/20 रुपया) उसके समय में प्रचलित थे। सम्भवत साधारण वर्ग की सुविधा के लिए ये चलाये गये थे।

सोने और चादी के सिक्कों के अतिरिक्त उसके समय में तावे के सिक्के भी प्रचलित थे जिनको दाम कहते थे। इसका मूल्य रुपये की तुलना में 1/40 था। इस दाम को भी छोटे छोटे भागो में विभाजित किया गया था जैसे 'अधेला' (आधा दाम), पावला' (चौथाई दाम) और दमडी' (आठवां दाम) प्रमुख थे।[2] अकबर-कालीन सिक्को में सबसे छोटा भाग 'जीतल' कहलाता था जो दाम का 1/25 वां

1 आईन ए अकबरी, (ब्लाखमैन) भाग 1, पृ 28-30.

2 वही, पृ 31-32.

ईब्नबतूता के विवरण से जानकारी मिलती है कि 8 दिरहम देहली की एक दीनार के बराबर माना जाता था जो कि हस्तकानीस और टक के एवजी के रूप मे काम मे लिये जाते थे।

बहलोल लोदी ने अपने नाम से 'बहलोली' सिक्का चलाया जो कि शेरशाह व अकबर के 'दाम' की तरह टक का 1/40 वां भाग माना जाता था। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने ताबे का टक चलाया जो चादी के सिक्के का 1/20वा भाग था। यही सिकन्दरी टक अकबर द्वारा चलाये गये दाम का अग्रगामी था।

समस्त सल्तनत काल मे सोने और चादी के सिक्कों का ताबे के सिक्को के रूप में मूल्य निर्धारित करने की पद्धति बनी रही। सल्तनत काल के जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उन पर यद्यपि सुल्तान का नाम अवश्य अंकित है परन्तु टकसाल का नाम नही मिल पाया है। इल्तुतमिश के समय का चादी का टक और ताबे का जीतल मिलता है। उसके 'टक' पर टकसाल का नाम भी मिलता है। वह पहला शासक था जिसने शुद्ध अरबी सिक्के चलाये जिन पर खलीफा का नाम और उसकी उपाधियां अंकित रहती थी। इसका तोल 175 ग्रेन था।

मुगलों की मुद्रा व्यवस्था पहले शासकों की अपेक्षा अधिक ठोस थी। बाबर के शाहरुख व दिरहम नामक सिक्के जो मोटे रूप से मध्य एशिया मे प्रचलित सिक्को के नमूना पर थे अधिकतर आगरा, लाहौर दिल्ली जौनपुर की टकसाल में गढे गये थे। कधार से उसने बाबरी नाम का सिक्का भी चलाया था। बाबर के सोने और चादी के सिक्को पर एक ओर कलमा तथा खलीफाओ के नाम तथा दूसरी ओर बादशाह की उपाधि अंकित थी—अल सुल्तान अल आजम वा अल खाकान अल-मुकर्रम जहीरुद्दीन मुहम्मद बादशाह गाजी। हुमायू के सिक्के बाबर जैसे ही थे केवल उसमे बाबर बादशाह गाजी' के स्थान पर मुहम्मद हुमायूं बादशाह गाजी अंकित था।

1540 ई० मे जब शेरशाह ने हुमायूं को पराजित कर स्वय गद्दी पर अधिकार कर लिया तो उसने मुद्रा के क्षेत्र मे श्लाघनीय परिवर्तन किया। उसने 178 ग्रेन के चादी तथा 330 ग्रेन ताबे के सिक्के प्रचलित किये। उसने रुपये के आधे, चौथाई, आठवें और सोलहवें भाग के भी सिक्के चलाये। ताबे के सिक्के के छोटे भाग को पैसा कहा जाता था। उसने सोने के सिक्के भी चलाये परन्तु उनकी सख्या बहुत ही कम है। 1552 से 1556 ई० के बीच शेरशाह के दो भतीजो तथा एक भानजे ने अपने अपने नाम के सिक्के चलाये परन्तु इनकी सख्या अत्यधिक कम है।

हुमायू ने दूसरी बार गद्दी पर बैठने पर शेरशाह की मुद्रा प्रणाली को ही अपनाया यद्यपि उसने अल्पकाल मे ही दिरहम नामक सिक्के प्रचलित किये थे।

वास्तविक रूप म अकबर के काल स ही मुगलकालीन मुद्रा प्रणाली व्यवस्थित रूप से प्रारम्भ होती है। अपने शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में अकबर ने शेरशाह के सिक्को के आधार पर ही सोने, चांदी व तावे के सिक्के प्रचलित किये। ये केवल प्रारम्भिक प्रयोग था और जैसे जैसे शासन स्थायी होता गया वैसे ही वैसे मुद्रा के क्षेत्र म नये प्रयोग किये जाने लगे। सिक्को को व्यवस्थित रूप देने के लिए अकबर ने सुप्रसिद्ध ख्वाजा अब्दुल समद को टकसाल का निदेशक नियुक्त किया और फतेहपुर सीकरी की टकसाल उसके अधीन रखी। टकसाल की समुचित रूप से व्यवस्था करने के लिए अकबर ने भिन्न-भिन्न स्थानो की टकसालो को विभिन्न वित्त विशेषज्ञो के अधीन किया जैसे टोडरमल को बगाल ख्वाजा मसूर को जौनपुर और मुजफ्फर खा को लाहौर की टकसाल का प्रबन्ध सौंपा।

अकबर ने सबसे पहले मुहर नाम का एक सिक्का चलाया जिसका वजन 170 से 175 ग्रेन था। तत्पश्चात् अनेक प्रकार के सिक्के चलाये गये। आईन ए-अकबरी म लगभग 26 प्रकार के सिक्को का उल्लेख है। इनमें 'शहनशाह' नामक गोल सिक्का (वजन 101 तोला, 9 माशा, व 7 सुर्ख) अत्यधिक प्रसिद्ध है जो कि 100 'लाल ए-जलाली' मुहरो के बराबर था। इसी नाम के दूसरे सिक्के का वजन 95 तोला 8 माशा था जो कि ग्यारह ग्यारह माशा की एक सौ मोहरों के बराबर था। 'रहस' जो कि कभी-कभी वर्गाकार भी होता था शहनशाह की आधी कीमत और वजन का था तथा 'आत्मा' शहनशाह का चौथा भाग था। अकबर ने इनके अतिरिक्त 'बिसात' (शहनशाह का 1/5) चुगुल (शहनशाह का 1/50) नामक सिक्के भी चलाये।[1] रुपये नाम का चादी का सिक्का जिसका वजन 178 ग्रेन था राज्य म मोटे रूप से इकाई का काम करता था। रुपये के छोटे भागो के रूप में 'दरब' (1/2 रुपया) 'चन' (1/4 रुपया), पनडऊ (1/5 रुपया) अष्ठा (1/8 रुपया) दश (1/10 रुपया) काला (1/16 रुपया) 'सूकी' (1/20 रुपया) उसके समय म प्रचलित थे। सम्भवत साधारण वर्ग की सुविधा [illegible] लिए ये चलाये गये थे।

सोने और चादी के सिक्को के अतिरिक्त उसके समय म तावे के सिक्के भी प्रचलित थे जिनको दाम कहते थे। इसका मूल्य रुपये की तुलना में 1/40 था। इस दाम को भी छोटे छोटे भागों में विभाजित किया गया था जैसे 'अधेला' (आधा दाम) 'पावला' (चौथाई दाम) और 'दमड़ी' (आठवां दाम) प्रमुख थे।[2] अकबर-कालीन सिक्को में सबसे छोटा भाग 'जीतल' कहलाता था जो दाम का 1/25 था

1 आईन ए अकबरी, (ब्लाखमैन) भाग 1, पृ 28–30.

2 वही, पृ 31–32

भाग होता था परन्तु अधिकतर यह केवल हिसाब किताब करने के ही काम आता था। साधारण रूप म इसका प्रयोग नहीं के बराबर ही था।

प्रारम्भ मे सिक्कों पर अकबर के नाम के साथ उसकी उपाधियाँ 'साम्राज्य अक्षय रहे' तथा टकसाल का नाम भी मुद्रित रहता था परन्तु बाद के काल मे सिक्को म 'अल्लाहू अकबर जल्ले जलाल हू' मुद्रित था। समय समय पर अपनी विजय की खुशी म भी अकबर ने सिक्के चलाये जस 1602 ई० म असीरगढ़ की विजय के बाद एक सोने का सिक्का चलाया गया जिसके एक तरफ बाज तथा दूसरी तरफ टकसाल के नाम के साथ मुद्रित करने की तिथि अंकित थी। शासन के 50 वें वर्ष मे उसने राम और सीता की मूर्ति सिक्को पर मुद्रित कराई और उस पर 'राम सिया' लिखवाया। इसी प्रकार स आगरे स चलाये गये सिक्को पर बतख अंकित करवाई।[1]

अकबर ने सिक्को की शुद्धता को बनाये रखने के लिए सराफी नाम के अधिकारी को नियुक्त किया जिसका कार्य केवल यह देखना था कि सिक्को म किसी प्रकार की मिलावट न हो।[2] सिक्को की शुद्धता को बनाये रखने के लिए उसने यह नियम बनाया कि सोने के सिक्के केवल अहमदाबाद फतेहपुर सीकरी व काबुल में ढाले जावें। इसी प्रकार स चाँदी क सिक्को के लिए 14 स्थान निश्चित किए जिनमे जौनपुर प्रमुख केन्द्र था।

अकबरकालीन सिक्के अपनी शुद्धता तथा कलात्मकता क लिए प्रसिद्ध हैं। विंसेंट स्मिथ जो कि किसी प्रकार स अकबर का प्रशंसक नहीं कहा जा सकता वह भी स्वीकार करता है कि मुगल काल के सिक्के तुलना मे समकालीन महारानी एलिजाबेथ अथवा यूरोप के दूसरे सम्राटों की तुलना म श्रेष्ठ हैं।[3]

जहाँगीर के सिक्के भी अकबरकालीन सिक्को के आधार पर हैं। सोने और चाँदी के सिक्कों क अतिरिक्त विशेष अवसरो पर विशेष सिक्के गढ़े जाते थे जिनम 'निसार' (रुपये का चौथा भाग) अधिक प्रचलित था और जो उसके उत्तराधिकारियों क काल म भी मान्य था। 'नूर अफशान' 'खैर क बुल' नामक सिक्के भी उसने चलाये। अपने राज्यकाल के छठे वर्ष उसने एक सोने की मोहर चलाई जिसमे एक ओर सम्राट शराब क प्याले को अपने लब (होठ) तक ले जाते हुए बताया गया है तथा दूसरी ओर सूर्य नक्षत्र में अंकित है।[4] कुछ सिक्कों पर उसकी अर्द्ध-प्रतिमा का

---

1 गुप्ता पी एन —क्वायन्स पृ 118–19

2 श्रीवास्तव ए एल —अकबर, भाग 2, पृ. 207–09

3 स्मिथ, वी ए —अकबर द ग्रेट पृ 157

4 हाल्डन, ई एस —द मुगल एम्परर्स आफ हिन्दुस्तान पृ 232

पार्श्व चित्र, एक हाथ बालकनी पर रक्खे हुए अंकित है। कुछ सिक्कों पर हाथ में फूल व प्याला अंकित है।[1] अपनी आत्मकथा तुजक ए-जहांगीरी में वह लिखता है कि "मैं प्रत्येक सोने के सिक्के का विभिन्न नामकरण करता हूं—100 तोले की मोहर को 'नूरशाही', 50 तोले की मोहर को 'नूर सुल्तान', 20 तोले की को 'नूर दौलत' 10 तोले की को 'नूर करम' 5 तोले की को 'नूर मिहर' एक तोले की को 'नूर जहानी' और इससे आधे तथा चौथाई वजन वाली को 'नूरानी' तथा 'रावाजी।'" चांदी के सिक्कों के सम्बन्ध में वह लिखता है कि '100 तोले के सिक्के को मैंने 'काउक्ब-ए तालो' 50 तोले वाले को 'काउक्ब ए-इकबाल', 20 तोले वाले को 'काउक्ब ए-मुराद', 10 तोले वाले को 'काउकब-ए-बक्त', 5 तोले वाले को 'काउकब ए सद' और एक तोले को 'जहांगीरी' की संज्ञा दी है।[2] जहांगीरी सिक्के के आधे और चौथाई मूल्य के सिक्कों को 'सुल्तानी' और 'निसारी' कहते थे। तांबे के सिक्कों को 'दिम' व 'बेर-ए इकबाल' कहते थे। 10 तोले से 100 तोले तक की मोहरों पर निम्न पद्यात्मक आख्यान अंकित कराया गया—

"बा खते नूर बर जर किल्क ए-तक्दीर,
रकम बादशाह नूरुद्दीन जहांगीर"

इन पंक्तियों के बीच कलमा उद्धरत था। मोहरों के दूसरी ओर निम्न शब्द अंकित थे—

"धुद चू बुर जिया सिक्का नूरानी जहां, आफताबी ममलकत तारीख ए-मान"।

पेलसर्ट[3] ने जहांगीर के समय के सिक्कों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "अधिकतर रुपये की इकाई में सिक्कों का प्रयोग किया जाता था परन्तु ये रुपये भिन्न भिन्न किस्म के थे—खजाना या अकबरकालीन सिक्के, छलनी अथवा जहांगीरी सिक्के जो आगरा, लाहौर, पटना, कंधार अथवा गुजरात की टकसालों में मुद्रित किये गये थे।" व्यापारी लोग केवल इन्हीं सिक्कों को आधार मानकर सौदा करते थे। जहांगीरकालीन सिक्कों का मूल्य अकबरकालीन सिक्कों से 1 अथवा 2 प्रतिशत अधिक आंका जाता था।

---

1. गुप्ता, पी. एल —वही, पृ 122.
2. तुजक-ए-जहांगीरी (फारसी) भाग 1, पृ. 5.
3. पेलसर्ट—वही, पृष्ठ 29–30.

शाहजहा के सिक्को मे कोई कलात्मक आकर्षण नही था और जहागीर के समय में प्रचलित शैली को ही उसने अपनाया था।[1] उसके सिक्को पर पद्यात्मक आख्यान अंकित मिलते हैं। डी लायेट उस समय म प्रचलित सोने और चादी के सिक्को का विवरण देता है जिसमें मोहर के अतिरिक्त आठ विभिन्न मूल्य के सिक्के अधिक प्रचलित मानता है। ताबे के सिक्को मे अधिक प्रचलित पैसा था जो 80 कौडी अथवा 35 से 50 दादाम के मूल्य के बराबर था। शाहजहा ने टकसालो की व्यवस्था मे सुधार किया और अहमदाबाद स्थित टकसाल सूरत की अपेक्षा अधिक सम्मानित समझी जाने लगी।

औरगजेब ने सिक्को को और अधिक आकर्षित बनाया और शाहजहा की तुलना में उनका भार 5/8 अधिक बढा दिया, परन्तु उसके राज्यारोहण के पश्चात् उसने सिक्को पर कलमा अकित कराना बन्द कर दिया। उसके सिक्को पर उसका नाम और उपाधि इस प्रकार अकित थे। 'अबू अल जफर मुहउद्दीन मुहम्मद बहादुर शाह आलमगीर औरगजेब गाजी।" उसके बाद के सिक्को पर अब्दुल बाकी शाहबई द्वारा रचित एक पद्य मिलता है। ब्राउन ने लिखा है कि औरगजेब के समय के सिक्को मे दारबख्श शाहशुजा बीदारबख्त तथा अजी मुश शान के द्वारा चल ये गये रुपये के सिक्के अधिक रुचिकर हैं।[2] औरगजेब के उत्तरकालीन समय मे बीजापुर और गोलकुण्डा के सिक्के काफी मात्रा मे प्रचलित थे। सम्पूर्ण मुगल काल के चादी के सिक्को के बारे म थेवेनी ने लिखा है कि "महान् मुगलो की चादी की मुद्रा किसी दूसरी प्रचलित चादी की मुद्रा स कही अधिक अच्छी थी और इसीलिए जब कभी कोई विदेशी मुगल राज्य मे प्रवेश करता था तो वो समस्त चादी के सिक्को को यहा की मुद्रा मे परिवर्तित करवा लेता था जो पुन गलाकर नये और सुन्दर सिक्को मे ढाल दी जाती थी।[3]

मुगलों के समय मे सिक्को की ढलाई स्वतन्त्र ढलाई के सिद्धान्त पर आधारित थी। चादी के सिक्को में अधिक से अधिक चार प्रतिशत दूसरी धातु मिलाई जाती थी परन्तु सोने के सिक्के शुद्ध होते थे। व्यक्ति को ये स्वतन्त्रता थी कि वह सोना, चादी ले जाकर टकसाल से सिक्के ढलवा ले जो कि राज्य द्वारा मान्य होते थे।

अबुल फजल ने आईन ए अकबरी मे चादी और सोना लेजाकर मुद्रा ढलवाने

1 ब्राउन, जी थे—क्वायन्स आफ इण्डिया पृ 96

2 ब्राउन जी थे—वही, पृ 97

3 लावेल—द ट्रेवल्स ऑफ थेवेनी (अनुवादित) भाग 3, पृ. 18

से प्राप्त लाभ का विस्तृत वर्णन दिया है।[1] क्योंकि उस समय में धातु को पिघलाकर सिक्के बनाने की अपेक्षा उसे पीट-पीट कर सिक्के ढाले जाते थे इसलिए साधारण लोगो के लिए इस प्रकार से नकली सिक्के बनाना आसान था। मुगल राज्य के अंतिम दिनो में इस प्रकार के नकली सिक्के अधिक प्रचलित थे।

राज्य मे क्योंकि सोने तथा चादी के सिक्के मान्य मुद्रा थी इसलिए इनका मूल्य समय समय पर घटता-बढता रहता था। आईन ए अकबरी की रचना के समय सोने तथा चादी के सिक्को के मूल्यो मे 1 : 9·4 का अनुपात था, जहागीर के समय यह घट कर 1 : 12, शाहजहा के समय 1 $\frac{3}{4}$ 14 व औरंगजेब के समय मे इसमे सबसे अधिक घटोत्तरी हुई जबकि इसका अनुपात 1 16 का हो गया।

सोने की मोहर इस समय सबसे अधिक प्रचलित थी और आईन-ए अकबरी के अनुसार नौ रुपये एक मुहर के बराबर थे। हाकिन्स लिखता है कि 1608–12 के बीच एक अशरफी दस रुपयो के बराबर थी जिसका मूल्य 1614 में बढ़कर 10·7 रुपये हो गया था। जहागीर के शासन के अन्तिम वर्षों मे एक मुहर 14 रुपये के बराबर थी जो 1658 मे $16\frac{2}{3}$ रुपये के बराबर मानी जाने लगी थी। 1695 मे एक मुहर $13\frac{1}{2}$ रुपये के बराबर मानी जाती थी।[2]

चादी के मूल्य मे घटत बढत के साथ ही तांबे के मूल्य मे भी घटत-बढत आ जाती थी और उसी अनुरूप तांबे के सिक्को के मूल्य में भी रद्दोबदल होती रहती थी। अकबर के समय के दाम का वजन 320 ग्रेन था जो औरंगजेब के समय मे आकर 109 से 215 ग्रेन के बीच रह गया। अहमदाबाद के व्यापारियो के पास काले तांबे के सिक्के थे। प्रान्तीय सूबेदारो ने हल्के तांबे के सिक्के गढवाये थे जिनको बाद मे शासक की मान्यता प्राप्त हो गई थी। अकबर के $20\frac{1}{4}$ माशे की अपेक्षा दाम का वजन 14 माशे निश्चित किया गया।[3] औरंगजेब ने आदेश निकाला कि रुपया जिसका उस समय वास्तविक मूल्य केवल आधा ही रह गया था पूरे मूल्य के समरूप माना जावे।

इसी प्रकार से दाम का रुपये की तुलना मे मूल्य घटता-बढ़ता रहता था। अकबर के राज्य-काल के आरम्भ मे एक रुपये में 35 और फिर 38 दाम होते थे। आईन ए-अकबरी की रचना के समय 40 दाम एक रुपये के बराबर माने जाते थे। आईन ए-अकबरी के अनुसार यद्यपि एक रुपये में 40 दाम का बाजार भाव

---

1 आईन-ए अकबरी (ब्लाखमैन) पृ 38–39

2 हबीब, आई—एग्रेरियन सिस्टम पृ 384–86

3. होदीवाला —द वेट्स अ फ औरंगजेब्स दाम्स.

मध्यकाल में मुस्लिम धर्म के भारत में आने के बाद इनकी स्थिति में निश्चित ही परिवर्तन आ गया था। यह ठीक है कि मुस्लिम धर्म में भी स्त्रियों का स्थान सम्मानित था जैसा कि पैगम्बर, मोहम्मद, के उपदेशों से स्पष्ट है परन्तु इसके बाद भी समय के साथ मुस्लिम समाज में स्त्रियों की, स्थिति लगातार गिरती गई। अलाउद्दीन खलजी के समकालीन कवि अमीर खुसरो ने अपने कवित्त 'लैला मजनू' में पुत्रि उत्पन्न होने पर अत्यधिक दुःख प्रकट किया है। इसी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 13 वी, व 14 वी शताब्दी में मुस्लिम स्त्रियों की क्या स्थिति थी। साधारण रूप से मध्यकाल में भारतीय स्त्रियां उन समस्त दुर्गुणों का शिकार थीं जो मोटे रूप से विश्वव्यापक थे। सबसे पहले हम पर्दा प्रथा का अध्ययन करेंगे।

पर्दा मूल रूप से पारसी भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ पट अथवा आवरण है। इस अर्थ के अतिरिक्त इसको स्त्रियों की एकान्तता के रूप में भी लिया जाने लगा जो परिवार की सामाजिक स्थिति पर निर्भर था। यद्यपि 'अर्थशास्त्र' आदि में पर्दे की प्रथा की ओर संकेत किया गया है और सम्पन्न तथा धनाढ्य हिन्दू परिवारों में इसका प्रचलन था परन्तु फिर भी इसके पालन में जितनी कठोरता मध्यकाल में दिखाई देती है उतनी पहले नहीं थी। साधारण वर्ग की स्त्रियों में कोई पर्दा न था और जब कभी वे किसी अनजान व्यक्ति को देख लेतीं तो केवल घूँघट निकाल (काढ़) लेती थी।

शाही और अभिजात वर्ग की मुस्लिम स्त्रियों में इसका कठोरता से प्रचलन था और समकालीन साहित्य अथवा विदेशियों के विवरण में इसके अनेकों प्रमाण मिलते हैं। अमीर खुसरो ने अपनी रचनाओं में इसका अनेक बार वर्णन किया है। उसने लिखा है कि, "अच्छी (नेक) स्त्री वही है जो सामान्य (आदतन) रूप से पर्दा करती है और इसके लिए बुरके का उपयोग करती है। वह स्त्री जो खुले-मुंह सड़कों पर घूमती है, स्त्री न होकर मात्र कुतिया है।"[1] सुल्ताना रजिया इस संदर्भ में अपवाद थी जिसने परम्परागत प्रथा अथवा रिवाज को तोड़ फेंका था।[2]

मध्यकाल में इस प्रथा को पुनः लागू करने का प्रयास किया गया। फीरोज तुगलक पहला शासक था जिसने कि मुस्लिम स्त्रियों को दिल्ली के बाहर स्थित मकबरों अथवा समाधियों के दर्शन के लिये जाने पर प्रतिबन्ध लगाया क्योंकि वह मुस्लिम स्त्रियों का घर के बाहर जाना शरा-विरोधी मानता था। फतुहात-ए-फीरोजशाही में उसने लिखा है कि, "जब कभी मुस्लिम स्त्रियां इन मकबरों पर जाती

1 अमीर खुसरो—हस्त-बहिश्त पृ 21–30, मौलाना सैयद सुलेमान द्वारा सम्पादित

2. तारीख-ए-मुबारकशाही, पृ. 25, (बसु० के० के० द्वारा अनुवादित).

थीं तो उनको पथ-भ्रष्ट करने के लिये अनेक चरित्रहीन व निष्ठाहीन पुरुष भी जाया करते थे जो सर्व-साधारण को विदित है और इसलिए मैंने स्त्रियों का मकबरों पर जाना बन्द कर दिया है।"[1] सुल्तान सिकन्दर लोदी ने भी मुस्लिम स्त्रियों के मजार पर जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।[2] परन्तु इन सब प्रतिबन्धों के बाद भी जमींदारों और अमीरों की स्त्रियां डोलियों में बाहर जाती थी।

सम्मानित हिन्दू घरों की स्त्रियां भी मुसलमान स्त्रियों की तरह पर्दा करती थी। बारबोसा के अनुसार गुजरात में स्त्रियां बहुत ही कम घर से बाहर निकलती थी और विशेष अवसरों पर पालकियों अथवा डोलियों में जाती थी। उत्तरी भारत में सम्पन्न परिवार की स्त्रियां घूंघट निकालती थीं।

मुगलकाल में भी हिन्दू तथा मुसलमानों के उच्च परिवारों में पर्दा प्रचलित था। अमीरों की स्त्रियां ऊंची दीवारों से घिरे विस्तृत मकानों में रहती थी जहाँ हर प्रकार की सुविधाएँ थी। पुरुष वर्ग से सम्पर्क रखने का कार्य खोजों के माध्यम से होता था। पर्दा इतना कठोर हो गया था कि हकीम, डाक्टरों आदि को भी बीमार स्त्रियों से आमने सामने न मिलने दिया जाता था। रोग की जानकारी के लिये रोगी के शरीर को एक रुमाल से पोंछकर पानी में डाल दिया जाता था और उस पानी की गन्ध से रोग की जानकारी कर इलाज किया जाता था।[3] राजकुमारियां भी यदि कभी बाहर जाती तो उन्हें ढकी हुई पालकियों में ही केवल सुबह के समय जाने की आज्ञा थी। जब कभी वे हाथी की सवारी की इच्छा करती तो हाथी को सीधे जनान खान के दरवाजे तक ले जाया जाता था और फिर वे ढके हुए होदे में बैठती थीं। जब कभी शाही परिवार की स्त्रियां इस प्रकार निकलती थी तो किसी को उस समय सड़क पर आने-जाने की आज्ञा न थी। नूरजहां एक अपवाद थी और वो सार्वजनिक स्थानों पर भी बगैर पर्दे के घूमती थी। राजपूताना में भी पर्दे की प्रथा बढ़ती चली जा रही थी परन्तु राजपूत परिवारों में इसका कठोरता से पालन न किया जाता था। दक्षिण भारत में पर्दे का प्रचलन नहीं था और मलाबारी स्त्रियां अपने मेहमानों का यथोचित आदर-सत्कार करती थी।

मुस्लिम मध्यम वर्ग की स्त्रियां पर्दा करती थीं और बगैर बुरके के घर से बाहर निकलने का साहस न करती थीं।[4] यदि डेला वेली के वर्णन पर विश्वास किया जावे

1. फतूहात-ए-फीरोजशाही, पृ. 8-9. (शेख अब्दुर रशीद द्वारा सम्पादित)
2. तारीख-ए-फरिश्ता, भाग 1, पृ. 344.
3. चोपड़ा, पी० एन०—सोसायटी एण्ड कलचर ड्यूरिंग द मुगल ऐज पृ० 110-11.
4. हैमिलटन, ए०—ऐ न्यू अकाउन्ट आफ द ईस्ट इन्डीज, भाग 1, पृ० 193.

तो मुसलमान पति अपनी उपस्थिति में ही अपनी स्त्रियों को सम्बन्धियों से बातचीत करने की अनुमति देते थे।[1] हिन्दू मध्यम श्रेणी के परिवारों मे पर्दे की प्रथा इतनी कठोर न थी और वे बगैर किसी रुकावट के स्वतन्त्रता से घूमती थी। निम्न-मध्यम वर्ग की हिन्दू स्त्रियों मे कोई पर्दा न था और ऐसा माना जाता था कि वे अपने पतियों की हर क्षेत्र में सहायता करेंगी। इस वर्ग की स्त्रियां बगैर पर्दा किये हुए नदी अथवा तालाब से पानी भर कर साधारण रूप से लाती थी।

स्वाभाविक रूप से पर्दे की प्रथा से हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों की शिक्षा पर प्रभाव पड़ा क्योंकि स्वतन्त्रता पूर्वक उनका घर से बाहर जाना सम्भव न था। इस कारण उनकी शिक्षा का प्रबन्ध केवल घरों मे ही सम्भव था और ये सुविधा समस्त परिवार की स्त्रियों के लिये सुलभ न हो सकती थी।

पर्दे की प्रथा के साथ ही साथ, कन्या का जन्म भी हिन्दू अथवा मुस्लिम परिवार मे दुःख का कारण माना जाता था। पुत्र के जन्म के समान न तो उसका स्वागत ही किया जाता था और न ही किसी प्रकार की खुशी ही मनाई जाती थी। यह इसी से स्पष्ट है कि कन्या-जन्म पर केवल स्त्रियां ही खुशी मनाती थी जबकि राजकुमार के जन्म पर समस्त मुगल दरबार जशन (उत्सव) मनाने मे भाग लेता था। पुत्र-जन्म की अभिलाषा का अनुमान हम इसी से अनुभव कर सकते हैं कि अकबर ने पुत्र-जन्म के लिये शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की मिन्नत मांगी थी और आगरा से अजमेर तक (140 कोस) पैदल यात्रा करने का निश्चय किया था।[2]

हिन्दुओ मे भी पुत्र के जन्म का स्वागत किया जाता था और ऐसी स्त्री जो लगातार कन्याओं को जन्म देती थी घृणा की पात्र थी क्योंकि कन्याएं कुल के लिये कलंक समझी जाती थी और विशेषकर राजपूत यह अनुभव करते थे कि उनकी ही गोत्र मे सुशील वर ढूंढना कठिन है इसलिए अपनी कुल-मर्यादा, मिथ्याभिमान को बनाये रखने के लिये उन्होने कन्या-वध को सुलभ साधन मान अपना लिया था। सौभाग्य से यह कुप्रथा केवल अर्ध-सभ्य राजपूत परिवारों तक ही सीमित थी।[3]

कन्यावध की कुप्रथा के अतिरिक्त कन्याओं की विवाह सम्बन्धी समस्या भी मध्यकाल मे अधिक जटिल थी। स्त्रियों अथवा कन्याओं के लिये जीवन भर अविवाहित रहना सम्भव न था और इसलिए पिता के लिये यह पुण्य कार्य समझा जाता था कि वह अपनी कन्याओं का उचित समय पर विवाह कर दे। मध्ययुग की अस्थिर

1 डेला, वेली—ट्रेवल्स, पृ 430
2. चोपड़ा, पी० एन०—वही, पृ. 113.
3. टाड, कर्नल—ऐनाल्स एण्ड एन्टीक्यूटीस ऑफ राजस्थान, भाग 2, पृ० 739-40.

राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक स्थिति में पिता यही उचित समझता था कि वह शीघ्राता शीघ्र अपनी लड़कियों का विवाह कर दे। यह अस्थिरता अधिक रूप से हिन्दू वर्ग पर लागू थी इसलिये हिन्दुओं ने बाल विवाह, बेमेल विवाह को अपनाया। हिन्दुओं में बाल विवाह, एक अपवाद न होकर, सामाजिक नियम बन गया था और इसलिये 8 वर्ष तक बालिकाओं का विवाह करना एक सामाजिक मान्यता हो गई थी। यौवनारम्भ (प्यूबेरिटी) के पहले लड़की का विवाह आवश्यक था और इसलिये 6 अथवा 7 वर्ष की आयु में साधारणतया लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था। ढोला-मारू रा दोहा के आधार पर एक मारवाड़ी कन्या का विवाह डेढ़ वर्ष की आयु में 3 वर्ष के बालक के साथ कर दिया गया था। इसी प्रकार पेशवा का ब्राह्मण सेनाधिकारी इसलिये अधिक परेशान था कि उसकी कन्या का 9 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर भी विवाह नहीं हो पाया है। उसने युद्ध क्षेत्र से पत्र लिखकर अपनी व्याकुलता प्रकट की थी।

मुस्लिम समाज में भी बाल विवाह प्रचलित था। फीरोज तुगलक के समय की स्थिति का वर्णन करते हुये अफीफ ने लिखा है, "सैयद, काजी व उमरा अपनी लड़कियों का विवाह अल्पआयु में ही कर देते थे।"[1] गरीब वर्ग जो धनाभाव के कारण विवाह करने में असमर्थ था उनको इसके लिए सुल्तान की ओर से आर्थिक सहायता दी जाती थी। इस सहायता के लिये अलग से ही एक विभाग स्थापित किया गया था जिसे दीवान ए खैरात कहते थे।

हिन्दू समाज में बाल विवाह के साथ ही अनमेल विवाह भी प्रचलित था जब कि कन्या का विवाह किसी बूढ़े अथवा उससे अढ़ाई अथवा 3 गुनी उम्र के आदमी के साथ कर दिया जाता था। कभी कभी बालक के पूर्ण युवती के साथ विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं। अनमेल विवाहों के कराने में सम्पत्ति का कारण अत्यधिक महत्वपूर्ण था। सम्पत्ति के लालच में आकर कभी कभी एक युवक एक वृद्ध स्त्री से भी विवाह करने को तैयार हो जाता था। यह दुर्गुण इतना व्यापक हो गया था कि अकबर ने यह आदेश निकाला कि यदि स्त्री की उम्र अपने पति से 12 वर्ष से अधिक है तो ऐसा विवाह गैर कानूनी तथा रद्द समझा जावेगा।[2]

ऐसी स्थिति में जब लड़कियों का विवाह करना एक समस्या थी यह विचारना कि विवाह के पहले वर पक्ष की स्त्रियां सम्भावित वधू को देखने का प्रस्ताव भी रक्खेंगी मात्र असम्भव है। इसी प्रकार से विवाह के पहले किसी प्रकार से लड़की की सम्भावित वर के सम्बन्ध में अनुमति लेने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अबुल

---

1 अफीफ, शम्स, सिराज—तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ. 180, 292.

2. बदायूनी, मुन्तखब—उत तवारीख, भाग 2, पृ 391.

फजल ने लिखा है कि अकबर ने यह प्रयास किया, कि विवाह निश्चित करने के पहले सम्भावित वर-वधु की अनुमति प्राप्त करली जावे तथा मा बाप की भी अनुमति ले ली जावे, परन्तु यह सफल न हो पाया ।[1] विवाहो मे अक्सर दहेज की माग की जाती थी और विवाह के लिये यही कसौटी थी । विवाह की जोडी ठीक न होने पर भी दहेज के लालच मे विवाह कर दिया जाता था ।

दहेज की प्रथा सम्पूर्ण मध्यकाल मे प्रचलित थी और कठोर जाति-बन्धन इसका महत्वपूर्ण कारण था । मोटे रूप से सम्पन्न और धनाढय परिवारो मे यह प्रथा अधिक प्रचलित थी । दहेज व्यक्ति के जीवन-स्तर व सामाजिक स्थिति पर निर्भर था । साधारणतया धनाढयो से अधिक दहेज देने की आशा की जाती थी ।

दहेज को हम दो श्रेणियो मे बांट सकते है (1) विवाह के पूर्व जिसको श्रीफल तिलक आदि की सज्ञा दी जाती है तथा (2) विवाह के बाद जिसको दहेज अथवा बंगाल, बिहार, उडीसा मे जातुक कह कर पुकारते हैं । समकालीन साहित्य तथा फारसी ग्रन्थो मे दोनो ही प्रकार के दहेज के उदाहरण मिलते है । पृथ्वीराज रासो मे चन्द्रवती के विवाह के पूर्व श्रीफल के रूप मे पृथ्वीराज के पिता को दहेज देने का विवरण मिलता है ।[2] अधिकतर दहेज मे बहुमूल्य हीरे, जवाहरात, गहने, घोड, हाथी, दास-दासी तथा विलासिता की वस्तुए होती थी ।

हिन्दुओ की तरह मुस्लिम सम्पन्न और धनाढ्य परिवारो में भी दहेज की प्रथा प्रचलित थी । स्वय पैगम्बर मुहम्मद ने लडकियो के पिता द्वारा दहेज देने की अनुमति दी है । दहेज के अतिरिक्त मुस्लिम समाज मे विवाह-विच्छेद अथवा तलाक भी मान्य था । बारबोसा[3] के अनुसार कोई मुस्लिम पति (शोहर) महर (विवाह के समय पति द्वारा विवाह-विच्छेद होने की स्थिति मे दिये जाने वाले धन का वचन) देकर अपनी पत्नी को तलाक दे सकता था ।

हिन्दू समाज मे भी निश्चित नियमो के आधार पर स्वयं मनू ने विवाह-विच्छेद की आज्ञा दी थी परन्तु हमारे अध्ययन काल मे यदि अलबरूनी के विवरण को स्वीकार किया जावे तो केवल मृत्यु ही पति-पत्नी को अलग कर सकती है क्योकि हिन्दू समाज मे विवाह विच्छेद की व्यवस्था नही है ।[4] निम्न जातियो मे जैसे शूद्र, चाण्डाल आदि मे आज के समान ही विवाह-विच्छेद हो सकते थे ।

---

1. अबुल, फजल—आईन-ए-अकबरी, पृ 277.
2. चन्द्रवर्दाई—पृथ्वीराज रासो, भाग 2, पृ. 898.
3. बारबोसा—ट्रेवल्स, भाग 1, पृ. 121.
4 अलबरूनीज् इंडिया, वही, भाग 2, पृ. 154.

इसके अतिरिक्त हिन्दू और मुस्लिम समाज में बहु विवाह भी प्रचलित था। जन साधारण में एक स्त्री और एक पुरुष के विवाह की प्रथा थी परन्तु धनवान और सम्मानित व्यक्तियों में बहु-विवाह प्रचलित था। यद्यपि कुरान ने मुसलमानों को चार विवाह करने की अनुमति दे रक्खी है तथापि केवल धनवान वर्ग ही इसका उपभोग करने का सामर्थ्य रखता था। सम्भवतः इसी कारण धनवान और राजपुरुष हजारों की संख्या में विवाह करते थे। खानजहां मकबूल के विषय में यह जानकारी मिलती है कि उसके अन्तःपुर में विभिन्न देशों की सुन्दरियों का ऐसा सुरुचिपूर्ण चयन किया गया था कि उस समय के इन्द्रिय-लोलुप सुल्तानों के रनवासों में भी इतनी रूपवती स्त्रियों को ढूंढ निकालना कठिन था।

धनवान और राजपुरुष हिन्दू भी किसी प्रकार से पीछे न थे। अलबरूनी लिखता है कि हिन्दू एक से चार विवाह तक कर सकते थे। आगे चलकर उसने लिखा है कि सम्भवतः पत्नियों की संख्या वर्ण पर आधारित थी अर्थात् ब्राह्मण चार, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो और शूद्र एक विवाह कर सकता था। साधारणतया सल्तनत कालीन हिन्दू समाज में बहु विवाह अत्यधिक सीमित था।

मुगलकालीन भारत में भी मुस्लिम समाज में बहु-विवाह प्रचलित था। इबादत खाने में उलेमा द्वारा मुसलमानों के लिये निकाह द्वारा चार विवाह करने की अनुमति देने के बाद भी अकबर साधारण वर्ग के लिए एक से अधिक विवाह हानिकारक मानता था और इसीलिए उसने यह आदेश निकाला था कि जब तक साधारण वर्ग की स्त्री बाझ साबित न हो जावे तब तक दूसरा विवाह करना निषेध है।[1] मिर्जा अजीज कोका कि युक्ति यहां देना अधिक उचित होगा। उसका कहना था कि एक व्यक्ति को चार विवाह करने चाहिए, एक फारसी स्त्री से बातचीत आदि के लिये, एक खुरासानी से जिससे वह घर का कामकाज सभाल सके, एक भारतीय से जो बच्चों का पालन-पोषण कर सके, तथा एक मावरुन्नहार से जिसके कि कोड़े लगाकर शेष तीन को भयभीत रक्खा जा सके।

बहु-विवाह के कारण रनवासों का आकार बढ़ने लगा और स्त्री का सामाजिक मान क्रमशः घटने लगा। घर की चेरी अपने रूप-लावण्य के कारण अपने स्वामी पर विजय पाने में सफल होने लगी और उसी अनुपात में घर की वास्तविक स्वामिनी की मान मर्यादा घटाने में सहायक हुई। स्वाभाविक रूप से एक पति के लिये अपनी अनेकों पत्नियों को सन्तुष्ट रखना सम्भव न हो सका और इसी असन्तोष ने घर को आपसी वैमनस्य और प्रतिद्वंदिता का अखाड़ा बना दिया।

बहु-विवाह प्रथा ने अनेकों दुर्गुणों को जन्म दिया। मुस्लिम समाज की स्त्रियों की स्थिति इस क्षेत्र में अच्छी थी क्योंकि वे विधवा होने पर पुनर्विवाह कर सकती

---

1. बदायूनी—मुन्तखब-उत-तवारीख, भाग 2, पृ 356

थी, तलाक दे सकती थीं, उनमें सती प्रथा न थी और वे अपने माँ-बाप की सम्पत्ति मे हिस्से की अधिकारिणी थी ।

हिन्दू स्त्रियो को ये अधिकार प्राप्त न थे । समस्त सल्तनत काल मे निम्न वर्ग को छोड़ कर विधवा-विवाह प्रचलित न था । मुगलकाल मे भी इसमे कोई परिवर्तन न आया अपितु यह नियम और अधिक कठोरता से लागू किया जाने लगा । हिन्दू विधवायें पुनर्विवाह की मात्र कल्पना से घृणा करती थीं और जब तक कि वे अधिक आयु की न हो और उन पर बच्चों के पालन-पोषण का अत्यधिक भार न हो तब तक वे अपने पति की मृत्यु के बाद जीवित रहना भी पसन्द न करती थी । सम्भवतः इसी भावना ने हिन्दू समाज मे प्रचलित दूसरी कुप्रथा, सती को जन्म दिया ।

हिन्दू विधवा के लिये क्योंकि पुनर्विवाह की अनुमति न थी (केवल निम्न वर्ग को छोड़कर) इसलिये उसके सामने केवल दो ही विकल्प थे—या तो अपने पति की चिता के साथ सती हो जावे अथवा मृत्यु के शीघ्र बाद दूसरी चिता मे स्वयम् को समर्पित कर दे अथवा सन्यासियो जैसा जीवन व्यतीत करे जिसमे समाज की प्रताड़ना, उत्पीड़न ही जीवन का रूप धारण कर ले । बहुधा ऐसी स्थिति म जब की तिरस्कार, असम्मान और समाज का अभिशाप ही जीवन मे शेष रह गया हो, विधवा अपने पति के शव के साथ सती होना ही अधिक श्रेयकर समझती थी । विशेषकर राजा महा-राजाओं की पत्नियो के लिये यह आवश्यक था चाहे वे इस प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता से स्वीकार करें जिससे कि वे पति की मृत्यु के बाद कोई ऐसा कार्य न कर सकें जिससे उसके सम्मान को किसी प्रकार की आंच आवे ।

पति के शव के साथ होने वाली सती की क्रिया को सह-मरण तथा शव की अनुपस्थिति में की जाने वाली क्रिया को अनु-मरण कहते थे । सह-मरण ही अधिक प्रचलित प्रथा थी । सती होने वाली स्त्री के लिये निष्ठा, सयम से रहना आवश्यक था । ऐसा विश्वास किया जाता था कि सती न केवल अपने पुराने पापों से मुक्त हो जाती है अपितु स्वर्ग की अधिकारिणी बन जाती है ।[1] इसके अतिरिक्त यह भी विश्वास किया जाता था कि सती अपने पति को भी नर्क से निकाल कर ला सकती है तथा स्वयम् भी जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति पा सकती है । ऐसी स्त्री जो सती नही होती है किसी प्रकार से स्त्री योनि से मुक्त नही हो सकती ।

प्रारम्भ मे सती की प्रथा स्वैच्छिक थी परन्तु बदलती हुई परिस्थितियो मे इसने बाध्यता का रूप ही धारण कर लिया था और धार्मिक कारणों की तुलना में राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक कारण अधिक महत्वपूर्ण हो गये थे । अपने सतीत्व की रक्षा जो कि मध्ययुग मे गम्भीर समस्या थी, सम्पत्ति का बटवारा व उस पर

---

1. मिर्जा, मुन्शी, कश्मीरी—दबीस्तानुल मजाहिब, पृ. 125.

अधिकार तथा सामाजिक प्रताडना अधिक महत्वपूर्ण हो गये और धार्मिक प्रेरणा ने गौण रूप ले लिया।

इब्न बतूता[1] ने सती प्रथा का विस्तार से वर्णन किया है तथा अपनी यात्रा के मध्य भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जिस प्रकार से सती होती थीं उसका जीवित चित्र प्रस्तुत किया है। उसके वर्णन से अनुभव होता है कि सती प्रथा ने किस प्रकार से क्रूरता का रूप धारण कर लिया था। मार्कों पोलो तथा निकोलो कोण्टी ने भी इसी प्रकार का विवरण प्रस्तुत किया है।

सल्तनत काल में सती होने के पहले राज्य से अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया था। सम्भवतः बाध्यता अथवा सामाजिक दबाव को कम करने के लिये ही इस प्रकार का नियम बनाया गया था। इब्न बतूता की यह मान्यता है कि इस नियम के बाद भी साधारणरूप में सती होने की आज्ञा प्रदान कर ही दी जाती थी।[2]

मुगल काल में भी सती पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया गया। अकबर ने आदेश निकाला कि वे विधवायें जिनका अपने पतियों के साथ सहवास न हुआ हो किसी प्रकार से सती होने के लिये बाध्य न की जावें। इसके अतिरिक्त दूसरी विधवायें केवल स्वेच्छा से ही सती हो सकती हैं। 1620 में जहाँगीर ने बगैर राज्य की आज्ञा के सती होने को दण्डित घोषित किया तथा इसके लिये मृत्युदण्ड निश्चित किया। परन्तु यह कठोर नियम किसी प्रकार से लागू न किया जा सका। औरंगजेब ने भी 1663 में सती होने पर प्रतिबन्ध लगाया तथा अधिकारियों को आज्ञा दी कि केवल सन्तानहीन विधवाओं के अतिरिक्त किसी स्त्री को सती न होने दिया जावे। मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही ये सब नियम भी स्वयम् समाप्त हो गये और सती प्रथा अबाध रूप से पहले के समान ही प्रचलित रही।[3]

हिन्दू स्त्रियों के सम्पर्क के कारण, सम्पन्न मुस्लिम परिवारों में भी इसी प्रकार की प्रथा प्रचलित हो गई थी जबकि जीवित पत्नि अपने पति की कब्र में समा (दफन) जाती थी। पृथ्वीराज रासो में चित्ररेखा का अपने प्रिय हुसैन कब के साथ दफन होने का विवरण मिलता है।

सती प्रथा के साथ ही हिन्दू समाज में और विशेषकर राजपूतों में जौहर की भयावही प्रथा भी प्रचलित थी। जब कभी राजपूत राजा अपने शत्रु के विरुद्ध

---

1 इब्न, बतूता— रेहला, (प्रो० मेहदी हुसैन द्वारा अनुवादित), पृ 22-23.
2 इब्न, बतूता—वही, पृ 21.
3. सक्सेना, आर. के —सोशल रिफार्मस–इन्फेन्टीसाइड एण्ड सती, पृ 77–79

अत्यधिक निराश हो जाते अथवा पराजय और उससे सम्बन्धित अपमान अवश्यम-भावी दिखाई देने लगता तो ऐसे समय में या तो वे अपनी स्त्रियों और बच्चों को मार देते थे अथवा उनको अग्नि में समर्पित कर दिया करते थे। स्त्रियों और बच्चों से निश्चिन्त हो वे शत्रु पर अन्तिम आक्रमण कर एक वीर की तरह प्राण त्याग देते थे। रणथम्भौर के चौहान शासक हमीर देव ने अलाउद्दीन के विरुद्ध संभावित पराजय को निश्चित मान कर इसी प्रकार जौहर रचा था।[1] इब्न बतूता[2] के वर्णन से हमें जानकारी मिलती है कि किस प्रकार कम्पिल के राव राजा ने मुहम्मद तुगलक के विरुद्ध जौहर किया था। मुगल काल में भी हम ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जब राजपूत स्त्रियों ने जौहर रचा था और आक्रमणकारी के विरुद्ध अपने सम्मान तथा सतीत्व की रक्षा के लिये अपने प्राण न्योछावर किये थे। वास्तविकता यह है कि जौहर राजपूत स्त्रीत्व का सम्मानजनक प्रतीक था और वह सहर्ष ही इसके लिये तत्पर रहती थी।

मध्यकालीन समाज में वेश्याओं की संख्या भी काफी थी। इनको नर्तकी, पातर, गनिका आदि पुकारते थे। ऐसा माना जाता है कि शासक स्वयम् इन्हें प्रोत्साहित कर राज्य में बसाते थे जिससे कि वे अपने राज्य को आकर्षण का केन्द्र बना सकें, नागरिकों को सुख पहुँचा सकें तथा इस आधार पर कर प्राप्त कर सकें।[3] कालीकट में नर्तकियों का विवरण देते हुए निकोलो कोण्टी ने लिखा है कि ये शहर के प्रत्येक भाग में अपने स्वयम् के घरों में रहती थीं और अपने यौवन तथा सुन्दरता से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ थीं। चन्द्र बरदाई ने भी पृथ्वीराज रासो में इनका वर्णन किया है। समस्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल में वेश्या-वृत्ति बड़े पैमाने पर प्रचलित थी। अलाउद्दीन खलजी के समय दिल्ली में इनकी संख्या इतनी अधिक हो गई थी कि इसने उसके लिये एक समस्या का रूप ले लिया था। अलाउद्दीन ने इस समस्या के निराकरण के लिये अनेकों का विवाह करवा दिया। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेकों ने वेश्या-वृत्ति को त्याग दिया तथा सम्मानित स्त्रियों के रूप में वे जीवन निर्वाह करने लगीं।[4] अकबर और औरंगजेब के काल में भी वेश्या-वृत्ति पर प्रतिबन्ध लगाने के सबल प्रयास किये गये परन्तु इसके बाद भी समुचित रूप से इसकी समाप्ति सम्भव न हो सकी।

---

1. कायस्थ, हीरानन्द—तारीख किला रणथम्भौर (अनुवादक आर. के. सक्सेना) पृ 88–99
2. इब्न, बतूता—रेहला (अनुवादित) पृ. 95.
3. साहू, के० पी०—सम आसपेक्टस आफ नार्थन इंडियन सोशल लाइफ, पृ० 206.
4. अशरफ, के. एम.—वही, पृ. 228.

इस समस्त विवरण के बाद हम ऐसा अनुभव करते हैं कि स्त्री का पत्नी तथा माता के रूप मे विवेचन किया जावे। साम्यान्यत लड़कियो का अपने पति चुनने मे कोई हाथ नही था और विवाह के बाद उनसे यह आशा की जाती थी कि वे अपनी सास की आज्ञाओं का पालन करेंगी। यदि दुर्भाग्य-वश वह इस मापदण्ड पर खरी न उतर पायें तो मुस्लिम परिवार मे उसे तलाक दे दिया जाता था और हिन्दू परिवार मे उसका जीवन अत्यन्त दयनीय हो जाता था। उससे यह आशा की जाती थी कि वह परिवार के समस्त प्राणियो को अपने कार्य व व्यवहार से प्रसन्न रक्खेगी तथा घर के समस्त कार्य करेगी। आयु प्राप्त होने पर वह घर के कामो मे अधिक प्रभावपूर्ण हो जाती थी और खर्चे आदि पर अधिकार रखने के साथ ही समस्त घर को व्यवस्थित रखने के लिये उत्तरदायी समझी जाती थी।

पति की तुलना मे उसकी स्थिति आश्रित परन्तु सम्मानपूर्ण अधीनस्था की थी जब तब पति-पत्नी के सम्बन्ध सौहार्द्रय पूर्ण रहें। जहांगीर अपनी आत्मकथा मे लिखता है, "कि हिन्दू समाज में पत्नी की उपस्थिति के बगैर कोई कार्य पूर्ण नही समझा जाता है और इसीलिये वे इसे अर्द्धांगिनी कहते हैं। यद्यपि उसके विचारो का आदर किया जाता है परन्तु फिर भी अन्तिम निर्णय पति का ही होता है।" राजा और सामन्तो की पुत्रिया भी इससे अपने आपको अलग नहीं रख सकती थी और महाराणा को भी एक बार अपनी पुत्री व सादड़ी के सरदार की पत्नी को इस सम्बन्ध मे प्रताडना देने पर बाध्य होना पडा था। राज परिवार मे राजपूत स्त्रियाँ अपनी स्थिति के प्रति पूरी तरह सतर्क थीं और पति के द्वारा अपमानित करने की स्थिति में वे अपने सम्मान और मर्यादा को बनाये रखने के लिये कटिबद्ध थीं। धरमत के युद्ध मे पराजित होने पर जब जसवन्तसिंह मारवाड लौटे तो फरिश्ता के अनुसार रानी ने न केवल दुर्ग का फाटक बन्द करवा दिया अपितु अपने पति का स्वागत करने से भी इन्कार कर दिया। उसके अनुसार "युद्ध-क्षेत्र से भगोड़ा उसका पति अथवा महाराणा का दामाद नही हो सकता, निश्चित ही उसका पति युद्ध में मारा गया है तथा उसको धोखा दिया जा रहा है।"[1] हमीदा बानू का भी इस सदर्भ में उदाहरण अनुकरणीय है जिसने अपमानजनक शर्तों के आधार पर विवाह करने से ही मना कर दिया। इस सब के बाद भी यह निश्चित है कि हिन्दू और मुसलमान स्त्रिया एक सुखमय पारिवारिक जीवन व्यतीत करती थीं।

माता के रूप में स्त्री का समाज और परिवार मे अत्यधिक सम्मान था। इस्लाम अपने समर्थकों को माता का आदर करने का आदेश देता है क्योंकि स्वर्ग माता के कदमों मे ही है। सम्पूर्ण मध्यकाल मे हमे ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि

---

1. बर्नियर—ट्रेवल्स, पृ 41.

साधारण वर्ग से लेकर शासक तक अपनी माता का अत्यधिक आदर करते थे, यहां तक कि कुछ मुगल सम्राट स्वयं अपनी माता के अभिनन्दन के लिये राज दरबार से कुछ दूर जाकर उनकी अगवानी करते थे। उनके सम्मुख उपस्थित होते समय सिजदाह व तसलीम आदि करते थे। जहांगीर ने लिखा है कि "मैं अपनी मा से मिलने के लिये धार (लाहौर के निकट) गया तथा सम्पूर्ण आज्ञाकारिता के साथ कोरनिश, सिजदाह व तसलीम का हक अदा किया और फिर प्रस्थान की आज्ञा मागी।"[1] मुगल सम्राट सदैव ही वर्षगाठ पर अपनी माता के आशिर्वाद प्राप्त करने के लिये उसके सम्मुख उपस्थित होते थे। मध्यकाल मे राज्य की प्रथम महिला रानीपति (प्रिन्सेज कन्सर्ट) न होकर माता अथवा बहन ही हुआ करती थी। नूरजहां और मुमताज महल इसके प्रतिवादी हैं।[2]

राजपूतो द्वारा अपनी माता को दिया जाने वाला सम्मान अनुकरणीय है। सम्भवत अपनी माता को उनसे अधिक सम्मान देने वाला कोई दूसरा वर्ग नही था। महाराणा सग्राम सिंह द्वितीय सुबह के भोजन के पहले प्रतिदिन अपनी माता के दर्शन करते थे। कोई राजपूत अपनी माता की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने की कल्पना भी नही कर सकता था। फत्ता ने अपनी माता के कहने पर ही अकबर के चित्तौड पर आक्रमण के समय केसरिया वस्त्र धारण कर सहर्ष अपने प्राणो की आहुति दे दी।

मध्यकाल मे स्त्रियो द्वारा मध्यस्थता करके अनेको विवादो का हल निकालने के प्रमाण मिलते हैं। मुकर्रब खा की माता की मध्यस्थता से ही इतिहासकार बदायूनी अपने विवाद को हल करवाने मे समर्थ हुआ था। बेगम के बीच बचाव से ही अकबर ने अपने विद्रोही पुत्र सलीम (जहांगीर) को क्षमा प्रदान की थी और जहानआरा के अनुनय विनय पर ही 1653 मे औरगजेब को न केवल क्षमा किया गया अपितु वह पुराने सम्मान को प्राप्त करने में भी सफल हुआ था।

सम्पत्ति प्राप्ति के क्षेत्र मे मुस्लिम स्त्री वर्ग की स्थिति हिन्दू स्त्रियों से अधिक उचित थी। उत्तराधिकारिणी के रूप मे वह अपने पति की सम्पत्ति मे निश्चित अनुपात की अधिकारिणी थी जिसको कि वह अपनी इच्छानुसार बेच भी सकती थी। इसके अतिरिक्त तलाक आदि की स्थिति में वह महर प्राप्त करने की अधिकारिणी थी। इसके विपरित हिन्दू स्त्री को अपने सास ससुर की सम्पत्ति से कोई भाग प्राप्त करने का अधिकार न था। उसे केवल भरण-पोषण (मेन्टीनेन्स) के हेतु ही नाम-मात्र की सुविधा प्राप्त थी। हिन्दू स्त्रियां अधिकतर घर के कामो म ही व्यस्त रहती थी

---

1 तुजुक-ए-जहांगीरी, (प्रो लो द्वारा अनुवादित) पृ 62.

2 सरकार, सर जे एन —औरगजेब, भाग 3 पृ. 57

श्रोर अवकाश के समय सूत कातने, गर्म कपडे बुनने आदि का काम करती थी। कृषि अथवा मजदूर वर्ग से सम्बन्धित स्त्रिया खेती तथा पशु-पालन मे सहायता करती थी।

हिन्दू स्त्रियो का चरित्र आदर्श था। विभिन्न यात्रियो ने उनके चरित्र की शुद्धता को स्वीकार किया है। स्वयम् अकबर भी हिन्दू स्त्रियो के सतीत्व से अत्यधिक प्रभावित था। जहागीर भी हिन्दू स्त्रियो के शुद्ध चरित्र का प्रशसक था। जहागीर के अनुसार हिन्दू स्त्रियों द्वारा जौहर करना उनके सतीत्व का अकाट्य प्रमाण था जिससे कि कोई विदेशी अथवा अनजान व्यक्ति उनके सतीत्व के दामन को न छू सके। चरित्र की ये शुद्धता मध्ययुग मे दूसरे देशो अथवा समाजो में देखना दूभर थी।

14
मुस्लिम व हिन्दू वर्ग

ईसा की सातवी शताब्दी मे अरब के मरुस्थल मे पैगम्बर मुहम्मद (570–632 ई.) ने एक धर्म का प्रचार किया जो इस्लाम कहलाया। इस्लाम एक निराकार ईश्वर (अल्लाह) को ही पूज्य मानता है इसीलिए इस्लाम का मूल आधार "ला इलाही ईल्लिल्लाहा, मुहम्मद ए रसूल अल्लाह है।" हजरत मुहम्मद ने उस समय मे प्रचलित बुराइयों और हानिकर रूढियो का खण्डन किया और इसीलिए अरब प्रायद्वीप मे एक नई चेतना और नया जीवन दिखाई देने लगा। अरबो ने धार्मिक जोश मे न केवल नव प्रदेशो को जीतना ही आरम्भ किया अपितु वहाँ इस्लाम का प्रचार करना अपना एक मात्र धार्मिक कर्तव्य माना। 750 ई० तक पूर्व में सिन्ध और पश्चिम मे फ्रास के पिरेनीज पर्वत तक अरबो का इस्लामी राज्य स्थापित हो गया।

भारत मे आने के बाद मुसलमानो मे वर्ग-विभाजन और अधिक बढ़ गया जिनमे सबसे अधिक सम्मानित वर्ग विदेशी मुसलमानो का था। यह वर्ग क्योकि शासित वर्ग था इसलिए अधिक प्रभावशाली और विशेष अधिकारो से युक्त था। राज्य की बडी बडी जागीरें, पद इन्ही के लिए सुरक्षित रखे जाते थे और समाज में भी उनका स्थान श्रेष्ठ था। समय के साथ इन विदेशी मुसलमानो मे भी नस्ल के आधार पर और नये वर्ग बन गये—जैसे तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान आदि। 13वी शताब्दी मे तुर्कों ने अपनी श्रेष्ठता को कायम रक्खा इसलिए अन्य विदेशी मुसलमान उनसे बराबरी का दावा न कर सके, परन्तु 14वी शताब्दी मे खलजियो द्वारा राज-सत्ता स्थापित करने पर इस स्थिति मे परिवर्तन आ गया और तुर्कों की श्रेष्ठता समाप्त होने के साथ ही समस्त विदेशी मुसलमान एक स्तर के माने जाने लगे।

मुसलमानो मे दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमानों का था जिन्होंने कि या तो इस्लाम को अगीकार कर लिया था अथवा परिवर्तित मुसलमानो की सन्तान थे। इन

भारतीय मुसलमानों को इस्लाम में दीक्षित करने के बाद भी इनके साथ विदेशी मुसलमानों द्वारा कभी भी बराबरी का व्यवहार नहीं किया गया क्योंकि न तो इन्हें श्रेष्ठ नस्ल का ही समझा जाता था और न ही भारत की विजय में इनका कोई योगदान ही माना जाता था। पूरे सल्तनत काल में इने गिने ही भारतीय मुसलमान थे जिन्हें राज्य में किसी प्रकार का सम्मानित पद सौभाग्य से प्राप्त हो गया हो। खलजी युग और उसके पश्चात् मुहम्मद तुगलक के राज्य काल में ही वे कुछ पद प्राप्त करने में सफल हुए थे। परन्तु इसके बाद भी सामाजिक आधार पर उनको निम्न ही माना जाता था। इस कारण विदेशी और भारतीय मुसलमान उत्पत्ति और नस्ल की श्रेष्ठता के आधार पर विभिन्न वर्गों में बटे रहे।

इसके अतिरिक्त धर्म, जीविका और शिक्षा के आधार पर भी मुसलमान विभिन्न वर्गों में बटे हुए थे। धर्म के क्षेत्र में उलेमा वर्ग सबसे प्रभावशाली था और कतिपय सुल्तान ही स्वयं को इनके प्रभाव से बचा सकने में समर्थ हुए। अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक के राज्यकाल को छोड़कर उलेमा वर्ग राज्य पर हावी रहा क्योंकि ये माना जाता था कि वे ही इस्लामी सिद्धान्तों की व्याख्या करने में समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त सैनिकों का भी अलग वर्ग था और राज्य-स्थापना तथा उसको सुसगठित रखने के लिए वे उत्तरदायी समझे जाते थे। इसलिए दूसरे मुस्लिम वर्गों की अपेक्षा उन्हें भी अधिक सम्मान दिया जाता था। मुस्लिम समाज का निम्नतर स्तर छोटे व्यापारियों, दुकानदारों, शिल्पी और कलर्कों का था। परन्तु यह सब भेद केवल परम्परागत थे और शरियत ने इनको मान्यता न दी थी। अतः मुसलमानों का आपसी भेदभाव कभी भी उस कोटि का नहीं हुआ जिस कोटि की हिन्दू जाति प्रथा थी। वे एक दूसरे के साथ हुक्के-पानी का सम्बन्ध रखते थे।

हिन्दुओं में पहले से ही जाति-व्यवस्था घर किये हुए थी और इस्लामी आक्रमणों ने इस व्यवस्था को और अधिक कठोर बना दिया था। सम्भवतः हिन्दू-धर्म की पवित्रता को बनाये रखने के लिए यह सुलभ साधन था। इसी कारण नयी-नयी उप जातियों का जन्म हुआ जिनमें ऊँच नीच की भावना इतनी अधिक थी कि जिससे परस्पर खान-पान व विवाह सम्बन्ध सम्भव न थे। अनुलोम और अन्त-र्जातीय विवाह अपवाद हो गये और लोगों में यह भावना फैलने लगी कि जाति के सदस्य ही भाई भाई हैं। इस प्रकार से सहानुभूति, प्रेम, एकता और बन्धुत्व की भावना उस छोटे जन-समूह तक सीमित रह गई जो समान आचार-विचारों एवं कुल परम्परा के आधार पर एक जाति कही जाती थी। हिन्दुओं में यद्यपि अनेकों कुरीतियां प्रचलित थीं परन्तु उसके बाद भी साधारणतया हिन्दू धर्मपरायण, सच्चरित्र और सात्विक विचारधारा के थे।

राज्य का हिन्दुओं के प्रति दृष्टिकोण —

मध्यकालीन भारत (जिसकी अवधि लगभग आठ शताब्दी मानी जाती है) मे यह मानना कि जीवन का प्रतिमान या ढाचा एक जैसा अथवा एकरूप रहा होगा उचित नही दीखता। कोई समाज इतना गतिहीन अथवा निश्चल नही हो सकता कि इतनी लम्बी अवधि तक बगैर किसी परिवर्तन के जीवित रह सके। इसीलिए नये राजवशो की स्थापना, शासको के विभिन्न और विरोधी दृष्टिकोण के कारण हिन्दुओं के प्रति व्यवहार में अन्तर आजाना स्वाभाविक था। समस्त शासकों मे यदि कोई तत्व समान था तो केवल यही कि वे इस्लाम के अनुयायी थे और इस नाते (इस्लामी विधि वेत्ताओं के अनुसार) उनसे किन्हीं दायित्वों को निभाने की आशा की जाती थी। इनमे दीन-पनाही व जहानदारी प्रमुख थे। प्रथम के अन्तर्गत उनसे यह आशा की जाती थी कि वे इस्लाम की रक्षा, इस्लाम मे वर्जित चीजों का *निषेध, मूर्ति पूजा व बहुदेववाद का खण्डन तथा शरीयत विरोधी लोगो का दमन* करेंगे। जहांदारी के अन्तर्गत कानून और व्यवस्था की स्थापना, न्याय, तथा देश और इस्लाम समर्थको की रक्षा करेंगे। प्रत्येक मुसलमान के लिए व्यक्तिगत रूप में इस्लाम के सिद्धान्तो को मानना जीवन की आवश्यकता थी तथा राज्य के प्रति उसकी निष्ठा इस बात पर आधारित थी कि राज्य किस सीमा तक इस्लामी सिद्धान्तो का पालन करता है। यदि इस्लाम और राज्य के सिद्धान्तो मे किसी प्रकार का मतभेद उत्पन्न हो जावे तो मुसलमान के लिए राज्य के प्रति निष्ठावान रहने की अपेक्षा इस्लाम के प्रति वफादार रहना अधिक औचित्यपूर्ण स्वीकार किया जाता था। इस आधार-भूत सिद्धान्त ने ही मध्ययुग मे सुल्तानो और 'पातशाओं' द्वारा अपनी हिन्दू जनता के प्रति दृष्टिकोण को बनाने मे अधिक सक्रिय भूमिका निभाई। समस्त मध्ययुग में अलाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक, अकबर जैसे विरले ही शासक थे जो इस्लाम की इस मान्यता से ऊपर उठ सके।

प्रकृति से उदार कुतुबुद्दीन ऐबक ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि उदार प्रवृत्ति उसके हितों के लिए घातक सिद्ध होगी और विशेषकर उस समय जब वह एक शत्रु देश में विरोधियो से घिरा हुआ, सल्तनत की स्थापना के कार्य मे सलग्न हो। ऐसी स्थिति मे सैनिको और अपने अनुयायियो की सद्भावना जीतना आवश्यक था। इसीलिए उसने सैनिकों के लिए *विजय-अभियान* आरम्भ किये और अनुयायियो के लिए हिन्दू विरोधी नीति को अपनाया। इसके अन्तर्गत अनेको मन्दिरो को ध्वस किया गया। हसन निजामी ने उसकी प्रशसा करते हुए लिखा है, "कि उसने काफिरो और बुत-परस्तो (मूर्तिपूजको) का हनन किया तथा एक भी मन्दिर अखण्डित न रहा।" हसन निजामी का ये कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है क्योंकि ऐसा करना सम्भव न था परन्तु इससे लेखक और कुतुबुद्दीन का हिन्दुओं के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता

है। ये सम्भव है कि इस प्रकार की नीति समय की माग हो क्योकि मुस्लिम सद्-भावना को जीतने का इससे सुलभ और सरल उपाय दूसरा न था। इससे इतना अवश्य निश्चित है कि हिन्दू केवल जिम्मी के रूप मे ही जीवन व्यतीत करते रहे।

इल्तुतमिश धार्मिक विचारो का व्यक्ति था और जीवन के प्रारम्भ से ही उसका सम्पर्क कुतुबुद्दीन बख्तयार, हमीदुद्दीन नागौरी, शेख जलालुद्दीन आदि से हो गया था। इस कारण वह धार्मिक दृष्टि से कठोर था। उसने भिलसा और उज्जैन मे हिन्दू मन्दिरो को नष्ट कर दिया। एक व्यावहारिक कूटनीतिज्ञ होने के नाते वह यह समझ पाया कि इस्लाम की मान्यताओ को भारत मे पूर्ण रूप से लागू करना सम्भव नही है। निजामुल मुल्क-जुनैदी से हुई बातचीत से यह पूरी तरह स्पष्ट है। जुनैदी हिन्दुओ के लिए इस्लाम अथवा मृत्यु के विकल्प की माग कर रहा था। जुनैदी को उसने कहा था कि "भारत मे मुस्लिम वर्ग केवल एक रकाबी (प्लेट)में नमक के बराबर है और अगर हिन्दू वर्ग सगठित होकर राज्य के विरुद्ध विद्रोह करदे तो इसको दबाना सम्भव न होगा। इस्लाम के समर्थको की सख्या बढ़ने पर ही हिन्दुओ के सम्मुख मृत्यु अथवा इस्लाम को अगीकार करने का विकल्प रखा जा सकता है।"

हिन्दू विद्रोहियो के दमन के बहाने बलबन ने कम्पिल, कटेहर व भोजपुर मे नृशसता का व्यवहार किया। गाव के गाव जला दिए गये और सभी पुरुषो का वध करने के आदेश दिए गये। परन्तु इतनी कठोरता के बाद भी न तो वह हिन्दुओ को अपने धार्मिक रीति-रिवाजो का करने से रोक सका और न ही उनका समूल अन्त ही करने मे समर्थ हुआ। व्यावहारिक कूटनीतिज्ञ होने के नाते वह किसानो की महत्ता को समझता था, जो कि देश के आर्थिक ढाचे का आधार थे, इसलिए उसने उन्हे उसी प्रकार से बने रहने दिया, यद्यपि उसने उनकी बचत का अधिकाश भाग हथिया लिया।

खलजी सुल्तान यद्यपि शरियत को लागू करने के लिए उत्सुक न थे परन्तु फिर भी वे उस ओर पूरी तरह अनभिज्ञ रहना भी नही चाहते थे। जलालुद्दीन खलजी यह बर्दाश्त नही कर सकता था कि हिन्दू वर्ग सफेद कपड़ पहने अथवा पान का शौक करे परन्तु वह इनको रोकने मे भी असहाय था। यदि अमीर खुसरो के विवरण को स्वीकार किया जावे तो जब कभी उसे युद्ध में हिन्दू बन्दी मिल जाते तो वो उन्हें हाथी से कुचलवा देता था परन्तु मुस्लिम-बन्दियो को मुक्त कर देता था।

अलाउद्दीन खलजी सुल्तान के अधिकारो पर धर्म द्वारा किसी प्रकार की लगाई गई सीमाओ को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं था। अलाउद्दीन हिन्दुओ को सम्पन्न स्थिति म देखकर अप्रसन्न था परन्तु इसके बाद भी वह धर्मान्ध न था। उसकी कठोर कर-व्यवस्था और उसके परिणामस्वरूप बहुसख्यक हिन्दू किसानों की निर्धनता को अनुभव कर यह भ्रम होता है कि वह हिन्दुओ पर अत्याचार करने वाला

शासक था। परन्तु उसकी नीति का आधार धार्मिक न था। हमारे पास ऐसे प्रमाणों की कमी है जिनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि उसने केवल हिन्दू और मुस्लिम वर्ग के आधार पर एक को दण्डित अथवा दूसरे को पुरस्कृत किया हो। वह व्यवहारिक शासक था और अपनी प्रजा के बहुसंख्यक वर्ग को अप्रसन्न करने की भूल नहीं कर सकता था परन्तु उसे यह विश्वास हो गया था कि जब तक हिन्दुओं को निर्धन नहीं बनाया जायेगा तब तक विद्रोहों को समाप्त करना सम्भव न होगा। इन्हीं आर्थिक और राजनैतिक कारणों से उसने हिन्दुओं के प्रति कठोर नीति अपनाई।

गियासुद्दीन तुगलक धार्मिक विचारों में कट्टर था और उलेमाओं का यथोचित आदर करता था। उसने अपनी नीति शरियत के सिद्धान्तों के अनुकूल बनाने का भरसक प्रयास किया परन्तु फिर भी वह राजधानी के अतिरिक्त अपनी नीति को लागू करने में समर्थ न हो पाया। स्वयं उलेमा वर्ग ने भी यह अनुभव किया कि हिन्दुओं के प्रति नकारात्मक नीति अपनाने की अपेक्षा इस्लाम के प्रति सकारात्मक नीति अपनाना ज्यादा लाभकर सिद्ध होगी और इसीलिए मस्जिदों और मकतबों की स्थापना पर अधिक बल दिया जाने लगा। इस कारण उसके राज्यकाल में हिन्दू वर्ग शान्तिमय जीवन-यापन कर सका।

मुहम्मद तुगलक एक विद्वान और सुसभ्य व्यक्ति था। विद्वानों और हिन्दू योगियों का समुचित आदर करता था। अलाउद्दीन की भांति वह शासन में किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता था और उलेमा, मशाइख को भी विद्रोह अथवा बेईमानी सिद्ध होने पर साधारण व्यक्तियों की तरह दण्डित करता था। राज्य के कानून से कोई भी मुक्त न था और ऐसी नीति के आधार पर हिन्दू वर्ग सम्मानित जीवन व्यतीत करने में समर्थ हुआ।

फीरोज तुगलक पहला सुल्तान था जिसने शरियत और उलेमा वर्ग को शासन में प्रधानता दी। अन्य मुसलमानों ने धर्म का समर्थन अवश्य किया और अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति असहिष्णुता की नीति अपनाई परन्तु उन्होंने इस्लामी कानूनों को शासन के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया। उसने हिन्दुओं को मुसलमान बनने के लिये प्रोत्साहित किया, हिन्दू मन्दिरों को तोड़ने तथा मेलों को भंग करने की नीति अपनाई। जाजनगर पर आक्रमण करना और ज्वालामुखी के मन्दिर की मूर्तियों को तोड़ना इसी नीति के अन्तर्गत थे। उसने ब्राह्मणों पर जजिया कर लगाया और एक ब्राह्मण को केवल इसलिये मृत्यु दण्ड दिया क्योंकि वह मुसलमानों को हिन्दू बनने के लिए प्रोत्साहित करता था। इन आधारों पर हिन्दुओं की स्थिति का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

सैयद और लोदी वंशों के राज्यकाल में, सिकन्दर लोदी को छोड़ समस्त शासकों ने विभिन्न कारणों से हिन्दुओं के प्रति कठोर असहिष्णुता की नीति नहीं अपनाई।

मुगल वंश के प्रथम दो शासक बाबर और हुमायूँ ने सल्तनतकाल की नीति को ही अपनाया और न तो इस्लाम को प्रोत्साहित करने अथवा हिन्दुओं को असम्मानित करने में कोई सक्रीय कदम उठाया।

अकबर के राज्यारोहण के साथ एक नई नीति का शुभारम्भ हुआ जो लगभग 1563 से 1679 ई० तक लागू रही। 1563 ई० मे हिन्दुओ पर लगाये गये घृणित तीर्थ-यात्रा कर को समाप्त किया। फिर जजिया कर को समाप्त किया और हिन्दुओ को अपने नये मन्दिरो को बनवाने की आज्ञा प्रदान की। हिन्दू और मुसलमानो को केवल योग्यता के आधार पर राजकीय सेवाओ में स्थान दिया। हिन्दुओ मे प्रचलित अनेक कुरीतियो को समाप्त करने का प्रयास किया। अकबर को इस बात का श्रेय है कि उसने एक ऐसी नीति को जन्म दिया जिसके आधार पर बहुसंख्यक-हिन्दू-देश मे सफलता के साथ शासन किया जा सके।

जहांगीर के समय मे मोटे रूप से अकबर की नीति का ही पालन किया जाता रहा परन्तु फिर भी उसमें कुछ विरोधाभास उभर आया। उसने केवल उन लोगो को वृत्तिया देनी प्रारम्भ की जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार किया। मीरपुर और राजोरी के प्रदेश मे मुस्लिम स्त्रियो को हिन्दू धर्म स्वीकार करने से रोका, पुष्कर (अजमेर) स्थित हिन्दुओ के विराह मन्दिर को गिराया और अप्रसन्न हो जैन धर्म वालो को 1617 ई० में राज्य से निष्कासित कर दिया। परन्तु इसके बाद भी उसके राज्यकाल में हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता की नीति राज्य नीति का अंग नहीं बनी।

शाहजहाँ के समय में इस नीति मे परिवर्तन आया जो कि औरंगजेब द्वारा अपनाई गई नीति की प्रस्तावना थी। औरंगजेब की हिन्दू नीति का समुचित अध्ययन करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण तिथियों तथा कुछ सम्मानित राज्याधिकारियों की जानकारी आवश्यक अनुभव होती है। जसवन्तसिंह, जयसिंह तथा रघुनाथसिंह उसके राज्यारोहण के समय के प्रमुख व प्रभावशाली अधिकारी थे। राजा रघुनाथसिंह की 1663 में, जयसिंह की 1667 में और जसवन्तसिंह की 1678 में मृत्यु हो गई। जब तक ये जीवित थे औरंगजेब ने अकबर कालीन दृष्टिकोण को ही अपनाया। इस काल में (1657–1678) उसने केवल दरबार सम्बन्धी इस्लाम विरोधी रिवाजों को बन्द किया जैसे तुलादान, झरोखा-दर्शन, संगीत आदि। परन्तु 1679 से उसने हिन्दू-विरोधी नीति आरम्भ की। इसी वर्ष उसने पुनः हिन्दुओ पर जजिया लगाया, जोधपुर तथा अन्य राज्यों मे हिन्दू मन्दिरो को गिराने की आज्ञा दी, होली तथा दीपावली के त्योहारो को मनाने पर प्रतिबन्ध लगाया और ये आदेश दिये कि भविष्य में हिन्दुओ को राजस्व अथवा सार्वजनिक विभागो के सम्भावित पदो पर नियुक्त न किया जावे। औरंगजेब ने व्यवस्थित रूप में हिन्दुओं को इस्लाम स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित किया। अपराधी द्वारा इस्लाम स्वीकार करने पर उसे क्षमा करने की व्यवस्था की तथा सरकारी पदो के लिए इस्लाम को अंगीकार करना एक सरल नियम के रूप में

अपनाया। हिन्दुओं पर करों का अतिरिक्त भार डाल कर उन्हें इस बात के लिए बाध्य किया कि वे इस्लाम स्वीकार कर इस अतिरिक्त भार से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

भारतीय पृष्ठभूमि में इन आधारों पर औरंगजेब एक कट्टर हिन्दू विरोधी नीति अपनाने वाला शासक उभर कर आता है परन्तु यदि समकालीन शासकों के साथ उसकी तुलना की जावे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह दूसरे शासकों की तरह कठोर न था। हिन्दुओं पर लगाया गया जजिया आयरलैण्ड में रोमन कैथोलिकों से वसूल किये जाने वाले 'टिथी' कर से कम कठोर था। कैवेलियर इंग्लैण्ड की तरह उसने कभी भी हिन्दुओं को अपने घर की एकान्ता में पूजा-पाठ करने पर प्रतिबन्ध न लगाया। औरंगजेब का प्रमुख दोष यही था कि उसने अकबर द्वारा दी गई दिशा को पूर्ण रूप से उलट कर रख दिया।

हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्ध :—सल्तनत और मुगल काल में हिन्दू तथा मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर इतिहासकारों में अत्यधिक मतभेद है। एक वर्ग ऐसे इतिहासकारों का है जो इन युगों को धार्मिक असहिष्णुता का युग नहीं मानता है। हिन्दुओं के साथ यदि शासकों ने किसी प्रकार की कठोर नीति अपनाई तो इसके मूल में धार्मिक दृष्टिकोण न होकर राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्य थे तथा जिस प्रकार से हिन्दू और मुसलमानों ने एक दूसरे के विचारों, रहन सहन आदि को प्रभावित किया उससे यही परिणाम निकलता है कि दोनों वर्गों के बीच सम्बन्ध अच्छे थे। यदि इस विचारधारा का आधुनिक सन्दर्भ में अन्तर्गत अध्ययन किया जावे तो स्वाभाविक रूप से यह रुचिकर प्रतीत होता है क्योंकि आज की माग हिन्दू-मुस्लिम एकता की है। डॉ ए रशीद ने इस आवश्यकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है और निश्चित ही राष्ट्र के निर्माण और उसकी उन्नति के लिए इस प्रकार के मधुर सम्बन्ध आवश्यक भी हैं। परन्तु आज के सन्दर्भ में पुरानी संस्थाओं को देखना और उनको जोड़-तोड़ कर समयानुकूल बनाना अधिक उपयोगी न होगा और विशेष कर उस समय में जबकि धर्म निरपेक्ष राज्य की कल्पना ने जन्म भी नहीं लिया था। इतिहास को झुठलाने से कोई विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव न हो सकेगी। अधिक अच्छा तो ये है कि इतिहास में की गई भूलों को पुन न दोहराया जावे। इसीलिये इतिहासकारों का दूसरा वर्ग, इन युगों को धार्मिक असहिष्णुता का युग मानता है और केवल कुछ ही शासकों के समय को छोड़कर हिन्दू वर्ग प्रत्येक प्रकार से पीड़ित था। ऐसी स्थिति में दोनों के बीच मधुर सम्बन्धों की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। हिन्दू द्वितीय श्रेणी के नागरिकों में गिने जाते थे और अपने ही देश में वे स्वयं को विदेशी समझने लगे थे। राज्य के छोटे छोटे पदों पर वे इसलिये आसीन थे कि मुस्लिम वर्ग उन्हें अपनी स्थिति से निम्न समझता था तथा उनको स्वीकार करने के लिए तत्पर न था। साथ ही इन पदों पर वे कार्य

करने में भी स्वयं को अयोग्य समझते थे। स्वभाव से वे प्रशासनिक पदों की अपेक्षा सैनिक पदों में अधिक रुचि रखते थे, इसलिए हिन्दू वर्ग को (सैनिक) इस क्षेत्र मे कोई सम्मानित पद न मिल सके।

इस प्रकार के सम्बन्धों के मुख्य रूप से तीन कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम मुसलमानो द्वारा भारत विजय की विशेष प्रकृति, द्वितीय पराजित और विजेता के बीच स्वाभाविक कटुता, तृतीय बहु-सख्यक हिन्दू प्रदेश मे शरा के अनुसार शासन करने की प्रवृत्ति। सुल्तानो ने भारत विजय की नीति मे अपने समर्थकों की सख्या को बढ़ाने मे तथा अधिक से अधिक सैनिको को जुटाने मे धर्म का सहारा लिया और इसलिए स्वाभाविक रूप से राजनैतिक उद्देश्यो के साथ धार्मिक उद्देश्य भी जुड़ गये। विजय के पश्चात् यह सम्भव नही था कि दोनो को अलग अलग कर दिया जावे। अगर ऐसा किया जाता तो वे लोग जिन्होने धर्म के नाम पर विजय में सहयोग दिया था वे ही विरोधी हो जाते। इनको अपने साथ रखने के लिए राजनीति को धर्म के साथ जोड़े रखना आवश्यक था। और जब जब ये हुआ तब-तब हिन्दू-मुस्लिम वर्ग के बीच सद्भावना बनाये रखना असम्भव हो गया। इसी प्रकार विजेता तथा पराजित के बीच आपसी कटुता आ जाना एक साधारण सी बात थी और विशेष कर ऐसी स्थिति में जबकि धर्म, आचार विचार, दर्शन और सस्कृति के आधार पर दोनो में पर्याप्त अन्तर हो। इसके साथ ही बहु-सख्यक हिन्दुओ पर शरा के नियमो को लागू करना किसी प्रकार से भी उचित नही था और ऐसी स्थिति मे जब शासन न्याय का आधार केवल शरा ही मानता हो तब हिन्दुओ के लिए समानता अथवा सम्मानित जीवन यापन करने का प्रश्न ही नही उठता। सल्तनतकाल मे अलाउद्दीन व मुहम्मद तुगलक तथा मुगलकाल में अकबर और जहांगीर को छोड़कर सभी सुल्तानो तथा पादशाहो ने उलेमा वर्ग के हस्तक्षेप को शासन में स्वीकार किया। इन परिस्थितियो में सुल्तान अथवा मुगल शासको द्वारा हिन्दुओ के प्रति सद्व्यवहार की आशा करना व्यर्थ था। जब शासको का यह दृष्टिकोण था तो स्वाभाविक रूप से शासित वर्ग से सम्बन्धित मुस्लिम वर्ग का इसी प्रकार का व्यवहार बन जाना सहज था। ऐसी स्थिति मे विशेष-अधिकार-प्राप्त मुसलमानो और अधिकार-हीन-हिन्दुओ के बीच आपसी वैमनस्य के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इसके मूल मे मुख्यत दो प्रवृतियां सक्रीय थीं। एक तो शासक और विशेषाधिकार प्राप्त मुस्लिम वर्ग की धार्मिक असहिष्णुता और दूसरे धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में हिन्दू तथा मुस्लिम वर्ग का दृष्टिकोण। हिन्दू वर्ग धार्मिक दृष्टि से उदार परन्तु सामाजिक दृष्टि से अनुदार था जबकि मुस्लिम वर्ग सामाजिक दृष्टि से उदार परन्तु धार्मिक दृष्टि से अनुदार था। ऐसी विरोधी प्रवृत्तियां होते हुए दोनो वर्गों में

मधुरता के सम्बन्ध रहना सम्भव भी नहीं थे। सौभाग्य से ये कटुता अधिकतर सम्पन्न और उच्च वर्ग तक ही सीमित थी क्योंकि जन साधारण चाहे वह किसी वर्ग से संबंधित हो साधारणतया शान्तिमय जीवन बिताना ही पसन्द करता है। इसी कारण जन-साधारण पर एक दूसरे का प्रभाव दिखाई देता है। वे खान पान, रहन सहन, रीति रिवाजों में एक दूसरे से प्रभावित हुये बगैर नहीं रहे। समस्त मध्ययुग इसी बात का प्रमाण है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि साधारणतया दोनों के बीच कटुता के सम्बन्ध थे जिसका एकमात्र उत्तरदायित्व शासकों तथा उलेमाओं पर था, परन्तु सन्तों, दार्शनिकों और विद्वानों ने हिन्दू मुसलमानों को एक दूसरे के साथ मिलकर रहने की आवश्यकता पर बल दिया और विद्यमान परिस्थितियों ने उन्हें यह स्पष्ट कर [illegible] अतिरिक्त उनके सामने कोई दूसरा रास्ता ही नहीं है।

15

मध्यकालीन अमीर वर्ग, मध्यम वर्ग व साधारण वर्ग की दशा

मध्यकालीन इतिहास मे विभिन्न-सामाजिक-वर्गों का सगठन जटिल न था। सुल्तान अथवा 'पातशाह' जो कि साधारण रूप मे जन-समुदाय का नेता था और शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी समझा जाता था समाज का अगुआ माना जाता था जिसके अधीन अमीर व विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग थे जिनका अधीनस्थ-मैत्री (सबारडीनेट एलायन्स) के रूप में ही शासक से सम्बन्ध था। इस वर्ग के नीचे हिन्दुओं और मुसलमानो का जन-समुदाय था। साधारण परिस्थितियो मे इस वर्ग की दयनीय स्थिति ही इनको विशिष्ट वर्गों से अलग-थलग रखने के लिये पर्याप्त थी।

भारत मे तुर्की राज्य की स्थापना के शैशव काल में हम इन्हे दो वर्गों में बांट सकते है। अहल-ए-कलम अर्थात् बुद्धिजीवी तथा अहल-ए-तेग अर्थात् सैनिक अथवा तलवार के धनी। आरम्भ में इन सब ने ही तुर्की साम्राज्य की स्थापना मे योगदान दिया और उसी योगदान के अनुपात मे इनको शासन द्वारा पुरस्कृत किया जाता रहा। परन्तु जैसे जैसे साम्राज्य गठित व व्यवस्थित होने लगा वैसे ही वैसे शासन को विभिन्न विशेषज्ञों की आवश्यकता अनुभव होने लगी और इसी कारण विभिन्न वर्गों का पुन वर्गीकरण होने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। हुमायू द्वारा दिये गये विभाजन के आधार पर हम इन्हें तीन श्रेणियो में बांट सकते हैं। अहल-ए-दौलत जिसके अन्तर्गत शासक वर्ग, राज्य-परिवार, अमीर व सैनिक वर्ग के सदस्य, अहल-ए-सादत जिसमें उलेमा, काजी, सैयद, विद्वान तथा अहल-ए मुराद जिसमें सगीतज्ञ, भाट व चारण तथा सुन्दर स्त्रिया आती थी। इसका यदि गहनता से और विवेचन किया जावे तो हमें अनेकों छोटे-छोटे वर्ग मिलते हैं जो मुस्लिम समाज के आधुनिक वर्गों के समरूप थे। इनम स्थिति के अनुसार सर्वप्रथम सुल्तान, राज्य-परिवार के सदस्य, खान तथा सम्मानित अमीर, सैयद, उलेमा, कुलीन, इक्तादार तथा मनसबदार,

उसकी कब्र पर बहुमूल्य मकबरा बनाया जाता था, खैरात अथवा दान-गृह खोले जाते थे, मृत-सुल्तान की आत्मा की शान्ति के लिये कुरान का पाठ करने वाले अनेकों व्यक्तियों को लगाया जाता था तथा गरीबों और फकीरों के लिये अनेक दिनों तक लंगर खोल दिये जाते थे। स्वाभाविक रूप से इनका भार राज्यकोष पर पड़ता था और इनकी पूर्ति के लिये यदि राज्य के बोझिल कर, अबवाब और एक शब्द में यदि राज्य के समस्त साधन पूर्ति न कर सकें तो शासक न केवल दूसरों की सम्पत्ति को जब्त करने का अधिकारी था अपितु उस पर कोई ऐसा नैतिक अंकुश न था जिससे वो निकटवर्ती प्रदेशों को बीजित कर उन्हें अपने साधन के रूप में प्रयोग न कर सके। ऐसी स्थिति में अनुमान लगाया जा सकता है कि वह वर्ग जो इन बोझिल करों से दबा था तथा जिस पर शासक की मर्जी के अनुसार समय-असमय किसी भी प्रकार के करों को और लादा जा सकता था उसकी स्थिति केवल दयनीय के अतिरिक्त कोई दूसरी न रही होगी।

अमीर तथा नौकरशाही-शासक की नकल करने में किसी प्रकार से पीछे न थे। साधारण रूप से वे अपने अपने क्षेत्रों में शासक के ही प्रतिरूप थे। शासक की तरह उन्होंने कभी भी अपने खर्चों में कटौती करने अथवा परिवारिक-बजट बनाने की ओर सोचा ही नहीं था। सम्भवतः इसका कारण था कि उनकी समस्त सम्पत्ति, सम्मान आदि व्यक्तिगत थे और मृत्यु के पश्चात् राज्य द्वारा जब्त करने के डर से वे इनका अपने जीवन में उपभोग करने पर उतारू थे। सिकन्दर लोदी के एक फरमान से स्पष्ट है कि जैनुद्दीन को मसनद ए-आली न सम्बन्धी के रूप में नहीं अपितु व्यक्तिगत रूप में ही जागीर प्रदान की गई थी। इसी प्रकार से शासक इक्ता तथा वक्फ की सनदें देते समय भी उनको पुनः अपनी मर्जी के अनुसार जब्त करने का अधिकार रखता था। इसलिये वो अन्धाधुन्ध खर्च करते थे और शासक की ही तरह अपने यहाँ अपने कर्मचारियों का एक बड़ा परिजन (रेटेन्यू) रखने के आदी थे जिनमें न केवल गायक और कवि ही थे अपितु अगणित व्यक्तिगत सेवक भी थे। इन परिजनों को वो अपनी शान-शौकत के अनुसार सुन्दर घोड़े, खिलअत तथा भेंट देते थे। शहजादे की ही तरह वे अपने राजकुमारों के विवाह पर मनमाने ढंग से धन खर्च करते थे। बलबन के एक अमीर किशलूखां ने 10,000 टंक अपने सेवकों में बांटे। मुहम्मद तुगलक का एक अमीर अपने परिजनों पर लगभग साढ़े तेरह लाख टंक प्रति वर्ष खर्च करता था। इसी प्रकार से जलालुद्दीन के एक अमीर ने कमी अथवा अभाव के दिनों में अपने पुत्र के विवाह पर लगभग 2 लाख टंक खर्च किये थे। इसके अतिरिक्त उसने 100 घोड़े और लगभग 1 हजार खिलअत भी इस अवसर पर बांटी थीं। बलबन का एक अमीर मलिक अली, घोड़ा भेंट करते समय सदैव ही एक थादी के सिक्कों से भरा थैला देता था और फकीरों आदि को दान देते समय

कभी भी इसने एक सोने अथवा चादी के सिक्के से कम दान नही दिया। केवल यही नही कि अमीर जीते जी ही इतनी फिजूल खर्ची करते थे अपितु मृत्यु के बाद भी खर्चे मे किसी प्रकार की कमी नही की जाती थी। बलबन का एक अमीर फखरुद्दीन कोतवाल अपने यहा 12,000 कुरान पढने वालो को रखता था। ऐसा कहा जाता है कि वह कभी भी एक ही बिस्तर पर दूसरी बार नही सोता था और न ही एक बार के पहने हुए कपडे दूसरी बार ही पहनता था।

मुगलकाल मे भी अमीरो और नौकरशाही के खर्चे म किसी प्रकार की कटोती नही हुई थी। इसका पहला कारण था कि अमीर अपने शासक के ऐश्वर्य और समृद्धि से बहुत प्रभावित थे और उसी की तरह अपना जीवन मौज और आनन्द से बिताना चाहते थे। दूसरे उनको ये भय था कि उनकी मृत्यु के बाद उनकी सम्पति पर राज्य का अधिकार हो जावेगा इसलिए वो अपना धन ऐश और मनोरजन मे दोनो हाथो से लुटाते थे। सल्तनत काल की तरह ही अमीर पत्नियो, नौकरो, ऊँटो एव घोडो के बडे प्रतिष्ठान रखते थे। पत्नियो के लिय महल की चहारदीवारी के अन्दर ही सब ऐश्वर्य की चीजें जुटा दी जाती थी और चहारदीवारी ही उनके सम्पूर्ण जीवन की सीमा थी जिसको उलांघना एक जघन्य अपराध था। दासियों और हिजडो से लेकर तालाब और उद्यान इसी के अन्दर थे। एक अमीर के हरम के भीतरी जीवन का मनूची ने (जो असद खां की पत्नी नवल बाई का विश्वास पात्र होने का दावा करता है) इस प्रकार विवरण दिया है—"स्त्रिया विविध प्रकार के भोजन द्वारा अपना मनोरजन करना पसन्द करती हैं, स्वय को शान से सजाने के लिये कपडे तथा आभूषण, मोती आदि पहनती हैं तथा अपने शरीर को सुगन्धित करने के लिये नाना प्रकार की सुगन्धित वस्तुओ एव इत्रो का प्रयोग करती हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें नृत्य एव प्रहसन द्वारा अपना मनोरजन करने, प्रेम-कथाएँ और कहानियां सुनने, फूलो की शय्या पर विश्राम करने, बहते हुए पानी की मधुर ध्वनी सुनने, सगीत सुनने तथा अन्य इसी प्रकार के आमोद-प्रमोद की पूर्ण अनुमति है।"[1]

प्रत्येक अमीर आमतौर से नाच और गाने का शौकीन था। सायकाल से लेकर आधी रात तक हरएक अमीर के घर से घूघरू और सगीत की आवाज आती थी। नृत्य और सगीत के जलसे उनकी शान-शौकत के अभिन्न अग थे जहा शराब का दौर एक बहुत ही साधारण बात थी। मनूची[2] ने लिखा है कि "सन्ध्या की ठण्डक मे स्त्रियां अत्यधिक मदिरा-पान करती हैं, स्त्रियां अपने पतियो से शीघ्र ही ये

---

1. अतहर, एम—औरगजेब कालीन मुगल अमीर वर्ग पृ 233–34 (अनुवादक डॉ राधेश्याम)
2. मनूची, भाग 2, पृ. 352–53

आदत सीख लेनी है।" सन्ध्या समय अमीर स्वय हरम मे अर्ध-रात्रि तक पीने तथा सगीत एव नृत्य का आनन्द उठाने के लिए आ जाता था।[1]

अमीर मनमाने ढग से अपना धन खर्च करने मे आदी थे। स्त्रियो के अतिरिक्त अमीर, के यहा पालतू जानवरो की सख्या का अनुमान लगाना ही स्वय मे एक आश्चर्य है। उदाहरणार्थ दाऊद खा लगभग 2,50,000 रुपये प्रतिवर्ष अपने जानवरो पर खर्च करता था।[2] मुर्गे और बटेरो की लडाई और पतगबाजी मे भी साधारण अमीर द्वारा लगभग 1 से डेढ़ लाख रुपये खर्च किये जाते थे। नौकरो और दासो की कोई गिनती ही नही थी और जब कभी अमीर घर के बाहर निकलता तो सैकडो और कभी कभी हजारो की सख्या मे नौकर खस्सा एव पीकदान, मोर-पखा और अमीर की प्यास बुझाने के लिए पानी के बर्तनो को लेकर चलते थे जो केवल इसलिए जाते थे जिससे कि अमीर की शानो-शौकत को बनाये रक्खा जा सके।[3] सभ्य समाज का कोई ऐसा दुर्गुण न था जिससे अमीर वर्ग किसी प्रकार से अछूता रह गया हो और अमीरो मे परस्पर इन्ही दुर्गुणो को अपनाने की होड लगी रहती थी।

अमीरो की इस फिजूलखर्ची को ठीक से समझने के लिए ज्यादा जरूरी है कि उनकी आय अथवा पारिश्रमिक का अन्दाजा लगाया जावे। क्योकि इनकी आय इनके पद के अनुसार न होकर व्यक्तिगत थी इसलिए इस सम्बन्ध मे कोई एक रूप (यूनिफार्म) कसौटी लागू करना उचित न होगा, परन्तु इसके बाद भी हमे समस्त मध्यकाल मे इनकी आय के अनेको प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए सुल्तान जलालुद्दीन ने अपने एक पुराने मित्र को वकील-ए-दर के पद पर नियुक्त किया था और उसके लिए 1,00,000 जीतल आय की भूमि, निश्चित की थी। मुहम्मद तुगलक के समय मे नायब तथा वजीर को ईराक के समान एक बडे प्रदेश की आय दी गई थी तथा उसके चारो मत्रियो को प्रति वर्ष 20,000 से 40,000 टक दिये जाते थे।[4] फीरोज तुगलक के समय मे वजीर, खान-ए-जहान, को साढे 10 लाख टक, भूमि आवटन के रूप मे मिलते थे। इसके अतिरिक्त उसे व्यक्तिगत भत्ता अलग से दिया जाता था। उसके पुत्रो तथा हरम की स्त्रियो आदि के लिए भी निश्चित वेतन बधे हुए थे, और क्योकि इनकी सख्या प्रचुर थी इस आधार पर राज्यकोष पर पडने वाले भार का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति भी अतुल थी। फीरोज तुगलक के एक अमीर मलिक शाही को हीरे जवाहरात के अतिरिक्त वसीयत के रूप म 50,000 टक मिले थे। उसी के एक दूसर अमीर बशीर के पास 16 करोड टक की सम्पत्ति थी। अफगान अमीर मिया मुहम्मद के पास लगभग 300 मन सोना था। मध्यकाल मे सेवा मुक्त अधिकारियो के लिए यह नियम प्रचलित था कि सेवा मुक्ति के बाद उनको इतना धन अवश्य मिलता रहे जिससे कि वे सम्मानित जीवन व्यतीत कर सकें। राज्य क अन्य अधिकारियो मे मुकद्दम, सैनिक अधिकारियों के वतनमान की जानकारी सम्भव नही हो पाई है परन्तु इसके बाद भी यह निश्चित है कि इनको पेन्शन दी जाती थी। बलबन जैसे कठोर शासक ने भी जब वृद्ध सैनिक अधिकारियो को सेवा मुक्त किया तो उनके लिए 40 स 50 टक प्रतिमाह की पेंशन की व्यवस्था की थी।[1] सुल्तान अलाउद्दीन खलजी न एक सैनिक (यक अस्पा, जिसके पास एक घोडा होता था),का प्रति वर्ष 234 टक वेतन निश्चित किया, दो अस्पा (वह सैनिक जिसक पास एक अतिरिक्त घोडा होता था) को 78 टक अतिरिक्त दिया जाता था। मुकद्दम जो एक अध सरकारी नौकर था उसको खेती सम्बन्धी कुछ छूट के अतिरिक्त, इकट्ठे किए हुए सरकारी लगान म स कुछ प्रतिशत दिया जाता था। परन्तु इसके बाद भी मुकद्दमो ने अपनी अनैतिक कार्यवाहियो से अधिक से अधिक धन जुटा लिया था। वे किसानो से अधिक स अधिक धन वसूल करते थे और उसम से राज्य को कम से कम हिस्सा देकर ज्यादा से ज्यादा अपने पास रख लेते थे। बरनी ने लिखा है कि वे अच्छे घोडों पर सवार होते थे, अच्छे वस्त्र पहनते थे, ईरानी धनुषो का प्रयोग करते थे, आपस म युद्ध करते व शिकार खेलते थे और शराब तथा ठाठ की दावतें करते थे।[2] अलाउद्दीन ने उनसे लगान वसूल करने का अधिकार छीन लिया और उनके विशेषाधिकार समाप्त कर दिये। उसने आदेश दिया कि मुकद्दम भविष्य म खेती के लिए चार बैल, दो भैंस, दो दुधारी गायें व बारह बकरियो से अधिक नही रक्खें।

राज्य मे दासो अथवा गुलामो की स्थिति को जानना भी अधिक उपयोगी होगा क्योंकि अधिकतर सरकारी अधिकारियो द्वारा इनका खुले रूप से उपयोग किया जाता था। समस्त मध्यकाल मे गुलामों की सख्या किसी अमीर अथवा अधिकारी की स्थिति की द्योतक थी और इसलिए राज्य के अधिकारियो का समस्त वर्ग ही इनको अधिक सख्या में नियुक्त करने की प्रतिस्पर्धा मे लगा रहता था। सुल्तान बलबन के मस्टर-मास्टर ने 50 से 60 दास केवल पान की सेवा के लिए रख छोड़े थे। इसी

1 अशरफ, के एम —वही, पृ 155–56,
2. अशरफ, के एम —वही, पृ 156.

प्रकार से फीरोज तुगलक के समय दासो कि कोई कमी ही नही थी और क्योंकि सुल्तान स्वय दासो के रखने को प्रोत्साहित करता था इसलिए बगैर किसी कारण नौकरशाही अपने दासो की सख्या में अनियमित वृद्धि कर लेते थे।

साधारण वर्ग के लोगो के लिए दासो को किसी प्रकार का वेतन देना आवश्यक नही था। स्वामी केवल दासो कि आवश्यकताओ की पूर्ति-मात्र ही कर देता था। केवल सुल्तान ही उनको मान्यता देकर उनका वेतन निश्चित करता था। मुहम्मद तुगलक के समय एक दास को प्रति वर्ष 4 कपडो के जोडे और 120 टक के अतिरिक्त प्रति दिन तीन सेर गोश्त तथा दूसरी आवश्यक वस्तुओ व 2 मन गेहूँ अथवा चावल प्रति माह के हिसाब से दिया जाता था। फीरोज तुगलक जो कि अपने दासो के प्रति अधिक कृपालु था 10 स 100 टक प्रति माह दिया करता था।

राज्य, व्यापारियो और कुशल वृत्ति वाले लोगो के प्रति सजग था तथा उनकी सम्पत्ति और व्यापारिक अधिकारो को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील था। वह उनके स्वामित्व के अधिकारो को ईमानदारी से सुरक्षित रखता था तथा उनको अपने पेशे अथवा व्यवसाय को बढाने के लिए हर सम्भव सुविधा देता था। फीरोज तुगलक अपने गुप्तचरो को जो ढूँढ के कारण व्यापारियो की बढती हुई सम्पत्ति के बारे मे उसे गलत सूचनायें देते थे जिससे कि राज्य उनकी सम्पत्ति का हडप कर सके बहुत फटकारता था। इस आधार पर व्यापारी-वर्ग की स्थिति सल्तनतकाल मे सतोषजनक थी तथा वे सम्पन्न थे।[1] मुगल काल मे भी जब तक राज्य स्वय व्यापार करने मे रुचि म लेने लगा तब तक व्यापार सुनिश्चित आधार पर चला। बाबर और हुमायूँ को इतना समय ही नही मिल पाया कि वे व्यापार को अपने हाथों मे लेने का प्रयास करते। अकबर के आरम्भिक वर्षो को छोड कर जैसे-जैसे व्यापार को स्वय मुगल सम्राट हस्तगत करने की कोशिश करते रहे वैसे-वैसे व्यापारियो की सम्पन्नता समाप्त होने लगी। औरगजेब के समय म राज्य की अस्थिर नीति, लगातार युद्ध, व्यापारियो के सर्वनाश का कारण बन गई।

कुशल वृत्ति वाले वर्ग मे चिकित्सक अथवा वैद्य का व्यवसाय काफी अच्छी तरह स्थापित था और शहरो तथा कस्बा मे इनकी अधिक मान्यता थी। यदि कभी कोई चिकित्सक नई खोज करता अथवा पुरानी पद्धति मे सुधार करने का प्रयत्न करता तो राज्य उसको न केवल प्रोत्साहन देता था अपितु उचित रूप [redacted] उसे सम्मानित भी करता था।

१ — सल्तनत काल मे जानकारी के अभाव मे कुशल कारीगरो के वेतन-मान नही मिल पाये हैं। मुगल काल म भी केवल आईन-ए-अकबरी से अकुशल कारीगरो और

1. अशरफ, के एम—वही, पृ 157.

साधारण मजदूरों में से कुछ के वेतन मिल पाये हैं परन्तु कठिनाई यह है कि आईन[1] के लेखक ने भी अपनी जानकारी के स्रोतों का विवरण नहीं दिया है। परन्तु इसके बाद भी गिलकार (चूने का काम करने वाला) को उसकी योग्यता के आधार पर 7 से 5 दाम, सग-तराश (पत्थर का काम करने वाले) को 6 से 5 दाम बेलदार को साढे तीन से तीन दाम, जाली का काम करने वाले को 24 से 18 दाम प्रति वर्ग गज, सुतार को 7 से 2 दाम, कुआ खोदने वालों को 2 से सवा दाम प्रति दिन के हिसाब से दिये जाते थे। मोरलैण्ड ने इस आधार पर यह परिणाम निकाला है कि साधारण वर्ग के मजदूर को 2 दाम, कुशल मजदूर को 3 से 4 दाम, सुतार आदि को 3 से 7 दाम तक दिये जाते थे।[2]

इन वेतन मानो के अध्ययन के बाद यह भी आवश्यक है कि हम उस समय प्रचलित मूल्यों का अध्ययन भी करें क्योंकि वेतन का मान उसकी क्रय-शक्ति पर ...र्भर है। समस्त मध्ययुग में हम उस समय में प्रचलित मूल्य की तालिकायें मिलती हैं।

इब्राहीम लोदी का समय अपवादस्वरूप बहुत ही सस्ता था। उस काल में एक बहलोली रुपये में 10 मन अनाज अथवा 5 सेर तेल अथवा दस गज मोटा कपड़ा खरीदा जा सकता था। 5 टक में एक साधारण परिवार का एक महीने का आसानी से भरण पोषण हो सकता था। आगरा से देहली तक की यात्रा (एक नौकर या घोड़े के साथ) केवल 1 बहलोली रुपये में तय कर ली जाती थी। अकाल के समय वस्तुओं के भाव निश्चित ही बढ़ जाते थे। जलालुद्दीन खलजी के समय में अकाल के कारण एक सेर अनाज की कीमत बढ़ कर 1 जीतल हो गई और मुहम्मद तुगलक के समय 16 अथवा 17 जीतल में ही एक सेर अनाज मिलना सम्भव हो सका।[3]

इन दो विरोधी स्थितियों में वस्तुओं के मूल्य बिलकुल भिन्न थे परन्तु साधारणतया अलाउद्दीन खलजी के समय में प्रचलित मूल्य इस समस्त काल(सल्तनत) का प्रतिनिधित्व करते हैं। उस समय गेहूँ 7½ जीतल प्रति मन, घी 16 से 26·3 जीतल प्रति मन तथा नमक 2 जीतल प्रति मन मिलता था। जानवरों में गाय 3 से 4 टक व ऊँट 12 से 24 टक में मिल जाता था। बढ़िया किस्म की मलमल 2 टक प्रति गज व अलीगढ़, दिल्ली आदि की घटिया मलमल का थान 6 टक से

1. आईन-ए-अकबरी (अनुवादक ब्लाकमैन) पृ. 325.
2. मोरलैण्ड, डब्लू. एच—इण्डिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर, पृ. 191.
3. अशरफ, के. एम—वही, पृ. 159.

लेकर 17 टक के बीच मिल जाता था। घर काम के लिए औरत 5 से 12 टक में प्राप्त थी। यद्यपि एक चतुर दास के मूल्य को निश्चित करना सम्भव नहीं था पर तु एक दुष्प्राय, निपुण दास 120 टक मे मिल जाता था। सल्तनत काल में अनेको ऐसे उदाहरण मिलते हैं जबकि दासो को 900 से लेकर 20,000 टक मे भी खरीदा गया था।

मुगल काल मे अकबर के समय मे प्रचलित वस्तुओ के मूल्य सस्ते थे और आईन-ए-अकबरी में दिए गय विवरण के अनुसार दो दाम म 9½ पौंड गेहूँ अथवा 1⅘ पौंड घी अथवा 12½ पौंड तेल (तिल का) खरीदा जा सकता था। जहांगीर और शाहजहा के समय म एक ओर तो वस्तुओ के मूल्य बढ गये थे और दूसरी ओर रुपय का मूल्य कम हो गया था। अकबर के समय मे जहां 1 रुपया 40 दाम के बराबर था वही जहांगीर के समय तक आकर केवल 30 दाम का रह गया था। स्वाभाविक रूप से साधारण वर्ग के लोगों का जीवन-यापन पहने की अपेक्षा अधिक कठिन हो गया था।

मोरलैण्ड ने आईन ए अकबरी म 1920 मे प्रचलित मजदूरी का तुलनात्मक अध्ययन किया है जिसके अनुसार 1 दाम 2 आने व 9 पाई के बराबर था।[1] इस आधार पर एक अकुशल कारीगर को 5½ आने कुशल को 4 से 11 आने तथा एक सुतार को 8½ आने प्रति दिन मिलते थे। इस मजदूरी के आधार पर यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि साधारण वग अथवा निम्न वग की दशा इस समय कैसी रही होगी।

साधारण वर्ग की दशा अथवा जीवन-स्तर का अनुमान हम आसानी से इन आधारो पर कर सकते हैं। बाबर न भी अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि 'यहां के निम्न श्रेणी के लोग नगे घूमा फिरा करते हैं। ये इज्जत ढकने के लिए चीथडा बांध लेते हैं, यह टूडी से दो बिलास्त नीचे लटका रहता है, और एक छोर टाग के बीच में से निकाल कर पीछे इसी कपडे म बाध दिया जाता है। इस चीज को ये लोग लगोटा कहते हैं। औरतें भी इसी तरह लॉग लगाती हैं। उनका आधा वस्त्र तो कमर और छाती तक रह जाता है और आधा सर को ढक लेता है।' भारत के साधारण वग की दशा को यह स्पष्ट रूप से इंगित करती है। यद्यपि हुमायू ने किसानो की दशा सुधारने की दिशा मे प्रयत्न किया परन्तु निम्न वग की स्थिति उसी प्रकार की बनी रही। अकबर के समय मे भी निम्न अथवा साधारण वग कगाल जैसी स्थिति मे ही रहता था और अकाल के समय उनकी दशा अत्यन्त दयनीय थी। यहां तक कि अकाल के समय अपना पेट भरने के लिए उनके पास अपने बच्चो को दास रूप में

1 मोरलैण्ड, डब्लू एच —वही

बेचने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा न था। समस्त ही विदेशी यात्री इस तथ्य की पुष्टि करते है। किसानो की दयनीय स्थिति के बारे मे बर्नियर का विचार है कि व राज्य के अधिकारियो द्वारा इतने पीडित थे कि उनके लिए दोनो समय सूखी रोटी जुटाना भी अत्यन्त कठिन था। मजबूर होकर वे एक समय ही खाकर गुजर करते थे। मोरलैण्ड ने उस समय की स्थिति के सम्बन्ध में बहुत ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। उसने लिखा है कि "जुलाहे स्वयं नगे रह कर दूसरो के लिए कपडे बुनते थे, किसान स्वयं भूखा रहकर शहर और कस्बो में रहने वाले लोगो के लिए अन्न पैदा करता था। अकाल की स्थिति मे वे अपने हाड-मास व बच्चो को बेचकर जीते थे।"[1] इन परिस्थितियो मे सामान्य वर्ग की दशा का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। शहरो और कस्बो मे रहने वाला अमीर अथवा मध्यम वर्ग यदि आराम और सुख, सुविधा से जीवन बिताता हो तो इससे देश के बहुजन के बारे में किसी प्रकार से सही स्थिति की जानकारी नहीं की जा सकती। इस आधार पर हम यह कह सकते है कि समस्त मध्यकाल म अमीर व मध्यम वर्ग को छोड़कर सबकी स्थिति दयनीय थी।

1. मोरलैण्ड, डब्लू. एच —फ्राम अकबर टू औरंगजेब, पृ. 204–05.

संदर्भ ग्रन्थ

अतहर अली, एम.	द मुगल नोबिलिटी अण्डर औरंगजेब
अन्सारी, एम ए	सोशल लाइफ ऑफ द मुगल एम्परर्स
अफीफ	तारीख-ए फीरोजशाही
अब्दुल, अजीज	द मनसबदारी सिस्टम एन्ड द मुगल आर्मी
अबुल फजल	अकबरनामा (अंग्रेजी अनुवाद एच बेवरिज)
	आईन-ए अकबरी (अंग्रेजी अनुवाद भाग-1 ब्लाखमैन भाग 2 व 3 एच.एस जैरट तथा जदुनाथ सरकार)
अहमद, अजीज	पोलिटिकल हिस्ट्री एण्ड इन्स्टीट्यूसन्स ऑफ द अर्ली टर्की अम्पायर
अर्सकीन विलियम	हिस्ट्री ऑफ इण्डिया अण्डर द फर्स्ट टू सावरेन्स ऑफ हाउस ऑफ तैमूर
अहमद, एम बी	द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस इन मेडिवल इण्डिया
अशरफ, के एम	लाइफ एन्ड कन्डीशन ऑफ द पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान
इब्नबतूता	किताब उल रहला (अंग्रेजी अनुवाद मेंहदी हुसेन)
इब्नहसन	द सेन्ट्रल स्ट्रक्चर ऑफ द मुगल अम्पायर
इरविन, डब्ल्यु	द आर्मी ऑफ द इन्डियन मुगल्स
	लेटर मुगल्स भाग 1 तथा 2
इलियट एण्ड डाउसन	हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स भाग 1–6
ओझा, पी एन	सम आसपेक्टस ऑफ नार्थ इण्डियन सोसल लाइफ
कानूनगो, के आर.	शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स
कुरैशी, आई एच	द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द सल्तनत ऑफ देहली
	द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द मुगल अम्पायर
खोसला, आर पी	मुगल किंगशिप एण्ड नोबिलिटी
घोषाल, यू एन	ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज
जहांगीर	तुजुक ए-जहांगीरी (अंग्रेजी अनुवाद रोजर्स एवं बेवरिज)
जौहरी, आर सी	फीरोज तुगलक